प्रसाद का कथासाहित्य



मार्कण्डेय सिंह



आनन्द पुस्तक भवन, वाराणसी

प्रकाशक—

आनन्द-पुस्तक-भवन

पहड़िया, वाराणसी-२

कार्यालय—औसानगंज, वाराणसी-१

प्रथम संस्करण

१९५९

चार रुपया

मुद्रक

आवरणशिल्पी

श्याम कुमार

काशीनाथ गुप्त

श्रीसीताराम प्रेस, वाराणसी

परम पूज्य

'बाबू'

श्री ठाकुर फतेहबहादुर सिंह

और

'काका'

श्री ठाकुर दानबहादुर सिंह

को

प्रणतिपूर्वक



परिचय

आयुष्मान् श्री मार्कण्डेय सिंह जी की इस प्रथम साहित्यिक कृति को प्रकाशित होते देख मुझे बड़ा सन्तोष हो रहा है। इस पुस्तक में प्रसाद के कथा-साहित्य की सुन्दर विवेचना प्रस्तुत की गई है। प्रसाद जी आधुनिक काल के बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकार थे। उन्होंने काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानियाँ तथा निबन्ध लिखे हैं। उनके नाटकों की भूमिका ऐतिहासिक अनुसन्धान की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। ऐसे कृती साहित्यकार के विभिन्न साहित्यिक प्रयत्नों का मूल्यांकन कठिन कार्य है। बहुत बार उनके इस या उस रूप को अधिक महत्व दे दिया जाता है, परन्तु उनके समूचे साहित्यिक व्यक्तित्व को भुलाकर किसी एक पक्ष को अधिक महत्व देना ठीक नहीं होता। साहित्यिक आलोचना विश्लेषण से आरम्भ होती है परन्तु लक्ष्य संश्लिष्ट प्रभाव को समझाना ही होता है। इसलिये यह आवश्यक है कि साहित्यकार के विभिन्न रूपों की पूरी छानबीन की जाय। इस दृष्टि से प्रसाद जी के विभिन्न साहित्य-रूपों का भी खूब बारीकी से अध्ययन आवश्यक है। श्री मार्कण्डेय सिंह जी ने इस पुस्तक में यही

कार्य किया है। हिन्दी के आधुनिक कथा-साहित्य के परिपार्श्व में रखकर उनके कथा-साहित्य के प्रयत्नों और उपलब्धियों का मूल्यांकन करते हुए उन्होंने उसकी विशिष्ट देन को समझने का प्रयत्न किया है। प्रसाद जी के सम्पूर्ण साहित्यिक व्यक्तित्व को बराबर ध्यान में रखकर इस विवेचन को ग्राह्य बनाने का उनका प्रयत्न सराहनीय है। मुझे प्रसन्नता है कि वे इस कठिन कार्य को योग्यतापूर्वक निबाहने में समर्थ हुए हैं। इस प्रथम कृति में ही श्री मार्कण्डेय सिंह की विश्लेषण-पटुता और विवेचनशक्ति के अंकुर स्पष्ट हुए हैं। मेरा विश्वास है कि प्रसाद-साहित्य के प्रेमी इस पुस्तक का स्वागत करेंगे।

मेरी हार्दिक शुभकामना है कि श्री मार्कण्डेय सिंह स्वस्थ और दीर्घजीवी हों और साहित्यिक विवेचना के क्षेत्र को अधिकाधिक मूल्यवान ग्रन्थों से समृद्ध करते रहें।

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

८ जुलाई सन् १९५९ ई०

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

दो शब्द

किसी भी लेखक का उचित मूल्यांकन उसकी अनेकरूप रचनाओं को समग्रतः देखे बिना सम्भव नहीं। लेखक के किसी एक सृजनात्मक पहलू का एकांगी विवेचन उसके पूरे व्यक्तित्व के प्रति न्याय नहीं कर पाता। श्री जयशंकर प्रसाद आधुनिक साहित्य के एक ऐसे श्रेष्ठ व्यक्तित्व हैं जिनको खंडशः विवेचित करके हमने अक्सर सीमित कर दिया है। अतः उनके कथासाहित्य पर विचार करते समय आवश्यक है कि उनकी नाट्यकृतियों और कविताओं को विस्मृत न किया जाय।

हम प्रायः कहते हैं कि प्रसाद मूलतः कवि हैं। इसका वास्तविक अर्थ यह है कि प्रसाद की एक ही जीवनचेतना और सृजन-प्रक्रिया के विविध रूप उनकी गद्यपद्यमयी विभिन्न रचनाओं में विभिन्न प्रकार से प्रकट हुए हैं। उनकी रचनाओं को एक दूसरे के सन्दर्भ में ही ठीक से समझा जा सकता है। उनकी कविताओं के अनेक गूढ़ या अस्फुट अंशों को समझने की कुञ्जी उनके नाटकों और कथासाहित्य में मिलती है। इसी तरह उनकी गद्य-रचनाओं के अनेक अंशों का भावसत्य कविताओं के द्वारा बोधगम्य होता है।

प्रसाद के उपन्यासों में समकालीन परिस्थितियों का चित्रण एक सीमा तक बहुत ही अच्छा हुआ है। समाज को मूर्च्छित और चैतन्य करने वाली विभिन्न शक्तियों को उन्होंने अपनी अन्तर्दृष्टि से खूब पहचाना था। उनका चित्रण करने में अनेक स्थलों पर उन्होंने अपूर्व कौशल दिखलाया। 'कंकाल' में समाज की विकृतियों का उद्‌घाटन कर वे पाठकों की चेतना को जैसे एक धक्के से जगा देते हैं। इस उपन्यास में कंकाल का प्रतीकवत् बिम्ब अत्यन्त व्यञ्जक और मार्मिक है। ऐसा लगता है जैसे कथा-प्रवाह के अग्रसर होने के साथ ही साथ कंकाल का गलित आवरण पर्त-पर्त उतरता जाता है और अन्त में वह अनावृत होकर पाठक के ज्यों-ज्यों नजदीक आता है त्यों-त्यों उसकी विकरालता स्पष्ट होती जाती है— यहाँ तक कि एक दम निकट आकर वह मनोदृष्टि के सामने पूरे अवकाश को घेरकर स्थिर हो जाता है। 'तितली' में भी नारी-जीवन के भावात्मक (पाज़िटिव) पक्ष की प्राणमयता का बिम्ब तितली की जीवनगति के साथ-साथ स्पष्ट होता गया है। अधूरे ऐतिहासिक उपन्यास 'इरावती' में अतीत के पुनर्निर्माण की जो क्षमता दिखाई देती है उससे स्पष्ट है कि यदि यह उपन्यास पूरा हो गया तो हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यास को प्रसाद जी एक नया संस्कार दे जाते।

कहानियों में तो प्रसाद जी ने अपनी प्रतिभा का अद्भुत चमत्कार दिखाया। उनकी कहानियों का वस्तुक्षेत्र विस्तृत है। मानव-मन के अनेकानेक रहस्यउलझे भाव-स्तरों को जिस सूक्ष्म संवेदनीयता के साथ प्रसाद ने चित्रित और व्यञ्जित किया वह अनुपम है। छोटे से छोटे और जटिल से जटिल भाव-संवेदनों को उन्होंने इस बारीकी से शब्दबद्ध किया है कि वे साकार चित्र-से बन गये हैं। यद्यपि प्रसाद की कहानियाँ अपनी सुकुमार संवे-

दना और भाव-द्वन्द्व के पारदर्शी चित्रों के लिए अधिक प्रसिद्ध हैं पर कुछ कहानियों में उन्होंने समकालीन सामाजिक तथ्यों को भी केन्द्र बनाया है, जैसे 'विराम-चिन्ह' में। 'मधुआ' और 'बेड़ी' जैसी कहानियाँ सामाजिक तथ्य को मनोवैज्ञानिक स्तर पर व्यञ्जित करती हैं। उनकी श्रेष्ठ कहानियों में आए बिम्बवत् प्रकृति-चित्र जितने ही चित्ताकर्षक होते हैं उतने ही सार्थक भी। 'आँधी', 'पुरस्कार', 'आकाशदीप', 'समुद्र-संतरण', 'बिसाती' आदि कहानियों में आए प्रकृतिचित्र मनोदशा के व्यञ्जक मात्र नहीं हैं बल्कि वे कहानी की अर्थवत्ता को उद्घाटित करने में सहायता देते हैं। इनके द्वारा कहानी की मूल संवेदना तीव्रतर रूप में प्रकाशित होती है। 'समुद्र-संतरण' का सारा प्राकृतिक दृश्य धीरे-धीरे स्वच्छन्द (रोमांटिक) प्रेम के विभिन्न स्तरों की मधुर झलक देता हुआ किस प्रकार संवेगात्मक तीव्रता के चरम उत्कर्ष तक पहुँचा देता है इसका साक्षात्कार करने वाले प्रबुद्ध पाठक के लिए कहानी का प्रकृति-चित्र, ऊपर से नियोजित न रह कर, पात्रों के व्यक्तित्व का ही अंग बन जाता है। इन प्राकृतिक बिम्बों का रूप अलग-अलग कहानियों में अलग-अलग ढंग का है। इस प्रसंग का यहाँ इतना ही संकेत सम्भव है। कहने का तात्पर्य यह कि प्रसाद की कहानियों में जीवन की अनेकरूप चेतना कला के विविध संकेतों द्वारा मार्मिक ढंग से व्यञ्जित हुई है। उनकी औपन्यासिक सृष्टि भी अपने ढंग की निराली है। सब मिला कर प्रसाद का कथासाहित्य हिन्दी साहित्य की बहुमूल्य सम्पत्ति है।

प्रस्तुत पुस्तक में नई पीढ़ी के अभ्युदयशील लेखक प्रियवर श्री मार्कण्डेय सिंह ने बड़ी योग्यता से प्रसाद के इसी कथासाहित्य को उनके पूरे साहित्य के परिप्रेक्ष्य में रखकर विवेचित किया है। यद्यपि यह इनकी पहली समीक्षा पुस्तक है पर प्रसाद की विभिन्न

कृतियों की मूल संवेदना और कलात्मक-चेतना को विश्लिष्ट करने में इन्हें जो भी सफलता मिली है वह इनके असंदिग्ध साहित्यिक संस्कार और विवेक का प्रमाण है। मार्कण्डेय सिंह जी एक मार्मिक कहानीकार भी हैं। मुझे विश्वास है कि ये आलोचना और कथा-साहित्य—दोनों ही क्षेत्रों में अपनी शक्ति का अधिकाधिक परिचय देते हुए उन्नति करते जाएँगे।

हैदराबाद कालोनी,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

—विजयशंकर मल्ल

लेखकीय

दशकों से प्रसाद-साहित्य का विस्तृत और व्यवस्थित अध्ययन होते रहने के पश्चात् भी उनके कथा-साहित्य का यथोचित मूल्यांकन कदाचित अभी नहीं हो सका है। वे कवि और नाटककार रूप में ही अधिक देखे-समझे गए, कथाकार रूप में उनका क्या महत्व है, इसे समझने का प्रयास अपेक्षाकृत कम ही हुआ। प्रस्तुत पुस्तक इस दिशा में एक लघु प्रयास है। इसमें मैंने प्रसाद के कथा-साहित्य को उनकी समग्र साहित्य-साधना के परिपार्श्व में परखना चाहा है। मेरा प्रयत्न रहा है कि उनके भाव-पक्ष और विचार-पक्ष का, उनकी साहित्यगत मूल प्रवृत्तियों के प्रकाश में, कुछ नये ढंग से आकलन प्रस्तुत कर सकूँ। मेरी दृष्टि में, प्रसाद के कथा-साहित्य का अपना भावगत-विचारगत वैशिष्ट्य तो है ही, शिल्पगत वैशिष्ट्य उसका—विशेषतः कहानियों का—अपना विभेदक गुण है।

पुस्तक-लेखन से लेकर प्रकाशन-पर्यन्त श्रद्धेय प्रो० श्री विजयशंकर मल्ल लेखक के अन्तर्वर्ती प्रेरणा-स्रोत रहे हैं। उनके हर प्रकार के अपेक्षित साहाय्य, सूक्ष्म तत्वग्राहिणी अन्तर्दृष्टि, अपनत्व और स्नेह से दूर रहकर यह पुस्तक लिखी ही नहीं जा सकती थी। किन्तु इन सबके लिये उनके निकट आभार-प्रकाशन लेखक से संभव न होगा। पूज्य गुरुवर डा० हजारीप्रसादजी द्विवेदी के बहुमूल्य परामर्शों और सम्मतियों से मैं बहुत अधिक लाभान्वित हुआ हूँ। अत्यन्त व्यस्त और अस्वस्थ होते हुए भी उन्होंने 'परिचय' लिख कर लेखक और पुस्तक को गौरवान्वित किया है। उनकी उदार महनीयता के प्रति मैं अपनी मौन श्रद्धा निवेदित करता हूँ। थोड़ा-थोड़ा करके मैंने आदरणीय डा० बच्चनसिंहजी का बहुत अमूल्य समय नष्ट किया है। उन्होंने उसका कभी बुरा नहीं माना। किन्तु आज, अपने प्रति उनकी उस सहज उदारता

और स्नेह-भाव के लिए, कृतज्ञता-ज्ञापन करते आशंका होती है कि कहीं सचमुच ही वे बुरा न मान जायँ।

जिन महानुभावों की कृतियों से मुझे कुछ भी सहायता मिली है, उनका मैं ऋणी हूँ। सत्यान्वेषण के प्रयास में यदि प्रणम्य जनों से कहीं मेरा वैमत्य व्यक्त हुआ हो—और वह उन्हें खले—तो उसके लिए मैं क्षमा प्रार्थी हूँ।

श्री हरिहर भैया और प्रियवर श्री श्यामसुन्दर के साहित्य-विरोधी संयुक्त मोर्चे को स्मरण कर दुःख होता है कि भविष्य में लड़ने के लिए फिर वैसा बलदायी मोर्चा नहीं मिल सकेगा। पुस्तक को इस रूप में देखकर प्रिय बन्धु श्री राजदेव सिंह से अधिक ताप किसे होगा, नहीं जानता।

अन्त में कुशल और उत्साही प्रकाशक श्री सम्पूर्णानन्दजी एम० ए० और श्रीसीताराम प्रेस के सुयोग्य संचालक श्री काशी-नाथ जी गुप्त को, उनके परिश्रम और सौजन्य के लिए, मैं हृदय से धन्यवाद देता हूँ।

पुस्तक बड़े अशुभ मुहूर्त में लिखी गई थी। इसके साथ अनेक कटु-तिक्त स्मृतियाँ गुँथी हुई हैं। कई एक स्थलों पर सुधार-संशोधन की आवश्यकता बनी ही रह गई। जल्दी में छपी, प्रूफ-रीडर भी नया और अनाड़ी ही मिला। कहीं-कहीं त्रुटियाँ गड़ेंगी। अनुरोध है कि उन्हीं के कारण समूची पुस्तक अग्राह्य न मान ली जाय। जैसी भी बन सकी है, सहृदय विद्वज्जनों के सम्मुख प्रस्तुत है। अपने प्रयास में मुझे कहाँ तक सफलता मिली है इसका निर्णय तो वे ही करेंगे. अपनी ओर से मैं इतना ही कहूँगा कि आलोच्य विषय को मैंने अपनी दृष्टि से देखा है—दस पुस्तकें पढ़कर ग्यारहवीं पुस्तक रच देना मुझे अभीष्ट नहीं रहा है।

—मार्कण्डेय सिंह

विषयानुक्रम

प्रथम खण्ड

प्रथम खंड

[कहानी]

१—आधुनिक कहानी की परंपरा और प्रसाद

२—प्रसाद की कहानियाँ : प्रयोग काल

३—प्रसाद की कहानियाँ : प्रौढ़ युग

४—प्रसाद की कहानियों का वैशिष्ट्य

[क] भागवत

[ख] शिल्पगत

: १ :

आधुनिक कहानी की परंपरा और 'प्रसाद'

अन्य भाषाओं के आख्यायिका-साहित्य की भाँति हिन्दी की प्रारंभिक कहानियों के मूल प्रेरक-भाव भी आश्चर्य और कौतूहल ही थे। जब देवकीनंदन खत्री के ऐय्यार अपने आश्चर्यमय व्यापारों में हिन्दी के अधिकांश पाठकों को रमाये हुए थे उसी समय के आसपास गोपालराम गहमरी भी अपने नये आकर्षण 'जासूस' के साथ आये। 'जासूस' को बँगला से अनूदित और मौलिक कहानियों से ही हिन्दी में छोटी कहानी, आख्यायिका और गल्पों का जन्म हुआ। राधाचरण गोस्वामी की 'सौदामिनी' नाम की कहानी, जो किसी बँगला कहानी का अनुवाद थी, 'जासूस' से पूर्व ही प्रकाशित हो चुकी थी। उन्होंने छोटी कहानियों के लिए 'नवन्यास' शब्द का प्रयोग किया था, जो आगे चलकर ग्रहण न किया जा सका। किन्तु हिन्दी-कहानी की जो अगली धारा प्रवाहित हुई उसने देवकीनंदन खत्री, गोपालराम गहमरी और राधाचरण के पूर्व-निर्देशों की दिशा न अपनाई। इन लेखकों ने कहानी को रूप देने का प्रयास किया, सफलता भी इन्हें यथेष्ट मिली, जनता द्वारा इनका स्वागत भी हुआ, पर इनके ऐतिहासिक महत्व को स्वीकार करते हुए भी आधुनिकता और साहित्यिकता की दृष्टि से इनको मौलिक कहानी-लेखक—आधुनिक कहानी-कला का जनक—नहीं कहा जा सकता।

१९०० ई० में 'सरस्वती' (छठी संख्या, जून) में पं० किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' प्रकाशित हुई। इसे इतिहासकारों ने हिन्दी की

पहली कहानी मानते हुए भी बाह्य प्रभावापन्न बतलाया है। आचार्य शुक्ल को इस पर बँगला प्रभाव की आशंका थी, तथा आचार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदी और डा० श्री कृष्णलाल ने इस पर शेक्सपियर के 'टेम्पेस्ट' की छाया मानी है। फिर भी अपने वातावरण-निर्माण और रचनाविधान में यह बहुत कुछ मौलिक है।

'इन्दुमती' के प्रकाशन के साथ ही हिन्दी साहित्य में विभिन्न भाषाओं से अनूदित कहानियों की बाढ़ बड़े वेग से आई। मुख्यतः इसकी तीन धाराएँ दिखाई पड़ीं—(क) पाश्चात्य नाटकों का कहानी रूप में अनुवाद—'सिम्बलीन' (Cymbeline), 'एथेन्स वासी टाइमन' (Teimon of Athens), 'पेरिक्लीज़' (Pericles),'कौतुकमय मिलन' (Comedy of Errors)।

(ख) संस्कृत नाटकों और आख्यानों का कहानी रूप में अनुवाद—'हिन्दी प्रदीप' में १८६६ ई० से ही प्रकाशित होती आती 'कात्यायन-वररुचि की कथा', 'उपकोशा की कथा', और इन्हीं की परंपरा में १६०० ई० में 'सरस्वती' में प्रकाशित 'रत्नावली' और 'मालविकाग्निमित्र' का कथा रूप में अनुवाद।

(ग) गिरिजाकुमार घोष (लाला पार्वतीनन्दन के नाम से) और 'बंगमहिला' द्वारा बँगला से अनूदित कहानियाँ।

'सुदर्शन' नामक मासिक पत्र में भी अनुवादों की यह परंपरा पर्याप्त विकसित हुई। इसमें पौराणिक आख्यानों का रूपान्तरण किया गया।

आगे इन अनुवादों का घटाटोप इतना बढ़ा कि उसमें मौलिक कहानी ढँक सी उठी, उसका प्रकाशन यत्किंचित रूप में कभी-कभी ही दिखाई देता था। यदि 'इन्दुमती' को मौलिक कहानियों की कोटि में रखा जाय तो उसके बाद दस वर्षों तक 'सरस्वती' में जो मौलिक कहानियाँ निकलीं उन्हें उँगलियों पर गिना जा सकता है। इनमें भी यदि कुछ कलात्मक

दृष्टि रखी जाय तो 'इन्दुमती', 'गुलबहार',[1] 'प्लेग की चुड़ैल',[2] 'ग्यारह वर्ष का समय',[3] 'पंडित और पंडितानी',[4] 'दुलाईवाली',[5] 'राखीबंद भाई',[6] 'तातार और एक वीर राजपूत',[7] और 'नकली किला',[8] में ही रचना-विधान का कुछ नया कौशल दिखाई पड़ता है।

प्रश्न उठता है कि अपने दस वर्षों के इस प्रयोग-युग में हिन्दी कहानी कितना आगे बढ़ सकी? जहाँ तक 'इन्दुमती' का सम्बन्ध है, अधिकांश विद्वानों के मत से यह पूर्ण मौलिक नहीं।[9] पर बाह्य प्रभावों के अतिरिक्त इसमें लेखक की मौलिकता भी किसी मात्रा में अवश्य है। किसी वृत्त की छाया लेकर उसके प्रकाश में काव्य, नाटक या आख्यायिका लिखने की परम्परा तो प्रत्येक देश के साहित्य में बहुत पुरानी है। शेक्सपियर के किसी भी नाटक का कथानक उसका अपना नहीं है। डा०श्रीकृष्णलाल का मत है कि इसमें 'टेम्पेस्ट' की छाया है और एक

१—किशोरीलाल, क्रमशः १९००, १९०२ ई०।

२—मास्टर भगवान दास, १९०२ ई०।

३—रामचन्द्र शुक्ल, १९०३ ई०।

४—गिरिजादत्त वाजपेयी, १९१० ई०।

५—बंगमहिला, १९०७ ई०।

६—वृन्दावनलाल वर्मा, १९०८ ई०।

७—वृन्दावनलाल वर्मा, १९१९ ई०।

८—मैथिलीशरण गुप्त, १९०९ ई०।

९—द्र० हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ५०४।
हिन्दी साहित्य : डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ४२२।
हिन्दी कहानियाँ : डा० श्रीकृष्ण लाल पृ० २४।
हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास : डा० लक्ष्मी-नारायणलाल, पृ० ५४।

राजपूत कहानी का आधार लिया गया है। पर देखना यह है कि लेखक ने किस साज-सज्जा से नवीन वातावरण देकर, इसे मौलिक ढंग से प्रस्तुत किया है। कला की दृष्टि से, लेखक इसमें जीवन की असामान्य परिस्थिति, संयोग (co-incidence) और आकस्मिता (chance) का सहारा लेते हुए भी, स्वाभाविकता और सम्भावना की सीमा का बहुत कुछ अतिक्रमण नहीं करता। वह कथा के प्रवाह में भी एकोन्मुखता लाने का प्रयत्न करता है और अन्ततः विभिन्न प्रभाव-सूत्रों में किसी सीमा तक अन्विति आ ही जाती है। इस प्रकार नई कहानी की शिल्पविधि का एक धुँधला-सा संकेत 'इन्दुमती' में मिल जाता है और प्रयोगयुगीन कहानी की पृष्ठभूमि में रखकर देखने पर इसकी सफलता असाधारण प्रतीत होती है।

'इन्दुमती' के बाद 'ग्यारह वर्ष का समय' तक, तीन वर्षों के बीच, हिन्दी कहानी-कला को कोई नई संप्राप्ति न हुई। 'ग्यारह वर्ष का समय' में अवश्य ही विकास का कदम कुछ आगे बढ़ा हुआ दीखता है। इसमें लेखक वर्णन-कुशलता द्वारा जिज्ञासा और कौतूहल की वृत्ति को सतत् जागरूक रखता है। घटनाओं के प्रकाश में चरित्र-चित्रण भी कुशलतापूर्वक किया गया है। चरमसीमा की स्थिति भी, इन्दुमती की अपेक्षा, अधिक कलापूर्ण है। वातावरण की सजीव अवतारणा से कहानी अत्यंत रोचक बन गई है। किन्तु इसमें आकस्मिकता एवं संयोगों का इतना अधिक सहारा लिया गया है कि संवेदना का प्रभाव हल्का-सा हो जाता है। इतना होते हुए भी, इसका रचना-विधान पर्याप्त सुगठित है। डा० लक्ष्मीनारायण लाल के मतानुसार यह "शिल्प-विधि की दृष्टि से हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी है।"[१]

'दुलाईवाली' तक पहुँचते-पहुँचते हिन्दी कहानी-कला अपने प्रयोग

१—हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास, पृ० ५७।

में बहुत आगे बढ़ चुकी थी। इसका कथानक सामान्य जीवन की एक अत्यन्त साधारण घटना पर आधृत है। इसकी यथार्थोन्मुखी प्रवृत्ति और कथोपकथन की कलापूर्ण प्रसंगानुकूलता, गतिपूर्ण प्रवाह और अतर्कित परिस्थिति में सुखद अन्त—सब कुछ इतने सुनियोजित ढंग से संचालित होता है कि यह आधुनिक कहानी के अत्यंत निकट की रचना प्रतीत होती है। "आज भी दो चार वाक्यों को छोड़कर इस कहानी का कलेवर बिलकुल अद्यतन बना हुआ है। फिर भी इस कहानी के बाद मौलिक कहानी की प्रगति, बहुत ही मन्थर, नाम मात्र की रही; यहाँ तक कि 'दुलाईवाली' का लिखा जाना हम एक आकस्मिक घटना कह सकते हैं।"[1] यदि इस कहानीको दस वर्षों के इस प्रयोग-युग की 'सबसे महत्व-पूर्ण और सुन्दरतम रचना' कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी।[2] किन्तु कहानी-साहित्य के इतिहास में आगे इस प्रकार की रचनाओं की कोई अविच्छिन्न परंपरा न स्थापित हो सकी। अतएव इन कहानियों का केवल ऐतिहासिक महत्व ही स्वीकार करना होगा।

'इन्दु' का प्रकाशन और 'छाया' संग्रह के प्रथम संस्करण का ऐतिहासिक महत्व

वास्तव में हिन्दी कहानी की अटूट और पूर्वापेक्षया प्रशस्ततर परं-परा प्रसाद से आरंभ होती है। सन् १६०६ ई० में उनकी प्रेरणा से काशी से 'इन्दु' का प्रकाशन आरंभ हुआ। इस मासिक पत्र में प्रसाद और अन्य लेखकों की कहानियाँ नियमित रूप से छपने लगीं। 'प्रसाद' प्रारम्भ से ही इसमें लेख और कविताएँ लिखते रहे और सन् १६११ में 'ग्राम' शीर्षक उनकी प्रथम कहानी इसी में प्रकाशित हुई। इसके बाद तो उनका कहानी लिखने का क्रम कभी भंग न हुआ और १६३७

१—इक्कीस कहानियाँ : राय कृष्णदास, पृ० २६–३०।

२—हिन्दी कहानियाँ : डा० श्रीकृष्ण लाल, पृ० २६।

तक कविता, उपन्यास एवं नाटकों के साथ-साथ वे बराबर कहानियाँ लिखते रहे। छब्बीस वर्षों की इस लम्बी अवधि में उनकी कला ने कई मोड़ लिये, उसके विविध रूप सामने आये तथा संख्या में उन्होंने कुल सत्तर कहानियाँ लिखीं। उनके प्रभाव और प्रेरणा से 'इन्दु' के पाँच वर्षों में ही विभिन्न मौलिक लेखकों की इतनी कहानियाँ निकलीं जितनी 'सरस्वती' के दश वर्षों में भी न निकली थीं।

प्रसाद की प्रथम कहानी 'ग्राम' में ही एक नई दिशा की ओर संकेत मिलता है। इसमें लेखक ने सामाजिक क्षेत्र में प्रवेशकर उसकी एक प्रमुख समस्या, कर्ज के दुष्परिणाम तथा महाजनों की धूर्तता को चित्रित करने का प्रयास किया है। साथ ही, प्रसाद की अन्य बहुत सी प्रवृत्तियाँ जो प्रौढ़-युग की कहानियों में प्रस्फुटित हुईं, 'ग्राम' में अपने बीज रूप में वर्तमान हैं। एक सामान्य-से कथानक को लेकर उसके माध्यम से जीवन के बाह्य अथवा आभ्यन्तर पक्ष की व्यंजना, जो 'आकाशदीप' या 'प्रतिध्वनि' की कहानियों में और अधिक निखार लेकर आई, 'ग्राम' में भी अनुपस्थित नहीं। इसका कथानक अत्यंत सामान्य है—बाबू मोहन लाल अपनी जमींदारी के निरीक्षणार्थ कुसुमपुर जा रहे हैं। रात्रि हो जाती है, मार्ग भी अपरिचित है। वर्षा होने लगती है, वे मार्ग भूल कर एक दुखिया स्त्री के यहाँ रात बिताते हैं। स्त्री प्रसंगवश अपनी अतीतगाथा सुनाती है और उससे मोहनलाल को ज्ञात होता है कि किस प्रकार उनके पिता ने छलपूर्वक उसके पति से कुसुमपुर का इलाका हड़प लिया था। इतने-से कथानक को लेकर ही लेखक मार्मिक प्राकृतिक दृश्यावली के परिपार्श्व में विविध स्थितियों एवं पात्रों का इस प्रकार से भावपूर्ण और काव्यात्मक चित्रण करता है कि कथा में क्षिप्र गति का अभाव होने पर भी सजीवता आ जाती है। कहानी का अन्त भी मार्मिक और व्यंजक है। कुछ और सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद की अतीतोन्मुखता, जो उनके सम्पूर्ण साहित्य में

समान रूप से विद्यमान है, 'ग्राम' में भी पूर्वाभिमुख प्रवृत्ति के रूप में प्रकट हुई है। भटककर मोहनलाल संयोग से उस स्त्री के घर पहुँचते हैं जिसके दुःखपूर्ण वर्तमान के पीछे गौरवपूर्ण अतीत की गाथा छिपी है और उनके आग्रह पर वह उसे उद्घाटित भी करती है।

स्वरूप और संवेदना की दृष्टि से 'ग्राम' को आज की प्रभाववादी कहानियों की कोटि में स्थान दिया जा सकता है। इसमें उनके आरम्भिक रूप का आभास मिलता है। जैसे प्रभाववादी कहानियों में लेखक कथा-प्रवाह, चरित्रचित्रण आदि की ओर अधिक ध्यान न देकर इन्हें साधन-रूप में लेता हुआ, किसी प्रभावविशेष की छाप डालना ही इष्ट समझता है, वैसे ही 'ग्राम' में भी लेखक ने ग्राम-जीवन के विविध खण्ड-चित्र उपस्थित कर एक प्रभावशाली वातावरण-निर्माण करने की चेष्टा की है। वह प्रभाव स्पष्ट और विशेष मार्मिक हो सके, इसके लिए परिपार्श्व रूप में उसने नगर के संकुल जीवन के प्रतीक स्टेशन का भी खण्ड-चित्र दे दिया है। सांकेतिक और काव्यात्मक रूपचित्र भी इस कहानी के उल्लेख्य अंग हैं।

यद्यपि सर्वांशतः देखने पर 'ग्राम' की शैली पर बँगला का स्पष्ट प्रभाव मिलता है, पर कहानीकार प्रसाद की मूलभूत विशेषताओं—सजीव वातावरण-निर्माण, रसात्मक वर्णन-विवरण, रोमानी प्रवृत्ति आदि का पर्याप्त संकेत इस प्रथम रचना में ही मिल जाता है। अपनी कहानी के क्रियाकल्प (टेकनीक) में उन्होंने नई कहानी और पुरानी आख्यायिका की शिल्पविधि का अपने ढंग से समन्वय करके जो नवीन कला प्रदर्शित की है वह आगे चलकर अपने विकसित रूप में हिन्दी कहानी साहित्य की अमूल्य निधि प्रमाणित हुई।

'ग्राम' के बाद प्रसाद की और भी कहानियाँ समय-समय पर 'इन्दु' में प्रकाशित होती रहीं। सन् १९१२ ई० में, तब तक की प्रकाशित पाँच कहानियों का 'छाया' नाम से उनका एक संग्रह भी प्रकाश में आया।

इसमें 'तानसेन', 'चन्दा', 'ग्राम', 'रसिया बालम', और 'मदन-मृणालिनी' नामक पाँच कहानियाँ संग्रहीत थीं। इसके द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण में, जो सन् १९१८ में निकला, 'जहाँनारा', 'शरणागत', 'अशोक', 'सिकन्दर की शपथ', 'गुलाम' और 'चित्तौर-उद्धार' नामक कहानियाँ और बढ़ा दी गईं। ये १९१२ ई० से १९१४ ई० तक के बीच लिखी गई कहानियाँ थीं।

हिन्दी कहानी-साहित्य के इतिहास में 'छाया' के दोनों संस्करण अपना अविस्मरणीय स्थान रखते हैं। यद्यपि कला की दृष्टि से तो ये कहानियाँ बहुत उच्चकोटि की नहीं हैं, फिर भी उनका ऐतिहासिक महत्त्व इसलिए सदैव ही स्वीकार किया जायगा कि उनमें कहानी-कला के वे बीज अंकुरित होते दीख पड़े जो आगे चलकर फूले-फले तथा जिनकी ही परम्परा में 'आकाश-दीप', 'आँधी', और 'इन्द्रजाल' संग्रहों की उच्चकोटि की कहानियाँ आईं।

'प्रसाद' कहानीकार के साथ-साथ कवि, नाटककार, उपन्यासकार और चिन्तक भी थे। इन सबकी समन्वित छाप उनकी कहानियों पर स्पष्ट है। साथ ही वे स्वच्छन्दतावादी कलाकार होते हुए भी विद्रोहोन्मुख क्रान्तिकारी नहीं थे। उन्होंने सदैव ही जीवन और साहित्य में विभिन्न अतिवादों को छोड़कर मध्यम मार्ग अपनाया और अपनाने का आग्रह किया। उनका विस्तृत साहित्य इस बात का साक्षी है कि उन्होंने पूर्व-पश्चिम, प्राचीन-अर्वाचीन, आदर्श-यथार्थ, श्रेय-प्रेय—सभी को समन्वित करने का प्रयत्न किया। सबसे बढ़कर वे सौन्दर्य और प्रेम के भावुक गायक थे, और ये दोनों तत्त्व उनकी कहानियों में भी विविध छायाओं के साथ सर्वत्र प्रतिभासित हैं। 'छाया' के प्रथम संस्करण की पाँचों प्रारंभिक कहानियों में भी ये सब विशेषताएँ किसी न किसी रूप में निहित हैं।

'तानसेन', 'चन्दा', 'ग्राम', 'रसिया बालम' और 'मदन-मृणालिनी' —सबमें जीवन के धरातल पर बहनेवाले भाव-स्रोत को उभारने का प्रयास

है। 'ग्राम' को छोड़ शेष चारों कहानियों का मूलविन्दु प्रेम है। इन कहानियों में प्रेम का आलोक प्राकृतिक परिवेश के बीच से उद्भासित हुआ है। विविध जीवन-स्थितियों की योजना कर प्रेम के मृदुल अंशों को विवृत करने की चेष्टा की गई है, और उसके उदात्त रूप का निदर्शन कराया गया है। 'चन्दा' हीरा और चन्दा की प्रणय-क्रीड़ा से प्रारम्भ होती है तथा रामू द्वारा हीरा से और चन्दा द्वारा रामू से लिए गये भयंकर प्रेम-प्रतिशोध से समाप्त होती है। यह कोल-जीवन से सम्बन्धित कहानी है। प्रकृति और प्रणय-व्यापारों से समावेष्टित इस भावपूर्ण गाथा में लेखक का स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण पर्याप्त अभिव्यक्ति पा सका है। 'रसिया बालम' भी इसी कोटि की कहानी है। इसका आरम्भ भी प्रकृति-वर्णन से ही होता है। प्रकृति और मानव-जगत दोनों को एक सूत्र में ग्रथित कर अत्यन्त कलापूर्ण ढंग से लेखक ने राजकुमारी के प्रेमोत्कर्ष की व्यंजना की है। राजकुमारी अपने प्रणयी के उच्छिष्ट विष का पान करके प्रेम की वेदी पर अपना उत्सर्ग कर देती है। इस रचना में यद्यपि प्रेम-प्रसंग के भीतर शीरीं-फरहाद के प्रेम का यत्किंचित आभास मिलता है पर लेखक ने ऐसे कौशल से इसके कथा-तत्व को नियोजित किया है कि कहानी की रमणीयता में नव्यता आ गई है। 'मदन-मृणालिनी' में यही प्रेम एक दूसरे ही रूप में, कर्तव्य-प्रेरणा से उज्ज्वल होकर प्रकट हुआ है। इसमें अन्य चारों कहानियों की अपेक्षा मदन के हृदय में उठनेवाले अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण अधिक कुशलता से हो सका है। वह अपनी प्रणयिनी के लिए धर्म तक त्यागने पर तुल जाता है, पर समाज का विचार उसकी भावनाओं को दबा देता है। वह प्रेम की विवेचना करता है, उसे आत्म-त्याग समझता है और अन्त में अपनी प्रणयिनी को सर्वस्व समर्पित कर स्वदेश लौट आता है। प्रसाद ने अपनी प्रौढ़ नाट्य-कृतियों, कविताओं और कहानियों में जिस उदात्त प्रेम की रसमय व्यंजना की है, उसी को 'मदन-मृणालिनी' में उनके प्रयोक्ता कलाकार ने अत्यन्त सीधे

ढंग से प्रस्तुत किया है। 'तानसेन' में प्रसिद्ध गवैये तानसेन की ऐतिहासिक कथा को कल्पना के द्वारा प्रेम-रञ्जित करके उपस्थित किया गया है। इसका भी प्रारम्भ प्रकृति-वर्णन से होता है।

इस प्रकार प्रसाद की कहानियों की मुख्य विशेषताएँ—सौन्दर्यानुभूति का काव्यात्मक वर्णन या व्यंजना, विषयानुरूप मार्मिक प्राकृतिक वातावरण-निर्माण, स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति, अतीत के प्रति अनुराग-भाव एवं भाव-प्रवण चिन्तनशीलता आदि—सब किसी न किसी रूप में इन कहानियों में खोजी जा सकती हैं। 'ग्राम','चन्दा','रसिया बालम', 'मदन-मृणालिनी'—सब में लेखक ने विविध मनोभावों के लिए विभिन्न मार्मिक रूप-चित्रों की सृष्टि की है। चरित्रचित्रण की दृष्टि से अवश्य ही प्रसाद इनमें उतने सफल नहीं हैं जितने 'आकाशदीप', 'आँधी' और 'इन्द्रजाल' में हो सके हैं। 'छाया' की सभी कहानियों के पात्र एक प्रकार से अर्द्धविकसित-से ही दिखाई पड़ते हैं। किन्तु यहाँ एक बात स्मरणीय है कि लेखक का ध्यान पात्रों के बाह्य जीवन की अपेक्षा उनके आभ्यन्तर जीवन के द्वन्द्वों की ओर ही अधिक है। 'चन्दा' की चन्दा के प्रतिशोध में 'आकाशदीप' की चम्पा का ही अन्तर्द्वन्द्व है, भले ही उसकी उतनी कलात्मक परिणति यहाँ न हो सकी हो। 'मदन-मृणालिनी' में आत्मत्याग से दीप्त उज्ज्वल प्रेम के उसी पक्ष की झाँकी है जो 'गुण्डा' में और अधिक अवदात होकर व्यक्त हुआ। पर यहाँ भी मदन के अन्तर्द्वन्द्वों का चित्रण हलका नहीं लगता।

'छाया' की एक बात और विशेष ध्यान देने योग्य है। इसके समर्पण में लेखक लिखता है, 'जो छाया मानस-पट पर उदय होती रहती है, उसकी पवित्र स्मृति में अंकित' और उसका 'निवेदन' है कि "साहित्य में ऐसी छोटी-छोटी आख्यायिकाएँ केवल मनोविनोद के लिए ही नहीं, उनसे हृदय-पट पर एक ऐसी छाप पड़ती है जो गम्भीर अथच प्रभाव-शालिनी होती है। मानव हृदय को उनकी अपूर्णता कल्पना के विस्तृत

कानन में छोड़कर उसे घूमने का अवकाश देती है, जिसमें पाठकों को अद्भुत आनन्द मिलता है।" इससे स्पष्ट होता है कि आरम्भ से ही प्रसाद की कहानियों का उद्देश्य पाठक के हृदय में एक गम्भीर छाप अंकित कर रसोद्रेक कराना रहा है। उनकी कहानियों में कथासूत्र की न्यूनता और भावोद्वेलन की विशेष प्रवृत्ति का जो निदर्शन है उसके लिए भी उन्होंने 'छाया' के निवेदन में एक वाक्य कहा है, "मेरा अनुमान है कि छोटी-छोटी आख्यायिकाओं में किसी घटना का पूर्ण चित्र नहीं खींचा जा सकता, इस कारण इन आख्यायिकाओं को उन घटनाओं की छाया कहना ही ठीक है।" और छाया में स्थूल नहीं, उसका प्रतिबिम्ब ही तो हुआ करता है!



: २ :

'प्रसाद' की कहानियाँ : प्रयोग काल

स्थूल रूप से, प्रसाद की १९२६ ई० तक लिखी गई कहानियों को उनके प्रयोगकालीन कहानी-साहित्य के अन्तर्गत लिया जा सकता है। इस काल की कहानियाँ 'छाया' और 'प्रतिध्वनि' नामक दो संग्रहों में संकलित हैं। इनकी कुल संख्या छब्बीस है। 'तानसेन', 'चन्दा', 'ग्राम', 'रसिया बालम' और 'मदन-मृणालिनी' छाया के प्रथम संस्करण में ही प्रकाश में आ चुकी थीं। 'शरणागत', 'सिकन्दर की शपथ', 'अशोक', 'गुलाम', 'जहाँनारा' नामक छः कहानियाँ १९१८ ई० के नये संस्करण में परिवर्द्धित कर दी गई। 'प्रतिध्वनि' की कहानियाँ हैं—'प्रसाद', 'गूदड़ साईं', 'गूदड़ी में लाल', 'अघोरी का मोह','पाप की पराजय', 'सहयोग', 'पत्थर की पुकार', 'उस पार का योगी', 'करुणा की विजय', 'खंडहर की लिपि', 'कलावती की शिक्षा', 'चक्रवर्ती का स्तम्भ', 'दुखिया', 'प्रतिमा' और 'प्रलय'। 'प्रतिध्वनि' संग्रह सन् १९२६ में प्रकाश में आया।

शैली की दृष्टि से ये कहानियाँ वर्णनात्मक, प्रतीकात्मक तथा ऐतिहासिक विभागों के अन्तर्गत आती हैं। विषय की दृष्टि से प्रायः सभी प्रेम, सौन्दर्य और करुणा आदि मार्मिक मनोवेगों को लेकर चली हैं। कुछ में रहस्य-प्रधान अन्यापदेशात्मकता है।

तीन प्रयोग

विकास-क्रम की दृष्टि से देखने पर प्रतीत होता है कि इन छब्बीस कहानियों में लेखक ने तीन प्रकार के प्रयोग किये हैं। 'छाया' के प्रथम

संस्करण की कहानियाँ उसके प्रथम प्रयोग की रचनाएँ हैं, द्वितीय संस्करण की परिवर्द्धित कहानियों में उसका दूसरा प्रयोग परिलक्षित होता है तथा 'प्रतिध्वनि' की कहानियाँ तीसरे प्रयोग की कृतियाँ हैं।

प्रथम प्रयोग—'छाया' के प्रथम संस्करण की कहानियाँ—'छाया' के प्रथम संस्करण की कहानियों में लेखक का मुख्य क्षेत्र प्रेम है। प्रेम के विविध पक्षों को लेकर एक झीने इतिवृत के सहारे उन्हें ग्रथित कर दिया गया है। कहानी के अंग-उपांग भली प्रकार विकसित हो सकें, इसकी ओर लेखक का उतना ध्यान नहीं जान पड़ता। वह काव्य-तत्वों का आश्रय लेकर, विषयानुसार पूर्वपीठिका का निर्माण करता हुआ, पाठक के मन पर अपने प्रतिपाद्य भावों की एक सघन छाप छोड़ सकने के लक्ष्य की ओर ही विशेष प्रवृत्त है। इसी उद्देश्य से प्रेरित होने के कारण, जब कथा अपनी चरमसीमा पर पहुँचती है, उसमें पूर्ण तनाव की स्थिति आ जाती है, तभी लेखक सहसा कहानी को वहीं समाप्त कर देता है। कहानी को उससे तनिक भी आगे बढ़ाकर, प्रवाह में शिथिलता के प्रवेश के संभावित खतरे से वह भरसक बचता रहा है। इस दृष्टि से 'चन्दा' कहानी द्रष्टव्य है। रामू के छल से हीरा का प्राण जाता है। अनुकूल अवसर पाते ही चन्दा भी रामू को छुरा भोंक देती है। यहीं कहानी अपनी चरम सीमा पर पहुँचती है और चन्दा के आत्मघात के साथ उसका अन्त हो जाता है—"चन्दा ने अपना छुरा निकाल लिया और उसको चाँदनी में रँगा हुआ देखने लगी, फिर खिलखिला कर हँसी और कहा—'दरद दिल काहि सुनाऊँ प्यारे!' ...इतना कहकर अपनी छाती में उसे भोंक लिया और उसी जगह गिर गई...।"

इन सभी कहानियों को लेखक ने सम्यक परिपार्श्व देकर आरम्भ किया है। कुछ का आरम्भ प्रकृति के काव्यमय चित्रण के साथ और कुछ का स्थिति-विशेष के अंकन के साथ हुआ है। 'चन्दा' और

'रसिया बालम' में स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति विशेष रूप से मुखर हुई है। लेखक की चिन्तनशीलता, जो बाद की कहानियों में गम्भीर दार्शनिक विवेचना के रूप में प्रस्फुटित हुई, इन कहानियों में भी अंकुर रूप में वर्तमान है। किन्तु अभी उसका रूप अत्यन्त स्थूल है, उसमें विचार-परिपक्वता नहीं है। 'मदन-मृणालिनी' में मदन की जीवन-जगत और प्रेम-विषयक आत्म-चिन्तना उदाहरणस्वरूप ली जा सकती है। सामाजिक दृष्टि से इस कहानी में अन्तर्जातीय-विवाह के पक्ष में कुछ निर्देश मिलते हैं।

द्वितीय प्रयोग—'छाया' के द्वितीय संस्करण की परिवर्द्धित कहानियाँ—मूलतः लेखक का यह प्रयोग दो दृष्टियों से पूर्व प्रयोग से भिन्न है। लगता है विषय और कला की दृष्टि से उसने अपने प्रथम प्रयोग को सफल मान कर, उसकी सम्प्राप्तियों को पुनः अंगीकार करते हुए भी, उसमें कुछ सुधार तथा संवर्द्धन किया है। इन कहानियों में क्षेत्र की दृष्टि से, वर्तमान को छोड़कर अतीत को अपनाया गया है। दूसरे, प्रेम-व्यंजना के साथ-साथ कुछ सामाजिक समस्याओं और भारतीय संस्कृति के उज्जवल पक्षों को उपस्थित करने का भी लेखक ने यत्र-तत्र प्रयास किया है। 'शरणागत' भारतीय संस्कृति, पारिवारिक रहन-सहन और वेश-भूषा के प्रति लेखक के अनुराग को व्यक्त करती है। इसका कथानक ऐतिहासिक नहीं है पर काल्पनिक होकर भी इतिहासोन्मुख है। 'सिकन्दर की विजय' भी भारतीय वीरों की आदर्श वीरता का चित्रण करती है। 'चित्तौर-उद्धार' राजपूत-जीवन, उनकी परस्पर फूट, उनकी इतिहास-प्रसिद्ध वीरता और आन की कहानी है तथा राजपूतनियों के चरित्र पर भी प्रकाश डालती है, जिन्होंने अपने पातिव्रत धर्म तथा देशोद्धार के लिए बड़ा से बड़ा त्याग किया है। इस कहानी में लेखक ने विधवा-विवाह का समर्थन किया है। राजकुमार हम्मीर, राजकुमारी के मुख से उसके विधवा होने का समाचार सुनकर भी, उसे सहर्ष अंगीकार करता

है। 'अशोक', 'गुलाम' और 'जहाँनारा'का कथानक भी ऐतिहासिक है।

प्रथम प्रयोग की कहानियों में प्रकृति-चित्रण की ओर लेखक का ध्यान विशेष था, पर इन कहानियों में मानव-परिस्थितियों और क्रिया-कलापों को ही पीठिका रूप में ग्रहण करने का आग्रह अपेक्षाकृत अधिक है। द्वितीय प्रयोग की कहानियों की अन्य उल्लेख्य बात यह है कि इनमें मनुष्य की कोमल प्रवृत्तियों—प्रेम, करुणा, सौन्दर्योपासना आदि का आंशिक रूप में ही चित्रण हुआ है; ध्वंसकारी प्रवृत्तियों—प्रतिशोध, प्रवंचना, हिंसा और क्रूरता को अधिक अपनाया गया है। 'शरणागत' को छोड़कर शेष सभी कहानियों में इनको विशेष स्थान मिला है। लगता है जैसे लेखक अपनी लेखनी तौल रहा हो कि देखूँ इनके अंकन में मुझे कितनी सफलता मिलती है। प्रथम प्रयोग की चन्दा और द्वितीय प्रयोग के गुलाम कादिर, अशोक, तिष्यरक्षिता आदि का प्रति-शोध नृशंस होकर भी स्वाभाविक और मानवीय है। लेखक ने इन चरित्रों के चित्रांकन में मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों को नियोजित कर कुशलता से काम लिया है।

तृतीय प्रयोग—'प्रतिध्वनि' की कहानियाँ—'प्रतिध्वनि' तक आते-आते (१६२६ ई०) प्रसाद की प्रतिभा में पर्याप्त परिपक्वता आ गई थी। 'कानन-कुसुम', 'प्रेम-पथिक', 'महाराणा का महत्व', 'चित्रा धार' आदि काव्य और 'प्रायश्चित', 'राज्यश्री', 'विशाख', तथा 'अजातशत्रु' जैसे सफल नाटकों की वे रचना कर चुके थे। 'अजातशत्रु' जैसे विचारगूढ़ और चिन्ताप्रधान नाटक का रचनाकाल (१६२२ ई० में प्रकाशित) ही 'प्रतिध्वनि' का भी रचनाकाल रहा है। अतएव इसकी कहानियों में भी चिन्तनशीलता और जीवन की समस्याओं के प्रति दार्शनिक दृष्टिकोण का समावेश स्वाभाविक ही था। दूसरी ओर, 'प्रति-ध्वनि' के ही समकाल में प्रसाद का झुकाव कुछ-कुछ गद्य-गीत लिखने की ओर हुआ था। उन्होंने दस-बीस गद्य-गीत लिखे भी थे, जिनमें

से आगे चलकर कुछ को तो कतिपय कारणों से 'झरना' में छन्दबद्ध कर डाला और कुछ को नष्ट कर दिया[१]। उन गद्य-गीतों का, कुछ हेर-फेर से, 'प्रतिध्वनि' की अनेक कहानियों में स्पष्ट आभास मिलता है।

लेखक ने 'प्रतिध्वनि' की कहानियों की आधार-भूमि सुकुमार भाव-वृत्तियों को ही बनाया है। उनको आवृत्त करने के लिए एक झलमल से कथा-परिधान की ओट दे दी गई है। इससे इतिवृत्तों की कथात्मकता में भाव-वृत्तों के उलझ सकने की आशंका बहुत कुछ कम हो गई है।

'प्रतिध्वनि' की सभी कहानियाँ भाव-प्रधान हैं और वस्तुतः 'प्रतिध्वनि' की इन कहानियों से ही हिन्दी में भाव-प्रधान कहानियों का आरंभ भी होता है। प्रतीकात्मक कहानियों की परम्परा का विकास भी, हिन्दी में 'प्रतिध्वनि' से ही शुरू हुआ। इन कहानियों में कथावस्तु या तो कहीं-कहीं एक ही स्थिति, घटना या परिदृश पर आधृत 'एनेक्डोट' के कथानक जैसी नितांत सूक्ष्म है, और यदि किसी-किसी में कुछ स्पष्ट भी है तो उतनी ही जितनी पत्तियों में उनकी शिराएँ। किसी विशेष प्रकार की मनःस्थिति, भावपरिस्थिति, वातावरण अथवा रहस्य-भावना को ही कहानी का रूप दे दिया गया है। पाठक के मन पर कहानी का प्रतिपाद्य—भाव-विशेष ही अधिक उभड़ता है। कथानक-तत्व और (कुछ कहानियों को छोड़कर) पात्रों का स्थान नितान्त गौण है।

'प्रतिध्वनि' की अनेक कहानियों में भाव-विवृति और अतीत-यात्रा के मोह को छोड़कर, वर्तमान जीवन में सामाजिक या आर्थिक व्यवस्था से पीड़ित जन समुदाय पर भी लेखक ने दृष्टि डाली है। 'गूदड़ी में लाल,' 'करुणा की विजय' और 'दुखिया' इसी वर्ग को लक्ष्य करके लिखी गई कहानियाँ हैं।

१—'हंस'-सितंबर १९३१ में रायकृष्णदास का 'साधना का अतीत' शीर्षक लेख द्रष्टव्य।

पर वास्तव में 'प्रतिध्वनि' के लेखक ने बाह्य जीवन की घटनाओं, स्थितियों और द्वन्द्वों को छोड़कर मानव के हृदयस्थ घात-प्रतिघातों, उसकी रहस्यमय हलचलों और जीवन के निगूढ़ तत्वों के विवेचन को ही अपना प्रतिपाद्य बनाया है। कथांश की अपेक्षा, प्रायः सभी कहानियों में, व्यंजना ही अधिक है। जहाँ कहीं भी, लेखक ने देखा है कि बिना कथांश की सहायता लिये भी भाव-व्यंजना हो सकेगी, उसने उसे निःसंकोच त्याग दिया है।

प्रयोग काल एक सर्वेक्षण

अपने उपर्युक्त तीन प्रयोगों में प्रसाद जी ने जो कहानियाँ लिखीं, उन्हें स्थूल रूप से तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(क) विशुद्ध रूप से भाव-विवृति करनेवाली रूपकप्रधान कहानियाँ;

(ख) इतिवृत्तों की छाया में किसी भाव-विशेष या किसी समस्या का मार्मिक चित्रण करनेवाली कहानियाँ ;

(ग) ऐतिहासिक और सामाजिक कहानियाँ।

प्रथम वर्ग की कहानियों में कथा-तत्व अत्यल्प है। वातावरण-निर्माण की ओर भी कम ध्यान दिया गया है। किसी मनोवृत्तिविशेष, हृदय की किसी अव्यक्त लालसा की कसक या किसी मानसिक उलझन को लेकर उसे एक अति सामान्य घटना से जोड़ते हुए एक गद्य-गीत की रचना कर दी गई है। 'छाया' में इस प्रकार की कहानियाँ नहीं हैं। 'प्रतिध्वनि' की 'प्रसाद', 'उस पार का योगी' और 'प्रलय' इसी कोटि की कहानियाँ हैं। इन कहानियों में संवेदना तो मार्मिक है, पर गीतात्मक और विचार-गूढ़ हो जाने से, कहीं-कहीं अस्पष्टता भी आ गई है। दूसरे वर्ग की कहानियों में स्पष्ट कथा-सूत्र हैं किन्तु उनका रूप भी सूक्ष्म ही है। 'छाया' की कुछ कहानियाँ तथा 'गूदड़ी में लाल', 'अघोरी का मोह', 'पाप की पराजय' आदि कहानियाँ उदाहरणार्थ ली जा सकती हैं। तीसरे वर्ग की कहानियों में एकसूत्रता है, प्रवाह है और कथातत्वों में गठन है।

ऐसी कहानियाँ 'छाया' में तो अधिक हैं, पर 'प्रतिध्वनि' में दो ही हैं— 'खँडहर की लिपि' और 'चक्रवर्ती का स्तंभ'। 'छाया' की इस वर्ग की कहानियों में वर्णनात्मकता की प्रवृत्ति विशेष है, पर 'प्रतिध्वनि' की ये दोनों कहानियाँ, उसकी अन्य कहानियों की भाँति ही, ऐतिहासिक होते हुए भी गीतात्मक हैं।



: ३ :

प्रसाद की कहानियाँ : प्रौढ़ युग

[सामान्य विवेचन]

क्रमागत विकास

'छाया' में प्रसाद की प्रेममूलक अतीतोन्मुख प्रवृत्ति की समुचित झाँकी मिल चुकी थी। उसके पश्चात, 'प्रतिध्वनि' की रूपविधान में रेखाचित्र एवं भावविधान में गद्य-गीत के निकट की कहानियों में, 'छाया' की इतिवृत्तात्मकता अत्यन्त सूक्ष्म और भावात्मक रूप लेकर प्रकाशित हुई। १९२६ ई० में 'प्रतिध्वनि' का प्रकाशन हुआ; और एक प्रकार से प्रसाद के सम्पूर्ण साहित्य का प्रयोग-युग यहीं समाप्त हो जाता है। काव्य के क्षेत्र में उनकी प्रतिभा अब 'झरना' और 'आँसू' जैसी गम्भीर कृतियों के निर्माण में लगी। नाटक-क्षेत्र में यहाँ से जिस नये युग का आरम्भ हुआ, उसमें 'जनमेजय का नाग यज्ञ' (१९२६ ई०) 'कामना' (१९२७ ई०) और 'स्कन्दगुप्त' (१९२८ ई०) जैसे उत्कृष्ट नाटकों की सृष्टि हुई। कहानी-क्षेत्र में प्रसाद जी अब प्रयोग-युग से आगे बढ़े। रूप-विधान एवं वस्तु-संगठन की दृष्टि से 'आकाशदीप' की कहानियाँ 'छाया' और 'प्रतिध्वनि' से अभिन्न कोटि की होती हुई भी कलात्मक योजना में इतनी नई प्रतीत होती हैं कि लगता है जैसे 'प्रतिध्वनि' और 'आकाशदीप' के बीच में पड़नेवाले संभावित प्रयोगों की दीर्घ स्थिति को, लेखक ने सहसा पार कर लिया है।

यद्यपि इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि 'आकाशदीप' का

निर्माण जिन उपादानों से हुआ, वे 'छाया'–'प्रतिध्वनि' में भी थे—उनके निर्माण में भी उन्हीं तत्वों का योग रहा है। पर किसी भी क्षेत्र में प्रयोक्ता की जो सीमाएँ हुआ करती हैं, 'छाया'–'प्रतिध्वनि' के कलाकार के चतुर्दिक भी वे सीमाएँ घिरी थीं। 'आकाशदीप' की कहानियों में लेखक अपने पूर्व-प्रयोगों के अनुभव के आधार पर इतिवृत्तात्मकता एवं भावशबलता के बीच सामञ्जस्य की कड़ी स्थापित कर, नये रचना-विधान को अपनाता है—कुछेक सूक्ष्म विभेदकताओं के साथ यही प्रवृत्ति १९३६ ई० तक की कहानियों में समभाव से कार्य करती दृष्टिगोचर होती है। १९२६ से १९२८ ई० तक की कहानियाँ, जिनमें से कुछ में सूक्ष्म कथा-परिवेश के साथ 'प्रतिध्वनि'-जैसी भाव-विवृति विशेष है, 'आकाशदीप' (१९२९ ई०) में संगृहीत हैं।

इसके बाद १९२९ से १९३१ ई० तक का काल प्रसादजी के लिए अन्तःसंघर्ष का काल रहा है। इस कालावधि में उनकी चेतना जहाँ एक ओर अतीत के रमणीय पृष्ठों की मनोहारिता पर मँडराती रही है, वहीं अधःपतित वर्तमान की दुरवस्था देखकर उसे ग्लानि और पीड़ा भी हुई है। इसी काल में उन्होंने गलित वर्तमान के 'कंकाल' को चित्रित किया (१९२९ ई०) और साथ ही 'चन्द्रगुप्त मौर्य' के रूप में उज्ज्वल अतीत की भी अभ्यर्थना की (१९३१ ई०)। इन दोनों ही प्रवृत्तियों के घात-प्रतिघातों का सुन्दर चित्र, इस काल की 'आँधी' में संकलित कहानियों में अंकित है—लेखक कभी दुःसह वर्तमान को देख 'मधुआ', 'घीसू', 'बेड़ी' और नीरा' का निर्माण करता है, कभी मधुर अतीत की झाँकी उसे 'दासी' और 'पुरस्कार' लिखने को विवश करती है। साथ ही, लेखक के हृदय का मूल प्रेरक भाव सौन्दर्योपासक प्रेम भी, अपनी पूरी सज-धज के साथ, अपने को एक क्षण भी भूलने का अवसर न देकर, उसे बराबर अपनी ओर आकर्षित करता रहता है। कलाकार के अन्तर्द्वन्द्व की यह आँधी अत्यन्त स्पष्ट रूप से 'आँधी' में व्यंजित हो सकी है।

इस युग के तीसरे कहानी-संग्रह 'इन्द्रजाल' की कहानियाँ वस्तु-तत्व की दृष्टि से पिछले दोनों संग्रहों के समान ही हैं। 'इन्द्रजाल' का रचना-काल 'लहर' (१९३५ ई०) और 'कामायनी' (१९३७ ई०) के बीच का है; और इसी काल में (१९३५ ई०) 'तितली' जैसी सामाजिक समस्या-सापेक्ष कृति का भी निर्माण हुआ। अतएव 'इन्द्रजाल' की कहानियों में भी, 'लहर' की चिन्तनशील भावुकता के साथ कुछ-कुछ 'कामायनी' की सांस्कृतिक महाप्राणता की कोटि की उदात्त भावना, एवं 'तितली' जैसी आदर्शोन्मुख चेतना से प्रेरित होकर युग-समस्याओं को छूने और सुलझाने का प्रयत्न, प्रच्छन्न रूप से विद्यमान है। यहाँ दार्शनिक रूपक-प्रधान कहानियों का अभाव है। किसी प्रकार के गूढ़ सैद्धान्तिक विवेचन का भी उतना आग्रह नहीं। स्त्री-पुरुष के परस्पर-सम्बन्धों के विभिन्न पक्षों को लेकर, सफल-असफल प्रेम की विविध स्थितियाँ चित्रित करने की प्रवृत्ति उतनी ही प्रबल है, जितनी पीछे के दोनों संकलनों में रही है। 'छोटा जादूगर' और 'विराम-चिह्न' में आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था से पीड़ित वर्ग की ओर दृष्टिपात किया गया है, 'नूरी' और 'गुंडा' में प्रेम-पूजा का आदर्श दिखा कर 'सालवती' में युग की एक बहुत बड़ी समस्या, 'वेश्या'-समस्या को इतिहास के पृष्ठाधार पर रखकर, सुलझाने का प्रयास है।

'आकाशदीप', 'आँधी' और 'इन्द्रजाल' के बीच न तो वस्तु-तत्व और न रचना-कौशल की दृष्टि से ही कोई ऐसी निश्चित रेखा खींची जा सकती है, जो इन्हें भिन्न स्तर या भिन्न प्रयोगों की कृतियाँ सिद्ध कर सके। यदि इनमें कुछ विभेदकताएँ हैं भी, तो वे उतनी ही हैं जितनी किसी भी संग्रह की विभिन्न कहानियों में सरलतापूर्वक निर्दिष्ट की जा सकती हैं। अतएव विषय, शैली या कला की दृष्टि से 'आकाशदीप' को एक युग की और 'आँधी' तथा 'इन्द्रजाल' को दूसरे युग की कृति मानने का आग्रह विशेष संगत नहीं प्रतीत होता। यदि इन तीनों संग्रहों को अलग-

अलग लेकर विचार किया जाय, तो इसमें विवेचन की सुविधा का दृष्टिकोण ही होना चाहिए, तीनों को क्रमिक विकास के दो या तीन भिन्न सोपान मान कर चलने का नहीं।

'आकाशदीप'

'आकाशदीप' १६२८ से १६२६ ई० तक के बीच लिखी गई उन्नीस कहानियों का संग्रह है। प्रायः सभी कहानियों का विषय प्रेम है। इनमें 'छाया' और 'प्रतिध्वनि' की भाँति प्रेम के किसी अंग-विशेष को न अपना कर, लेखक ने उसे व्यापक रूप में ग्रहण किया है। प्रेम के विविध खण्ड-चित्रों के साथ लेखक ने इन कहानियों में, मानव के अन्तर्मन में प्रसुप्त और जीवन-लहरों से सहसा जग कर प्रबुद्ध हो जानेवाले कितने ही गूढ़ रहस्यों, लालसाओं और राग-विरागों का सफल अंकन किया है। शैली की दृष्टि से कुछ कहानियाँ 'छाया' की कहानियों के ढंग की हैं, जिनमें इतिवृत्तांश अपेक्षाकृत अधिक है तथा कुछ कहानियाँ 'प्रतिध्वनि' के ढंग की हैं, जिनमें रेखाचित्रों तथा गद्यगीतों की सांकेतिकता और प्रगीतात्मकता का अंश विशेष है।

एक नया तत्व जो 'आकाशदीप' की प्रायः सभी कहानियों में समान रूप से देखा जा सकता है, और जो अब तक की कहानियों में बहुत ही न्यून मात्रा में था, वह है नाटकीयता का समावेश। चाहे प्रथम वर्ग की 'आकाशदीप' कहानी हो, 'स्वर्ग के खंडहर में', 'भिखारिन' या 'देवदासी' हो अथवा द्वितीय वर्ग की 'कला', 'समुद्र-संतरण', 'ज्योतिष्मती' या 'रमला' हो—किसी न किसी रूप में यह तत्व सबमें पाया जाता है। हाँ, यह अवश्य है कि कुछ कहानियों में नाटकीयता के सहारे ही व्यंजना कराई गई है, कुछ में इसे व्यंजना को मुखरित करने के लिए अत्यन्त सूक्ष्म रूप में ग्रहण किया गया है तथा कुछ में गीतात्मकता के साथ मिलकर यह तदाकार हो गई है। जहाँ समस्या को तनाव, द्वन्द्व को उभार और कथा को आकस्मिक रूप से गति देना अपेक्षित हुआ है, वहाँ कथोपकथनों

के रूप में यह तत्व अधिक ग्राह्य हुआ है। उदाहरणस्वरूप क्रम से 'आकाशदीप' का प्रारम्भ, 'बनजारा' का अन्त और 'रमला' तथा 'विसाती' का मध्यांश लिया जा सकता है। कथोपकथन के अतिरिक्त, कहानियों की रंगमंचीय साज-सज्जा में भी नाटकीयता द्रष्टव्य है। 'स्वर्ग के खंडहर में' कहानी का कथानक जिस पृष्ठभूमि पर स्थित है, नाटकीयता ही उसका प्राण है।

इस संग्रह की कहानियाँ इस क्रम से हैं—'आकाशदीप', 'ममता', 'स्वर्ग के खंडहर में', 'सुनहला साँप', 'हिमालय का पथिक', 'भिखारिन', 'प्रतिध्वनि', 'कला', 'देवदासी', 'समुद्र-संतरण', 'वैरागी', 'बनजारा', 'चूड़ीवाली', अपराधी', 'प्रणय-चिह्न', 'रूप की छाया', 'ज्योतिष्मती', 'रमला', और 'विसाती'।

इन कहानियों को कई प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है। कथा-वस्तु के स्वरूप की दृष्टि से कथानक की स्थूल इतिवृत्तप्रधान वर्णनात्मकता, चरित्रांकन में चरित्रगत रेखाओं की मार्मिक और सूक्ष्म विवृति एवं किसी विशेष प्रकार की मनोदशा के चित्रण से क्रमशः घटनाप्रधान, चरित्र-प्रधान, एवं भाव-प्रधान कहानियों की सृष्टि होती है। प्रसाद ने शुद्ध घटना प्रधान कहानियाँ नहीं लिखीं। 'आकाशदीप' की कहानियों में से अधिकांश भाव-प्रधान कहानियों की श्रेणी में रखी जा सकती हैं—'सुनहला साँप', 'हिमालय का पथिक', 'भिखारिन', 'प्रतिध्वनि', 'कला', 'समुद्र-संतरण', 'वैरागी', 'बनजारा', 'प्रणयचिह्न', 'रूप की छाया' और 'विसाती' आदि में, किसी भाव-विशेष की उठी हुई तरंग को ही कथासूत्र में बाँधकर कहानी का रूप दे दिया गया है। 'आकाशदीप', 'ममता', 'देवदासी' और 'चूड़ी वाली' चरित्रप्रधान कहानियों की श्रेणी में रखी जा सकती हैं।

इसके अतिरिक्त पृष्ठभूमि-योजना और वातावरण-निर्माण को दृष्टिगत रख एक अन्य प्रकार की कहानी की भी रचना की जाती है, जिसे

वातावरणप्रधान कहानी कहते हैं। देश-काल और परिस्थिति का जो स्थूल चित्रण किया जाता है उसे पृष्ठभूमि कहते हैं; किन्तु इनके सामूहिक प्रभाव से जिस मानसिक परिवेश का मिर्माण होता है उसे वातावरण कहते हैं।[1] जब किसी परिस्थिति विशेष में पड़े हुए मानव-चरित्र या चरित्रों को लेखक उनके वातावरण के साथ इस ढंग से चित्रित करता है कि कहानी में आद्यन्त वह वातावरण वायुमंडल के रूप में छाया रहे और उसके प्रभाव-समूह के ऊपर भी छाया-रूप में पाठक के मस्तिष्क पर देर तक लहराता रहे, तो ऐसी कहानी को वातावरणप्रधान कहानी कहते हैं।

'स्वर्ग के खंडहर में' प्रसाद जी की उत्कृष्ट वातावरण-प्रधान कहानी है। इतिहास के क्रोड़ में पहुँचकर लेखक की कल्पना ने शेख के जिस स्वर्ग का चित्रण किया, अपनी विमुग्ध मादकता और मूर्च्छना में वस्तुतः वह दुखभरी धरती पर रहकर भी, उसके तापों से रक्षित स्वर्ग ही प्रतीत होता है। वहाँ पहुँचकर गुल अपना कर्तव्य भूल जाता है, देवपाल अपनी ममता भूल जाता है। वह सबके लिए केवल विलास का आमंत्रण देता है। तात्पर्य यह कि लेखक इसमें विविध प्रसंगों के संयोजन से एक ऐसे असामान्य वातावरण का निर्माण करता है, जिससे पढ़ते समय पाठक के संवेद्य-जगत में भी उसी के अनुरूप एक मानसिक परिवेश की सृष्टि होती जाती है, और वह सम्बद्ध पात्रों को उसी विशिष्ट प्रकार के परिवेश-मंडल में ही देखता है, समझता है और उसे उनसे उसी भाव-भूमि पर सहानुभूति की प्रतीति होती है। 'आकाशदीप' कहानी भी सुंदर वातावरण-प्रधान कहानी है।

कुछ लोगों ने आकार की दृष्टि से भी प्रसाद जी की कहानियों का वर्गीकरण करके अध्ययन करना चाहा है। पर इस प्रकार का वर्गीकरण

1—'The Art and the Business of Story Writing : Water B. Pitkin, pp. 193-194.

अत्यन्त स्थूल और अवैज्ञानिक है। प्रसाद की कहानियों की मूलवृत्ति इतनी अन्तर्मुखी है कि उनके बाह्याकार की पृष्ठानुसार नाप-जोख करके उनके साथ उचित न्याय नहीं किया जा सकता। किसी भाव या वृत्ति विशेष को लेकर लिखी गई लघु आकारवाली कहानियाँ पाठक की संवेदना को हलके-से स्पर्शकर नाटकीय ढंग से समाप्त हो जाती हैं। किन्तु इन लघुप्रसारगामी कहानियों में कितनेक ऐसी हैं, जिनकी व्यञ्जकता बड़ी आकारवाली कहानियों से किसी अंश में भी कम नहीं, अपितु उनकी चुभन और प्रेषणीयता अपने घनत्व के कारण और भी संवेद्य और मार्मिक बन सकी है। उदाहरणार्थ 'बनजारा' कहानी को लिया जा सकता है। मोनी के विवश प्रेम की आकुलता को 'विसाती' के शीरीं के कातर प्रेम की भाँति प्रस्फुटित रूप में न दिखाकर अत्यंत संयत ढंग से थोड़ी सी ही पंक्तियों में इस प्रकार व्यक्त कर दिया गया है :

"तो मैं लौट जाऊँ ?"

"हाँ लौट जाओ; जब तक ओस की बूँदों से ठंढी धूल तुम्हारे पैरों में लगे, उतने ही समय में अपना पथ समाप्त कर लो।"

"मैं लादना छोड़ दूँगा मोनी !"

"ओह , यह क्यों ? मैं इस पहाड़ी पर निस्तब्ध प्रभात में घंटियों के मधुर स्वर की आशा में अनमनी बैठी रहती हूँ। वह पहुँचने का बोझ, उतारने के व्याकुल विश्राम का अनुभव करके सुखी रहती हूँ। मैं नहीं चाहती कि किसी को लादने के लिये बोझ इकट्ठा करूँ नन्दू !"

किन्तु इसकी या इसी आकारवाली अन्य अनेक छोटी कहानियों की संवेदना न तो मध्यम आकार की किसी कहानी की संवेदना से कम चुभनशील है, और न पन्द्रह-बीस पृष्ठोंवाली किसी बड़ी कहानी की संवेदना से।

मध्यम आकारवाली कुछ कहानियाँ परिपार्श्व रूप में प्रायः प्रकृति और जीवन के तादात्म्य भाव को लेकर आरम्भ हुई हैं और गीतात्मक

कल्पना की लाक्षणिक वक्रता तथा अपेक्षाकृत विस्तृत प्रसार के साथ इतिवृत्त द्वारा स्थायी प्रभाव उभाड़ने का लक्ष्य रखती हैं। किन्तु यह वृत्ति इस प्रकार की प्रत्येक कहानी में निर्दिष्ट नहीं की जा सकती। दूसरी ओर, अनेक लघुप्रसारगामी कहानियों में भी पृष्ठभूमि-निर्माण द्वारा कहानी के मूल प्रेरक-भाव की सफल व्यंजना की गई है। अन्तर केवल इतना है कि छोटी कहानियों में, स्थानाभाव और क्षिप्रता के वेग के कारण चित्रण के लिए उतना अवकाश न होने से, चित्रण रेखाचित्र शैलीपर ही सम्भव हो सका है, रेखाओं को इच्छित उभार और रंग-रूप नहीं दिया जा सका है। अपेक्षाकृत बड़ी कहानियों में, पूर्वपीठिका रूप में प्राय: जीवन और प्रकृति साथ-साथ संग्रथित हैं तथा वहीं से कहानी का प्रतिपाद्य ध्वनित होने लगता है। उदाहरणार्थ 'विसाती' की चित्रात्मक पूर्वपीठिका दर्शनीय है!

"...दाड़िम के लाल फूलों की रँगीली छाया सन्ध्या की अरुण किरणों से चमकीली हो रही थी। शीरीं उसी के नीचे शिलाखण्ड पर बैठी हुई सामने गुलाबों की झुरमुट देख रही थी, जिसमें बहुत से बुलबुल चहक रहे थे। वे समीरण के साथ छूल-छुलैंया खेलते हुए आकाश को अपने कलरव से गुंजरित कर रहे थे।

"शीरीं ने सहसा अपना अवगुंठन उलट दिया। प्रकृति प्रसन्न हो हँस पड़ी।...गुलाबों के दल में शीरीं का मुख राजा के समान सुशोभित था। मकरन्द मुँह में भरे दो नील भ्रमर उस गुलाब से उड़ने में असमर्थ थे, भौंरों के पर निस्पन्द थे। कँटीली झाड़ियों की कुछ परवाह न करते हुए बुलबुलों का उनमें घुसना और उड़ भागना शीरीं तन्मय होकर देख रही थी।"

इस संगीतमय सम्पन्न वातावरण के बीच विभोर होकर शीरीं का बुलबुलों की क्रीड़ा देखना, काँटों की परवाह किये बिना उनका गुलाब की झाड़ियों में घुसना और फिर उड़ भागना आदि वस्तुत: आगे घटित

होनेवाली घटनाओं—शीरीं का अपने बुलबुल, प्रेमी युवक के लिए प्रतीक्षा करना, बाधाओं और कष्टों की परवाह किये बिना एक दिन अचानक उसका आ जाना और फिर चुपचाप भेंट के रूप में अपना सारा सामान छोड़कर चले जाना आदि—की ही पूर्वव्यञ्जना है।

काव्यमय रूप-चित्रण और लाक्षणिक कथोपकथन प्रसाद की कहानियों की अपनी विशेषताएँ हैं। जहाँ कहीं अवकाश और अवसर मिला है, प्रसाद ने बड़े ही जीवन्त और मोहक रूप-चित्र प्रस्तुत किये हैं। छोटी कहानी की सँकरी भूमिका में उनके हाथ बँधे रहते थे और बड़ी कहानियों में इसके लिए उन्हें भरपूर अवसर मिलता था। 'चूड़ीवाली' कहानी में चूड़ीवाली का रूप-चित्र कितना सजीव और काव्यात्मक है :

"वह २५ वर्ष की एक गोरी छरहरी स्त्री थी। उसकी कलाई सचमुच चूड़ी पहनाने के लिए ढली थी। पान से लाल पतले-पतले ओठ दो-तीन वक्रताओं में अपना रहस्य छिपाये हुए थे। उन्हें देखने का मन करता, देखने पर उन सलोने अधरों से कुछ बोलवाने का जी चाहता। बोलने पर हँसाने की इच्छा होती और उस हँसी में शैशव का अल्हड़पन, यौवन की तरावट और प्रौढ़ा की-सी गम्भीरता बिजली के समान लड़ जाती।"

विस्तार के लिए जितना ही अधिक अवकाश और अवसर मिल सका है, प्रसाद का कवित्व उतना ही अधिक प्रस्फुटित हुआ है। साथ ही उनकी चिन्तनशीलता और अन्तर्द्वन्द्व-चित्रण के लिए भी छोटी कहानियों की अपेक्षा बड़ी कहानियों में कुछ अधिक अवसर मिला है। प्रबन्धपटुता की दृष्टि से देखने पर प्रसाद की छोटी-बड़ी कहानियों के बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। उन्होंने अपनी छोटी-बड़ी किसी भी प्रकार की कहानी को अनपेक्षित फैलाव-प्रसार नहीं दिया है। क्या वस्तु और क्या शिल्प हर दृष्टि से उनमें एक गठन और कसाव है जो प्रसाद की कहानियों की अपनी विशेषता है।

'आकाशदीप', 'स्वर्ग के खंडहर में' तथा 'देवदासी'—तीनों ही कहानियों में प्रकृति और परिस्थिति का विस्तृत चित्रांकन, काव्यमय भाव-विवृत्ति, बिम्बात्मक रूप-चित्र एवं चित्रमयी भाषा के दर्शन होते हैं। तीनों ही में अन्तर्द्वन्द्व तथा भावों और मनोवेगों के घात-प्रतिघात का बड़ा विस्तृत एवं मनोवैज्ञानिक चित्रण हुआ है।

विषय-वस्तु की दृष्टि से देखने पर 'आकाशदीप', 'ममता', 'स्वर्ग के खंडहर में' कहानियाँ ऐतिहासिक या अतीतोन्मुख काल्पनिक हैं। 'भिखारिन' कहानी में समाज के आर्थिक व्यवस्था से पीड़ितवर्ग के प्रति सहानुभूति का भाव व्यक्त किया गया है। इसका एक वाक्य बड़ा ही मार्मिक और व्यंगपूर्ण है—'दरिद्र की तो एक ही जाति होती है।' 'ममता', 'प्रतिध्वनि' और 'देवदासी' कहानियों में सामाजिक रूढ़ियों और कठोरताओं के प्रति विक्षोभभरा व्यंग है। 'आकाशदीप', 'प्रतिध्वनि', 'देवदासी', 'समुद्र संतरण', 'बैरागी', 'बनजारा', 'अपराधी', 'रूप की छाया' नामक कहानियाँ अन्तर्मन के निगूढ़ भाव या भावों और उनके परस्पर द्वन्द्वों को मनोवैज्ञानिक ढंग से उद्घाटित करनेवाली कहानियाँ हैं। 'समुद्र-संतरण' और 'ज्योतिष्मती' में नारी-पुरुष-सम्बन्ध का दार्शनिक भूमि पर प्रतीकात्मक ढंग से विवेचन हुआ है। 'आकाशदीप', 'स्वर्ग के खंडहर में', 'हिमालय का पथिक', 'देवदासी', 'बनजारा', 'चूड़ी वाली', 'अपराधी', 'प्रणय चिह्न', 'रमला', एवं 'विसाती' नामक कहानियों में उक्त सम्बन्ध का भावात्मक आधार पर कल्पना-प्रवण चित्रण किया गया है।

'देवदासी' और 'स्वर्ग के खंडहर में' नामक कहानियों में लेखक का मानवतावादी दृष्टिकोण बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त हुआ है। 'स्वर्ग के खंडहर में' कहानी का एक पात्र कहता है—"स्वर्ग ? इस पृथ्वी को स्वर्ग की क्या आवश्यकता है शेख ? ना, ना, इस पृथ्वी को स्वर्ग के ठेकेदारों से बचाना होगा। पृथ्वी का गौरव स्वर्ग बन जाने से नष्ट हो जायगा। पृथ्वी को केवल वसुन्धरा होकर मानवता के लिए जीने दो, अपनी आकांक्षा

के कल्पित स्वर्ग के लिए, क्षुद्र स्वार्थ के लिए इस महती को, इस धरती को नरक न बनाओ जिसमे देवता बनने के प्रलोभन में पड़कर मनुष्य राक्षस न बन जाय, शेख !"

"'आकाशदीप' की अधिकांश कहानियों में लेखक का मानसिक झुकाव बौद्ध-दर्शन की करुणा की ओर दिखाई पड़ता है। "वस्तुत: बौद्ध-दर्शन से प्रसाद जी ने दो महान सत्य ढूँढ़ निकाले—नारी शक्ति की महानता और उनका सम्मान; तथा मानव जीवन की करुणा और मानव के प्रति क्षमा, दया और प्यार[1] ।" 'आकाशदीप' की प्राय: समस्त कहानियाँ इसी लक्ष्य-बिन्दु के चतुर्दिक वृत्त बन कर फैली हुई हैं। 'आकाशदीप', 'चूड़ी वाली', 'देवदासी', 'स्वर्ग के खंडहर में'—आदि कहानियों में करुणा की पावन धारा में स्नात नारी के गरिमामय, त्यागपूर्ण, स्नेहशील, क्षमामय और ममतालु रूप का चित्रण हुआ है। 'ममता', 'बनजारा', और 'बिसाती' में भी जीवन की करुणा भावना का मन्द स्रोत बहता हुआ दिखाई पड़ता है। 'अपराधी' और 'वैरागी' कहानी में, सात्विक भाव से मानव द्वारा मानव के प्रति क्षमा एवं त्याग भाव का सुन्दर चित्रांकन हुआ है।

'आकाशदीप' की कहानियाँ मूलत: संवेदनात्मक कहानियाँ हैं। यथार्थ जीवन के दैनिक कार्य-व्यापारों के प्रति लेखक की यथार्थ-दृष्टि का इनमें भले ही अभाव दिखाई पड़े, पर इन कहानियों के लेखक ने मानव-हृदय की मूल वृत्तियों को पहचाना है, स्पर्श किया है और उन्हें कलापूर्ण ढंग से चित्रित किया है, इस सत्य से इनकार नहीं किया जा सकता। इसीलिए ये कहानियाँ कहानी-कला के अधिकांश रचना-विधानों का उल्लंघन करके भी, कहानी-साहित्य की अमूल्य निधि मानी जाती हैं।

१—'हिन्दी कहानियों की शिल्प विधि का विकास' : डा० लक्ष्मीनारायण लाल; पृ० २१४ ।

'आँधी'

यह प्रसाद का चतुर्थ कहानी संग्रह है। इसमें १९२९ से १९३३ ई० तक के बीच लिखी गई ग्यारह कहानियों का संकलन है। इसका प्रथम संस्करण १९३३ ई० में प्रकाशित हुआ।

'आँधी' में 'आकाशदीप' के कल्पनाशील भावुक कवि प्रसाद, यथार्थ-भूमि के दुख-दर्द को समझनेवाले अनुभूति-प्रवण चित्रकार बन गये हैं। जीवन के प्रति 'आकाशदीप' का भावात्मक दृष्टिकोण यहाँ विचारगम्भीर निरीक्षण के रूप में बदल गया है। सामान्य रूप से तो प्रसाद के प्रायः सभी विशिष्ट पात्र आदर्श के छोर को छूते हुए प्रतीत होते हैं, 'आँधी' के पात्र भी वैसे ही हैं, पर लेखक ने अपनी आदर्शोन्मुखता एवं स्वच्छ-न्दतावादी अभिरुचि के अतिरेक में आकर, उन्हें धरती से परे अपरिचित प्राणियों का रूप नहीं दिया है। जीवन के थपेड़े, जिन्हें प्रसाद प्रायः 'नियति' या 'भाग्य' के रूप में देखते हैं, आँधी की तरह आकर क्षणभर में ही कितना उलट-फेर कर जाते हैं, असंख्य प्राणियों का जीवन-क्रम तृण के समान टूटकर कैसे बिखर जाता है—कवि, चिन्तक और कथाकार प्रसाद की प्रतिभा ऐसी ही आँधी में उड़े तिनकों और जीवनधारा के अनन्त उपकूलों से टकरा-टकरा कर बहते मानव-चरित्रों को पकड़कर, उनके दुख-द्वन्द्व, आशा-आकांक्षा और जीवनव्याप्त कटुता में भी छिपी उनकी अनुभूत माधुरी को नानारूप देकर व्यक्त करने की चिर अभ्यस्त रही है। दुख-सुख से आपूर्ण विशाल जीवन के नारी-पुरुष सम्बन्ध-विषयक एक महत्वपूर्ण अंग को लेकर, उसके माध्यम से अन्तरमन और बाह्यजगत के बहुमुखी संघर्षों को चित्रित करने का उनका प्रयास सर्वत्र एकरूप है। किन्तु 'आँधी' की कहानियों की यह विशेषता है कि इनमें लेखक ने अपने अन्तस्थ कवि की अपेक्षा सामाजिक समस्याओं के प्रति जागरूक अपने आलोचक-रूप को अधिक उद्बुद्ध रहने का अवसर दिया है।

'पुरस्कार' को छोड़ अन्य सभी कहानियों में, कहीं भी लेखक वर्तमान समाज और उसकी समस्याओं को भूल नहीं सका है—'आँधी', 'मधुआ', 'दासी', 'घीसू', 'बेड़ी', 'व्रत-भंग', 'ग्रामगीत', 'विजया', 'अमिट-स्मृति', और 'नीरा'—सबमें वर्तमान जीवन के प्रति उसकी सजगता समान रूप से दिखाई पड़ती है। 'आँधी' शीर्षक प्रेम-कहानी में, कला की दृष्टि से बहुत संगत न होने पर भी उसने सथिया मुसहिन और उसके पुत्र कलुआ के रूप में वर्तमान जीवन के दैन्य को चित्रित करने का अवसर निकाल लिया है; और श्रीनाथ द्वारा 'आज तो आप भी समाधिस्थ रहे।' के उत्तर में व्यंग रूप से कहलवाया है, "तब भी इस पृथ्वी पर था। जहाँ लालसा क्रन्दन करती है, दुखानुभूति हँसती है और नियति अपने मिट्टी के पुतलों के साथ अपना क्रूर मनोविनोद करती है ...।" 'व्रत-भंग' और 'दासी' में लेखक ने कथानक के ऐतिहासिक होते हुए भी, आनुषंगिक रूप से क्रमशः समाज-सेवा और राष्ट्र-प्रेम का भाव व्यक्त किया है। 'पुरस्कार' में भी, एक प्रकार से, राष्ट्रप्रेम के लिए व्यक्तिगत स्वार्थों और सम्बन्धों को उत्सर्ग कर देने की उदात्त प्रेरणा है। 'मधुआ', 'घीसू', 'बेड़ी', 'विजया', 'अमिट-स्मृति' और 'नीरा' तो स्पष्ट रूप से वर्तमान के करुण क्रन्दन की ही कहानियाँ हैं। प्रायः सभी कहानियों के पीछे सामाजिक जीवन की किसी समस्या की आलोचना है और अव्यक्त या व्यक्त रूप से उसके प्रति आक्रोश, व्यंग एवं सुधार का भाव व्यक्त हुआ है।

इस संग्रह की कहानियाँ अनुक्रम से इस प्रकार हैं—'आँधी', 'मधुआ', 'दासी', 'घीसू', 'बेड़ी', 'व्रत-भंग', 'ग्रामगीत', 'विजया', 'अमिट-स्मृति', 'नीरा' और 'पुरस्कार'। कहानी-तत्व की दृष्टि से वर्गीकृत करने पर इनमें 'आँधी', 'मधुआ', 'दासी' और 'पुरस्कार' चरित्रप्रधान कहानियाँ हैं। 'घीसू', 'बेड़ी', 'व्रत-भंग', 'ग्रामगीत', 'विजया', 'अमिट-स्मृति' और 'नीरा' में लेखक एक या अनेक अनुभूतियों से प्रेरित होकर, स्थूल या सामान्य घटना एवं चरित्र-विधान के सहारे किसी निश्चित भाव-बिन्दु

अथवा भाव-समूहों को व्यंजित करने की ओर प्रयत्नशील है। अतः ये भावप्रधान कहानियाँ कही जा सकती हैं।

'आँधी' की कहानियों का रचना-विधान भी 'आकाशदीप' की कहानियों से कुछ भिन्न प्रकार का है। रेखाचित्रों की सांकेतिकता एवं गद्य-गीतों की काव्यात्मकता को छोड़कर (या केवल आंशिक रूप में ग्रहण करता हुआ) यहाँ लेखक स्थानीय परिस्थिति-योजना का विस्तार से चित्रण कर, एक विशिष्ट प्रकार के वातावरण का निर्माण कर लेना चाहता है। उदाहरणार्थ 'पुरस्कार' कहानी का आरम्भ लिया जा सकता है:

"आर्द्रा नक्षत्र, आकाश में काले-काले बादलों की घुमड़, जिसमें देव-दुन्दुभी का गम्भीर घोष। प्राची के एक निरभ्र कोने से स्वर्ण-पुरुष झाँकने लगा था—देखने लगा महाराज की सवारी। शैलमाला के अञ्चल में समतल उर्वरा भूमि से सोंधी बास उठ रही थी। नगर-तोरण से जय-घोष हुआ, भीड़ में गजराज का चामरधारी शुण्ड उन्नत दिखाई पड़ा। वह हर्ष और उत्साह का समुद्र हिलोरें भरता हुआ आगे बढ़ने लगा।"

यहाँ इतिहास में वर्णित कथानक के वातावरण-निर्माणार्थ, इतिहास के गणतन्त्रकालीन जीवन का जीवन्त चित्र उपस्थित करने के लिए लेखक ने विस्तृत रूप से इन्द्रपूजन-समारोह का वर्णन किया है। 'मधुआ' कहानी में भी शराबी के चरित्र की विशिष्टताओं के सम्यक उद्घाटन के लिए आरम्भ से ही लेखक ने पीठिका-निर्माण करना प्रारम्भ कर दिया है और उसे स्वाभाविक बनाने के लिए यथेष्ट विस्तार भी दिया है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि इन कहानियों की आरम्भिक साज-सज्जा बनाने में लेखक ने प्रकृति को अत्यन्त संयमित ढंग से अपनाया है—उतने ही रूप में उसे ग्रहण किया है, जितना अत्यावश्यक था; अन्यथा घटनास्थल या घटना-व्यापार के परिपार्श्व की सामान्य परिस्थिति ही चित्रांकित की गई है।

'आकाशदीप' की कहानियों में व्यक्त हुई करुणा-धारा 'आँधी' की कतिपय कहानियों में भी फूटती दिखाई पड़ती है। किन्तु यहाँ उसका

स्रोत उतना शीतल, मन्द और मुखर न होकर विविध आन्तर उद्वेलनों के घात-प्रतिघात से विह्वल, उच्छल और मूक विद्रोह बनकर व्यक्त हुआ है। 'आकाशदीप' की 'देवदासी' के जीवन की निस्पन्द, शान्त करुणा, 'आँधी' की 'आँधी', 'दासी', 'नीरा' और 'पुरस्कार' कहानियों में आकर परिस्थिति-भेद से भिन्न-भिन्न रूपों में बदलती हुई भी, मूलतः उसी ढंग की है। यही अन्तर्द्वन्द्व और मूक विद्रोह की भावना 'आँधी' की अधिकांश कहानियों में चरित्र की महानता, कर्तव्य की प्रेरणा और उत्सर्ग की पवित्र ज्योति बनकर प्रकट हुई है। नारी-गरिमा के प्रति जो आस्था-भाव 'आकाशदीप' की 'आकाशदीप', 'ममता', 'स्वर्ग के खँडहर में', 'प्रतिध्वनि', 'देवदासी', 'चूड़ीवाली' और 'अपराधी' कहानियाँ में व्यक्त हुआ था, वही 'आँधी', 'दासी', 'व्रत-भंग', 'नीरा', 'पुरस्कार' आदि में भी दिखाई पड़ता है।

विषय-वस्तु की दृष्टि से वर्गीकृत करने पर 'आँधी' की 'दासी', 'व्रत-भंग' और 'पुरस्कार' कहानियाँ ऐतिहासिक कही जा सकती हैं। यद्यपि इनका कथानक—कुछ अंशों में 'दासी' को छोड़कर—इतिहास-पुष्ट नहीं, पर स्वरूप की दृष्टि से ये अतीतोन्मुख ही हैं। 'मधुआ', 'घीसू', 'बेड़ी', 'नीरा' आदि कहानियों में समाज की आर्थिक-व्यवस्था के असंतुलन से पीड़ित वर्ग की समस्याओं का चित्रण करते हुए, उनके प्रति सहानुभूति व्यक्त की गई है। साथ ही 'घीसू', ग्राम-गीत', 'विजया', 'अमिट-स्मृति' नामक कहानियों में समाज की रूढ़ियों, कुरीतियों और कठोर विधानों के दुष्परिणाम दिखाते हुए, उनके प्रति व्यंग और विद्रोह का भाव प्रकट हुआ है। 'आँधी', 'दासी', 'घीसू', 'व्रत-भंग','ग्राम-गीत' और 'पुरस्कार' में मानव-मन के निगूढ़, भाव या भावों और उनके परस्पर द्वन्द्वों को मनोवैज्ञानिक ढंग से चित्रित किया गया है। 'आँधी', 'दासी', 'ग्राम-गीत', 'घीसू', और 'पुरस्कार' में नारी-पुरुष के प्रेम-सम्बन्ध, उसके विभिन्न रूपों और तत्सम्बन्धित विभिन्न मानसिक क्रिया-

प्रक्रियाओं का भाव-भूमि पर सुन्दर चित्रांकन हुआ है। 'व्रत-भंग' कहानी में नारी के गृहिणी-रूप की अभ्यर्थना है। 'आँधी' संग्रह में 'आकाश-दीप' के समान दार्शनिक, चिन्ताप्रधान, प्रतीकात्मक और किसी भी प्रकार का सैद्धान्तिक विवेचन करनेवाली कहानियाँ नहीं हैं। 'आकाशदीप' की 'ममता' के समान भारतीय संस्कृति के किसी पक्ष-विशेष के प्रति ममत्व भाव से प्रेरित होकर लिखी गई कोई कहानी भी 'आँधी' में नहीं है। 'विजया', 'अमिट-स्मृति' और 'नीरा' में सामाजिक कुरीतियों के प्रति सुधार का आग्रह अवश्य ही स्पष्ट झलकता है।

कला की दृष्टि से 'आँधी', 'दासी,' 'नीरा', 'पुरस्कार' और 'मधुआ' इस संग्रह की उत्कृष्ट कहानियाँ हैं। 'घीसू', 'बेड़ी', और 'व्रत-भंग' की कला मध्यम कोटि की है। 'ग्राम-गीत', 'विजया' और 'अमिट-स्मृति' का स्तर कला की दृष्टि से बहुत ही सामान्य है। किन्तु संवेदना सभी कहानियों में उनका अनिवार्य गुण बनकर समाई हुई है। इसीलिए कला की दृष्टि से निचले स्तर की कहानियों में भी यथेष्ट सजीवता और मार्मिकता का दर्शन होता है।

'इन्द्रजाल'

यह प्रसाद का अंतिम कहानी-संग्रह है। १९३६ ई० में इसका प्रथम संस्करण प्रकाश में आया। इसमें १९३३ से १९३६ ई० के बीच लिखी गई चौदह कहानियाँ संगृहीत हैं। 'आकाशदीप' का कवित्व-वैभव एवं 'आँधी' की परिस्थितियों की झकझोर से विक्षत जीवन की विवश हुंकार, 'इन्द्रजाल' की मनोरम भूमि तक पहुँचकर अपनी पूर्व रंगीनी, भावमयता और बेबशी के साथ, अन्तर्जगत की उलझनों के कारण और अन्तर्मुखी हो गई है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इसमें 'लहर' की चिन्तन-शील भावुकता, 'कामायनी' की सांस्कृतिक महाप्राणता एवं 'तितली' की समाज-सापेक्षता समन्वित होकर व्यक्त हुई है। 'इन्द्रजाल' की कहानियों तक आते-आते लेखक की प्रतिमा अपने विकास के चरमोत्कर्ष पर पहुँच

चुकी थी—आदर्श और यथार्थ, अतीत और वर्तमान, शिव और सुन्दर, सुख और दुख सबसे समझौता कर उसने समरसता की दृष्टि प्राप्त कर ली थी। उसे अनुभव हो चला था कि अतीत की ओर दृष्टिपात करना वर्तमान के प्रति विश्वासघात नहीं—कारण, अपने दृष्टिकोण में वर्तमान और अतीत में फैले व्यापक जीवन को उसकी समग्रता में परखने की शक्ति उसने अर्जित कर ली थी। 'इन्द्रजाल' की समकालीन कृति 'कामायनी' में वह अनुभव कर रहा था कि मानव-जीवन की समस्याएँ, युग-भेद से भिन्न प्रतीत होती हुई भी, मूलतः अभिन्न हुआ करती हैं। वर्तमान और अतीत जीवन के दो खंड नहीं दो क्रम हैं, दो स्थितियाँ हैं। दूसरी ओर, आदर्श और यथार्थ का द्वन्द्व भी 'तितली' में समाप्त हो चुका था।

जीवन-दर्शन में इस प्रकार के सामञ्जस्य-स्थापन से कहानियों के भाव-लोक एवं सर्जन-कला का अप्रभावित रहना असंभव था। फलतः 'चित्र-मंदिर' में सुदूर अतीत के प्रागैतिहासिक काल की, 'देवरथ' में पतनोन्मुख बौद्ध-धर्म की, 'सालवती' में इतिहास के गणतंत्रकालीन समाज की झाँकी प्रस्तुत करते हुए लेखक ने वर्तमान और अतीत के जीवन को एक करके चित्रित किया है। ये कहानियाँ सुदूर अतीत के पृष्ठाधार को अपनाती हुई भी, वर्तमान से दूर और उदासीन नहीं हैं।

'आकाशदीप' और 'आँधी' में जीवन के प्रति लेखक के दो भिन्न दृष्टिकोणों का दर्शन हुआ था, पर 'इन्द्रजाल' की कहानियों में हर प्रकार से उनका समन्वय दिखाई पड़ता है। इसमें जहाँ 'आकाशदीप' के 'सुनहला साँप', 'हिमालय का पथिक' और 'प्रणय-चिह्न' जैसी विशुद्ध प्रेम-व्यञ्जक कहानियों के ढंग की 'इन्द्रजाल', 'नूरी' और 'चित्र-वाले पत्थर' आदि कहानियाँ हैं, वहीं 'आँधी' की 'घीसू', 'बेड़ी,' 'विजया' के ढंग की 'छोटा जादूगर' और 'विराम-चिह्न' जैसी सामाजिक समस्या-सापेक्ष कहानियाँ भी हैं। 'आकाशदीप' की 'समुद्र-संतरण,' और

'ज्योतिष्मती' जैसी कहानियों की प्रतीकात्मकता तो 'इन्द्रजाल' की किसी कहानी में नहीं मिलती, पर इन कहानियों के मूल में छिपा हुआ भाव-विन्दु 'इन्द्रजाल' की कई एक कहानियों में दृष्टिगोचर होता है। 'आँधी' को 'अमिट स्मृति' और 'विजया' के समान समाज-सुधार का स्पष्ट आग्रह भी इस संग्रह की किसी कहानी में नहीं, पर 'विराम-चिह्न' कहानी में अछूतोद्धार समस्या की ओर बड़े कलात्मक ढंग से संकेत किया गया है।

'इन्द्रजाल' संग्रह की कहानियों में कुछ बातें ऐसी दिखाई पड़ती हैं, जो मूल भाव-विन्दु और रचनात्मक विधान में 'आकाशदीप' तथा 'आँधी' की कहानियों से अभिन्न होने पर भी, इन कहानियों को उनसे पृथक कर देती हैं। इन विभेदक गुणों में सर्वप्रमुख गुण है 'इन्द्रजाल' के लेखक की जीवन और जगत के प्रति जागरूक आलोचक-दृष्टि। चाहे सामाजिक जीवन के विस्तृत धरातल पर समाज और व्यक्ति को साथ-साथ परखने वाली 'छोटा जादूगर' कहानी हो, चाहे व्यक्ति-जीवन की एक अति सामान्य घटना, एक बार की जानी या अनजानी फिसलन और उसकी जीवनव्यापी प्रतिक्रिया चित्रित करने वाली 'भीख में' या 'चित्र वाले पत्थर' कहानी हो, सब में लेखक की जीवन और उसकी समस्याओं के तह में पहुँचने वाली सूक्ष्म निरीक्षक दृष्टि का परिचय मिलता है। जहाँ 'छोटा जादूगर' में समाज की आर्थिक विषमता का जीवन्त चित्र उपस्थित करते हुए वह कौशल से यह निर्देशित करता है कि खेलने-खाने की स्वच्छन्द वय में भी मनुष्य अपनी परिस्थितिवश कितना कार्यकुशल बन जाता है, वहीं एक सामान्य से कथानक के आधार पर 'भीख में' नामक कहानी में उसने कौशल से, व्यक्ति-जीवन की एक लघु-सी कमजोरी और व्यापक जीवन में उसके भयावह दुष्परिणाम का चित्रांकन किया है। सुदूर अतीत के परदे पर पहुँचकर भी, लेखक ने जीवन और जगत को इसी दृष्टि से देखा है। 'नूरी' इति-

हास के उज्ज्वल पृष्ठ पर चमकते एक कृष्ण विन्दु, अकबर की विलास-क्रीड़ा और उसकी जलन से प्रताड़ित असंख्य क्षुद्र जीवनों की करुण कहानी है। 'देवरथ' पतनोन्मुख बौद्ध-धर्म और उसके विलास-जर्जर मठों के ढोंग पर प्रखर व्यंग है। 'सालवती' में भी इतिहास के मोटे आवरण को पारकर तत्कालीन जीवन और उसकी समस्याओं को, व्यक्ति के हृदय में पलनेवाले समाजगत प्रेम और व्यक्तिगत प्रेम के सनातन संघर्ष को, लेखक ने इसी दृष्टि से देखा है।

'इन्द्रजाल' की कहानियों की दूसरी मुख्य विशेषता है इनके माध्यम से व्यक्ति के अन्तर्मुखी जीवन की रहस्यमय उलझनों को मनोवैज्ञानिक ढंग से परखने का प्रयास। वस्तुतः इस संग्रह की 'इन्द्रजाल' शीर्षक कहानी की मूल संवेदना 'छाया' की 'चन्दा' से बहुत भिन्न नहीं—'इन्द्रजाल' कहानी की नायिका बेला के हृदय की भूख बहुत कुछ 'चन्दा' कहानी की चन्दा के हृदय की तड़पन जैसी ही है, दोनों ही कंजर जीवन के स्वच्छन्द प्रणय-व्यापार से संबद्ध हैं, पर बेला के अन्तर्जगत और उसके उद्वेलनों का जैसा मनोवैज्ञानिक चित्रण 'इन्द्रजाल' में हुआ है, वैसा 'चन्दा' की चन्दा का नहीं हो सका है। 'सलीम', 'परिवर्तन', 'सन्देह,' 'भीख में', 'चित्र वाले पत्थर', 'चित्र-मन्दिर' आदि सभी कहानियों में लेखक का झुकाव किसी मानसिक ग्रन्थि-विशेष और उसके सुलझाव-समाधान या चित्रण की ओर दिखाई देता है। 'चित्र-मन्दिर' का तो केन्द्रविन्दु ही यह दिखाना है कि मानव में पहली बार सहानुभूति, हर्ष, शोक, और प्रेम के विविध मनोभाव कैसे जागृत हुए होंगे, कैसे वह उनसे अभिभूत हो उठा होगा, और कैसे उन्हें प्रथम बार उसने अभिव्यक्ति दी होगी। ऐसा लगता है जैसे 'प्रतिध्वनि' और 'आकाशदीप' के भावुक प्रसाद 'इन्द्रजाल' में आकर, भावों और उनके द्वन्द्वों के चित्रकार की अपेक्षा उनके विश्लेषक बन रहे थे। साथ ही 'परिवर्तन', 'सन्देह,' 'भीख में', तथा 'चित्रवाले पत्थर' आदि कहानियों को देखने से यह अनुमान पुष्ट

होता है कि, यदि वे कुछ दिनों तक और जीवित रहते तो निश्चय ही उनका अगला कदम विशुद्ध मनोवैज्ञानिक कहानियों के निर्माण-क्षेत्र की ओर उठता।

'सलीम' कहानी में धर्म, संप्रदाय और जातिवाद के बन्धनों से ऊपर उठकर मानव-मानव के प्रेम की आदर्श भूमिका प्रतिष्ठित की गई है। लेखक अपने इस मन्तव्य को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करता हुआ मानवता के इस पक्ष के प्रति अपनी दृढ़ आस्था व्यक्त करता है—"मनुष्यता का एक पक्ष वह भी है, जहाँ वर्ण, धर्म और देश को भूल कर मनुष्य, मनुष्य के लिए प्यार करता है।" 'गुंडा' में प्रेम के उत्सर्ग-उज्ज्वल पवित्र रूप का चित्रण किया गया है।

नारी-गरिमा के प्रति आस्था और करुणा, त्याग, क्षमा, उत्सर्ग आदि आदर्श भावों की प्रतिष्ठा 'इन्द्रजाल' की भी अधिकांश कहानियों में उसी प्रकार हुई है, जैसे 'आकाशदीप' और 'आँधी' की अधिकांश कहानियों में हुई थी। जीवन के प्रति बौद्धिक सजगता का दृष्टिकोण अपना कर लिखी गई होने पर भी अपनी संवेदनाशीलता के कारण ये कहानियाँ मूलतः अनुभूति-प्रधान ही हैं।

विषय-वस्तु की दृष्टि से वर्गीकृत करने पर 'इन्द्रजाल' की 'नूरी', 'गुंडा', 'देवरथ' और 'सालवती' कहानियाँ ऐतिहासिक कहानियों के वर्ग में आती हैं। 'छोटा जादूगर' और 'विराम-चिह्न' कहानियों में समाज की आर्थिक व्यवस्था के वैषम्य से पीड़ित वर्ग के प्रति सहानुभूति का भाव है। 'विराम-चिह्न' में एक प्रमुख सामाजिक रूढ़ि के प्रति व्यंग का स्वर है। 'चित्र-मंदिर' सांस्कृतिक विकास के आदिम सोपानों को दिखानेवाली सांस्कृतिक कहानी है। 'इन्द्रजाल', 'नूरी', 'देवरथ', 'चित्र वाले पत्थर', 'गुंडा' और 'सालवती' भाव-भूमि पर नारी-पुरुष के सफल-असफल प्रेम का चित्रण करनेवाली कहानियाँ हैं। 'सलीम', 'परिवर्तन' और 'भीख में' नामक कहानियों में गार्हस्थ्य जीवन का सुन्दर चित्रण हुआ है।

'सालवती' कहानी में भारतीय संस्कृति के वैभवकालीन उज्ज्वल रूप के प्रति लेखक का ममत्व भाव व्यञ्जित हुआ है। 'सलीम' और 'विराम-चिह्न' में वर्तमान की कुछेक समस्याओं को समाधान देने का परोक्ष आग्रह-भाव लक्षित होता है।

कला की दृष्टि से 'इन्द्रजाल', 'सलीम', 'छोटा जादूगर', 'नूरी', 'चित्रवाले पत्थर', 'गुंडा', 'देवरथ' और 'सालवती' इस संग्रह की उच्च कोटि की कहानियाँ हैं। 'गुंडा' और 'सालवती' को तो हिन्दी की उत्कृष्टतम कहानियों की श्रेणी में रखा जा सकता है। 'परिवर्तन', 'भीख में' और 'विराम-चिह्न' में कला का मध्यम स्तर दिखाई पड़ता है। 'संदेह' और 'अनबोला' कला की दृष्टि से सामान्य कोटि की रचनाएँ हैं, किन्तु इनकी भी संवेदना गंभीर और मार्मिक है।

: ४ :

प्रसाद की कहानियों का वैशिष्ट्य

[क] भागवत वैशिष्ट्य

(अ) रोमांटिक दृष्टिकोण—प्रसाद के सम्पूर्ण साहित्य में उनकी रोमांस-भावना की घनीभूत छाया सर्वत्र व्याप्त दिखाई पड़ती है। काव्य के क्षेत्र में कल्पना-विमिश्रित उसका रूप अत्यन्त स्पष्ट है; नाटकों में वह इतिहास के साथ घुल-मिल कर व्यक्त हुई है और उनकी कहानियों में उसके दोनों ही रूप दिखाई पड़ते हैं। 'छाया' और 'प्रतिध्वनि' की विकास-कालीन कहानियों से लेकर प्रौढ़-युग की कला-परिपक्व कहानियों तक, सर्वत्र ही प्रसाद की इस प्रवृत्ति का आभास मिलता है। यह बात अवश्य है कि जैसे प्रयोग युग से प्रौढ़ युग में आकर उनकी वस्तुगत और कलागत अन्य प्रवृत्तियों में परिष्कार हुआ, उसी प्रकार 'आकाशदीप', 'आँधी' और 'इन्द्रजाल' की रोमानी भावना भी पूर्वापेक्षया अधिक व्यञ्जक एवं उत्कृष्ट है।

'रोमांटिसिज्म' की मूलभूत प्रवृत्तियों को लेकर अठारहवीं शताब्दी से ही बड़ा मतभेद चलता आ रहा है। इसके विषय-पक्ष, रूप और दृष्टिकोण के बारे में पाश्चात्य विचारकों ने जो मत व्यक्त किये हैं, उनमें परस्पर बहुत अधिक भेद दिखाई पड़ता है। परन्तु मुख्य रूप से इसकी दो प्रवृत्तियों को सबने स्वीकार किया है; और उनको यदि केवल दो शब्दों में व्यक्त करना हो तो कहा जा सकता है कि वे प्रवृत्तियाँ हैं 'स्वच्छन्ता' एवं 'भावात्मकता'। 'स्वच्छन्दता' के अन्तर्गत सामाजिक निषेधों

(taboos) के प्रति विद्रोह-भाव एवं वैयक्तिकता के प्रति आग्रह, तथा 'भावात्मकता' के अन्तर्गत गीतात्मकता, उपचेतना (sub-conscious), कल्पनात्मक-सर्जना की अभिरुचि, स्वानुभूति और रहस्य-भावना आदि भाव-प्रधान प्रवृत्तियाँ परिगणित की जा सकती हैं। 'रोमांटिसिज्म' ने विषय की दृष्टि से अतीतोन्मुख होकर प्रायः मध्ययुगीन जीवन के प्रति अनुराग दिखलाया, सामान्य की अपेक्षा विशेष को अपनाया, अतीन्द्रिय और अतिप्राकृत तत्वों तथा भावनाओं के प्रति आग्रह-भाव प्रकट किया एवं दुःख, आँसू और करुणा को विशेष प्रश्रय दिया। दृष्टिकोण की दृष्टि से वैयक्तिकता इसका सर्वप्रधान गुण रही।

जैसे इन मूल प्रवृत्तियों को ग्रहण करते हुए भी ब्लेक, वर्ड्सवर्थ, शैली, कीट्स आदि अपने-अपने दृष्टिकोण में मौलिक रहे, वैसे ही हिन्दी के प्रसाद, पन्त, निराला आदि भी 'रोमांटिसिज्म' की इन प्रवृत्तियों को अपना कर अपनी-अपनी वैयक्तिक विशिष्टता बनाये रहे। प्रसाद में गीतात्मकता, भावुकता, प्रेम और करुणा की उदात्त भावना, अतीतोन्मुखता तथा चिन्तनशील रहस्यात्मकता जितने अंशों में विकास पा सकी, उतने अंश में परम्पराओं और रूढ़ियों के प्रति आक्रोश तथा विद्रोहोन्मुखता उनमें न पनप पाई। वे सौन्दर्य के उपासक और स्वच्छन्द प्रेम के उन्मुक्त गायक रूप में ही अपने साहित्य में अधिक दिखाई पड़ते हैं, क्रान्तिकारी और विद्रोही रूप में कम। उनमें जहाँ विद्रोह है भी वहाँ वह परम्पराओं और रूढ़ियों के असित पक्ष का ही निर्दलन करता है, सित पक्ष के सम्मुख सदैव सादर नतशिर होता जाता है।

वास्तव में विषय की अपेक्षा 'रोमांटिसिज्म' लेखक के दृष्टिकोण-विशेष पर अधिक निर्भर करता है। वह किसी भी विषयवस्तु का अपने ढंग से चयन और पुनर्नियोजन कर सकता है। अतएव सामान्य ढंग से कहा जा सकता है कि रोमांटिक चित्रण, चित्रण की ऐसी परिपाटी है जो साधारण से कुछ विलक्षणता लिए होती है, सहज और यथार्थ होकर भी

उससे कुछ भिन्न प्रकार की प्रतीत होती है—और इस वैचित्र्य के मूल में रहस्य-भावना तथा कौतूहल की वृत्ति काम करती रहती है।

'छाया' से लेकर 'इन्द्रजाल' तक की कहानियों में प्रसाद की प्रेम-विवृत्ति और भावाभिव्यञ्जना, सामाजिक एवं सामान्य जीवन-वृत्त से सम्बद्ध होते हुए भी अपने विशेष प्रकार की नियोजन-पद्धति और रचना-प्रणाली के कारण कुछ-कुछ असामान्य और असाधारण-सी प्रतीत होने लगती है। 'स्वर्ग के खँडहर में', 'सुनहला साँप', 'हिमालय का पथिक', 'भिखारिन', 'प्रतिध्वनि', 'बनजारा', 'चूड़ीवाली', 'बिसाती' आदिमें कोई भी कहानी ऐसी नहीं जिसके कथा-तत्व में बहुत अधिक असामान्यता या वैचित्र्य हो। किन्तु इनके इतिवृत्त जिस ढंग से नियोजित किये गये हैं, जिस प्रकार का इन्हें परिवेश दिया गया है, वह दैनिक जीवन से परे प्रतीत होता है। दो पंक्तियों का 'भिखारिन' का चित्रण भी उसे सामान्य भिखारी-वर्ग से विलग कर, एक विशिष्ट प्रकार को भिखारिन बना देता है:

"सहसा जैसे उजाला हो गया—एक धवल दाँतों की श्रेणी अपना भोलापन बिखेर गई—'कुछ हमको दे दो रानी माँ!' निर्मल ने देखा एक चौदह वर्ष की भिखारिन भीख माँग रही है।"[1]

'वैरागी' की अज्ञातनामा युवती-अतिथि का रूप-चित्र भी इसी चित्रण-प्रणाली के कारण उसे असाधारणता से मंडित कर देता है:

"वैरागी का ध्यान टूटा। उसने देखा, सचमुच मलिन-बसना गोधूलि उसके आश्रम में आश्रय माँग रही है। अञ्चल-छिन्न बालों की लटें, फटे हुए कम्बल के समान मांसल वक्ष, स्कन्ध को ढँकना चाहती थीं। गैरिक बसन, जीर्ण और मलिन। सौन्दर्य-विकृत आँखें कह रही थीं कि उन्होंने उमंग की रातें जगते हुए बिताई हैं।"[2]

१—'आकाशदीप' की 'भिखारिन' कहानी।

२—वही, 'वैरागी' कहानी।

'छाया' और 'प्रतिध्वनि' की कहानियों में भी कथानक और उसके लिए वातावरण-सर्जना में लेखक की रोमानी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। 'छाया' की चन्दा और 'रसिया बालम' कहानियों में तो प्रेम-व्यञ्जना के रूप में यह प्रवृत्ति खूब भास्वर हुई है। 'चन्दा' सभ्य-समाज से दूर कोल जीवन की स्वच्छन्द प्रणय-कथा है। 'रसिया बालम' भी बहुत कुछ शीरीं-फरहाद की प्रेम-कथा के ढंग की रोमानी कहानी है। वर्तमान जीवन से दूर, अतीत की रमणीय छाया में पहुँचकर करुणा और प्रेम का मधुर गीत गाने का स्वप्न 'छाया' के द्वितीय संस्करण की प्रायः सभी कहानियों में समान रूप से दर्शनीय है। 'प्रतिध्वनि' में अतीतोन्मुखता तो केवल दो कहानियों—'खंडहर की लिपि' और 'चक्रवर्ती का स्तम्भ'—में ही दिखाई पड़ती है, किन्तु रोमांस की अन्य प्रवृत्तियाँ—गीतात्मकता, भावुकता, प्रेम और करुणा की ललक एवं चिन्तनशील रहस्यात्मकता का दर्शन इन दोनों के अतिरिक्त 'अघोरी का मोह', 'उस पार का योगी', 'प्रतिमा' और 'प्रलय' आदि अनेक कहानियों में मिलता है। विद्रोह और आक्रोश भाव की झलक अवश्य ही इन कहानियों में नहीं मिलती।' 'रोमांटिसिज्म' की 'भावात्मकता' वाली प्रवृत्ति ही इनमें विशेष प्रस्फुटित दिखाई पड़ती है। गेयता, कल्पना-प्रवणता, स्वानुभूति और रहस्यात्मकता का तत्व ही 'उस पार का योगी' और 'प्रलय' कहानियों में उनका सर्वस्व है। 'उस पार का योगी' तो अपने मूल उपादान में 'आकाशदीप' की 'समुद्र-सन्तरण' के अत्यन्त समीप की रचना है।

'आकाशदीप' की कहानियों में लेखक स्वच्छन्दता और कल्पनाशीलता के अतिरेक में कहीं उन्मुक्त प्रणय की ओर कहीं मूर्च्छना तथा चिरनिद्रा की कामना करता दिखाई पड़ता है। साथ ही कलह-कोलाहल की धरती छोड़, दूर अज्ञात देश के एकान्त लोक में पहुँचकर स्वप्न-संसार रचाने की लालसा भी उसे कभी-कभी विह्वल कर देती है। 'स्वर्ग के खँडहर में' नामक कहानी में उदास भाव से मीना गाती है—"वह प्रणय

विषाक्त छुरी है, जिसमें कपट है। इसलिए हे जीवन, तू स्वप्न न देख, विस्मृति की निद्रा में सो जा। सुषुप्ति यदि आनन्द नहीं, तो दुखों का अभाव तो है। इस जागरण से—इस आकांक्षा और अभाव के जागरण से—वह निर्द्वन्द्व सोना कहीं अच्छा है, मेरे जीवन !"[१]

इस अंश से 'लहर' की निम्नांकित पंक्तियों का साम्य कितना स्पष्ट है:

"अपलक जगती हो एक रात !
सब सोये हों इस भूतल में ...
उनके स्वप्नों का हो न प्रात ![२]

'समुद्र-सन्तरण' में भी यही प्रवृत्ति दूसरी लालसा बनकर व्यक्त हुई है : "लहरों को चीरते हुए सुदर्शन ने पूछा—'कहाँ ले चलोगी ?'

'पृथ्वी से दूर, जल राज्य में; जहाँ कठोरता नहीं केवल शीतल, कोमल और तरल आलिंगन है; प्रवञ्चना नहीं सीधा आत्मविश्वास है; वैभव नहीं सरल सौन्दर्य है।"[3]

'लहर' की निम्न पंक्तियों में भी इसी तरल आकांक्षा की गूँज है—

"ले चल मुझे भुलावा देकर
मेरे नाविक धीरे धीरे
जिस निर्जन में सागर-लहरी
अम्बर कानों में गहरी
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे !"[४]

'हिमालय का पथिक' किन्नरी के साथ इसी स्वप्नलोक की ओर बढ़ रहा

१—'आकाशदीप' संग्रह।

२—'लहर' (प्र० सं०), पृ० ३१

३—'आकाशदीप' संग्रह।

४—'लहर' (प्र० सं०), पृ० १०

था : 'सुनहला साँप', 'बैरागी', 'बनजारा', 'प्रणय-चिह्न', 'ज्योतिष्मती', 'रमला' और 'विसाती' में भी इसी स्वच्छन्दतावाद की एक या अनेक प्रवृत्तियाँ व्यक्त हुई हैं।

'आँधी' और 'इन्द्रजाल' की कहानियों में भी प्रसाद की इस रोमानी प्रवृत्ति की छटा दिखाई पड़ती है। वातावरण-निर्माण, परिस्थिति-अंकन, रूप-चित्रण और प्रेम एवं कल्पना लोक में स्वैर विहार के रूपों में यह अनेक कहानियों में देखी जा सकती है। 'आँधी' कहानी में तो प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में बन्या लेला के मुक्त प्रणय की करुण कहानी अत्यन्त रोमानी ढंग से चित्रित हुई है। 'दासी', 'बेड़ी', 'घीसू', 'ग्राम-गीत' और 'पुरस्कार' में भी आँसू, वेदना, नैराश्य और करुणा की झलक तथा कथानक के नियोजन-कौशल में रोमानी प्रवृत्ति अनेक स्थलों पर स्पष्ट है।

'इन्द्रजाल' संग्रह की 'इन्द्रजाल' कहानी तो स्पष्ट ही जीवन के कलह कोलाहल से दूर, स्वच्छन्द प्रणय-क्रीड़ा की भाव कथा है। 'सलीम' के सलीम का प्रेमा के प्रति सूफियाना प्रेम, 'नूरी' की करुणाभरी कहानी, 'चित्रवाले पत्थर' का मौन संदेश और 'गुंडा' का आत्म-बलिदान भी इन प्रवृत्तियों से प्रेरित है।

प्रश्न उठता है कि प्रसाद की आख्यायिकाओं पर व्यापक रूप से छाई हुइ यह रोमानी आभा, उन्हें किस रूप में प्रभावित करती है? वास्तव में पश्चिम के साहित्य में, 'रोमांटिसिज्म' कुछ अतिरेकवादी कलाकारों के हाथ में पकड़कर इतना बदनाम हो चुका है कि, सामान्यतया आज इससे यथार्थ जीवन से दूर भागकर कल्पनाचार और स्वप्न-विहार का ही तात्पर्य लिया और समझा जाता है। किन्तु रोमांस के अन्तर्गत प्रगतिशील साहित्य भी आ सकता है और ह्रासशील भी। प्रसाद जी का स्वस्थ रोमांस, दार्शनिक और भावात्मक दृष्टि से मानव को जीवन-संघर्ष

के लिए उद्यत करता है।[१] पलायनवाद के निदर्शन में अनेकशः उद्धृत उनकी पंक्तियों में भी जीवन के प्रति विश्वास, आनन्द और अखंडता का संदेश रहता है। उनमें क्षोभ और करुणा की छाया इसलिए रहती है कि लेखक कृत्रिम संतोष का पाठ नहीं पढ़ाना चाहता। वह नारी और पुरुष को समता और सहकारिता के सूत्र में बाँधकर एक संघटित मोर्चा तैयार करना चाहता है। प्रसाद की आख्यायिकाओं में इस सूत्र की झलक मिलती है, और 'तितली' में उसका संघटित मोर्चे का रूप दिखाई पड़ता है। व्यक्तिगत सुख-दुख से ऊपर उठानेवाली आध्यात्मिकता और रहस्य-भावना का प्रयोग जीवन से परांगमुख करने का साधन नहीं। प्रसाद का रोमांस वस्तुतः प्रगतिशीलता का संदेश देता है। हाँ, उनकी प्रगतिशीलता का स्वरूप सांप्रदायिक नहीं साहित्यिक है—भावना का उद्रेक, उच्छ्वास, परिष्कृति और प्रेरकता ही जिसकी मापदंड हैं।[२] रोमांस की यह स्वस्थ दृष्टि साहित्य के लिए उतनी ही आवश्यक है जितनी जीवन के लिए रोटी और वस्त्र।

(आ) **सौन्दर्यानुभूति और प्रेम-व्यंजना**—प्रसादजी ने यौवन और प्रेम को अपने विस्तृत साहित्य में सर्वत्र ही ममता तथा मोह की दृष्टि से देखा है। काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी सब में इनसे संबद्ध कोमल भावनाओं की विवृति के लिए वे अवकाश निकाल लिया करते थे। सौन्दर्य और प्रेम के मधुमय कोष यौवन की अभ्यर्थना में भी अनेक स्थलों पर उन्होंने अभिनन्दन-गीत गाये हैं। 'लहर' की अन्तिम कविता 'प्रलय की छाया' में आत्मगर्वित रूप एवं मादक यौवन का जो चित्रण हुआ है, वह अपने ढंग का अनुपम है। अन्यत्र भी वह कहीं चंचल

१—'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० १२६-१२७।

२—वही, पृ० १२८-१२६।

यौवन की मनुहार करते हुए उससे क्षण भर रुकने का आग्रह करते हैं—

'मेरे जीवन के सुख-निशीथ।
जाते-जाते रुक जाना।'[1]

कभी मधुर लालसा व्यक्त करते हैं—

यौवन तेरी चंचल छाया!
क्षण भर बैठ घूँट भर पी लूँ
जो रस है तू लाया!"[2]

यौवन में प्रथम-प्रथम प्रियदर्शन सौन्दर्य के साहचर्य से उद्बुद्ध होनेवाले प्रणय की अनुभूति और आकुलता का चित्रण 'समुद्र-संतरण' कहानी में बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से किया गया है: "सुदर्शन ने देखा सब सुन्दर है। आज तक जो प्रकृति उदास बनकर सामने आती थी, वह उसे हँसती हुई मोहिनी और मधुर सौन्दर्य से ओत-प्रोत दिखाई देने लगी। अपने में, और सब में फैली हुई उस सौन्दर्य की विभूति को देखकर सुदर्शन की तन्मयता उत्कंठा में बदल गई। उसे उन्माद हो चला। इच्छा होती थी, वह समुद्र बन जाय। उसकी उद्वेलित लहरों से चन्द्रमा की किरणें खेलें और वह हँसा करे।"[3]

यौवन और प्रेम की इसी आकस्मिक अनुभूति को 'चन्द्रगुप्त' नाटक में कुछ नाटकीयता के साथ लेखक ने भिन्न ढंग से चित्रित किया है:

"अकस्मात जीवन-कानन में, एक राका-रजनी की छाया में छिपकर मधुर बसन्त घुस आता है। शरीर की सब क्यारियाँ हरी-भरी हो जाती हैं। सौन्दर्य का कोकिल 'कौन?' कह कर सबको रोकने-टोकने लगता है, पुकारने लगता है।... फिर उसी में प्रेम का मुकुल लग जाता है, आँसू-

---

१—'लहर' पृ० ४२।

२—'ध्रुवस्वामिनी', पृ० ४२।

३—'आकाशदीप' संग्रह, 'समुद्र संतरण' कहानी।

भरी स्मृतियाँ मकरन्द-सी उसमें छिपी रहती हैं।"[1]

वास्तव में, प्रसाद मानव के रहस्यमय मानस के कुशल चित्रकार थे; उसके गूढ़ व्यापार, उसकी गहन संवेदनाओं और लहकती आकांक्षाओं के वे मर्मज्ञ पण्डित थे। उनके अनुसार नारी-पुरुष का मधुर सम्बन्ध ही सृष्टि का लक्ष्य है। उनका नैसर्गिक मिलन ही जीवन की पूर्णता का प्रतीक है।[2] आग्रह, त्याग और समर्पण से दीप्त उनकी उज्ज्वल प्रेम-भावना, झलमल कल्पना के तारक-खचित परिधान में आवेष्टित एवं आदर्श-चेतना के रत्नाभरण से भूषित अपने अपरूप रूप के साथ क्या काव्य, क्या नाटक, क्या कहानी—जहाँ कहीं भी प्रकृति के रंग-स्थल पर या वैसे भी प्रकट हुई है, बेजोड़ है। सौन्दर्य और प्रेम ही जैसे उनकी मुख्य प्रेरक शक्ति थे। उनकी कहानियों को देखने से तो ऐसा जान पड़ता है जैसे प्रेम के अनेकरूप पक्षों को व्यञ्जित करने के लिए ही इनकी सृष्टि हुई है। कितनी ही कहानियों के नायक-नायिकाओं के व्यक्तित्व में कवि के हृदय की प्रेम-वेदना साकार और सजीव हो उठी है। डा० सत्येंद्र का यह कथन कि जायसी को प्रेम की पीर को प्रकट करने के लिए 'पद्मावत' की सृष्टि करनी पड़ी, किन्तु प्रसाद की नायिकाओं में नूरी, चम्पा, किन्नरी, पन्ना आदि में स्वयं ही प्रेम की पीर साकार हो उठी है,[3] कुछ अत्युक्ति पूर्ण नहीं प्रतीत होता।

प्रागैतिहासिक काल ('चित्रमंदिर') से लेकर अंग्रेजी काल ('गुंडा') तक का विस्तृत अतीत, और विभिन्न आर्थिक, सामाजिक, नैतिक समस्याओं से आक्रांत जटिल वर्तमान ('मधुआ', 'घीसू', 'नीरा', 'बिजया',

---

१—'चन्द्रगुप्त' (सं० द्वितीय) पृ० १९२-'९३।

२—'संगम' प्रसाद-स्मृति अंक, १८ फरवरी १९५१, पृ० ४३।

३—'प्रसादजी की कला' में संकलित 'प्रसादजी की कहानी-कला': प्रो० सत्येन्द्र, पृ० ३२८।

'विराम-चिह्न' आदि) उनकी कल्पना की क्रीड़ा-भूमि रहा है, किन्तु अधिकांश कहानियों का केन्द्र-बिन्दु यही प्रेम-तत्त्व ही है। उनके समन्वित जीवन-दर्शन की करुणा, आनन्द, और आदर्श की भावना से पोषित इस प्रेम के काल, पात्र और परिस्थिति-भेद से अनेक रूप दिखाई पड़ते हैं। कहीं वर्तमान के दुख-दर्द, छल-प्रपञ्च से दूर अतीत की शीतल चाँदनी में खिलकर वह अत्यन्त स्वप्निल बन गया है ('छाया' की 'रसिया बालम', 'प्रतिध्वनि' की 'खंडहर की लिपि', 'आकाशदीप' की 'स्वर्ग के खंडहर में'; 'आँधी' की 'दासी'; 'इन्द्रजाल' की 'नूरी' आदि) और कहीं वर्तमान की विषादभरी धरती पर प्यास, अतृप्ति या भूख की जलन बनकर व्यक्त हुआ है ('चन्दा'—'छाया'; 'देवदासी', 'बनजारा', 'बिसाती'—'आकाशदीप'; 'घीसू', 'ग्राम-गीत'—'आँधी'; 'भीख में', 'चित्रवाले पत्थर', 'गुंडा'—'इन्द्रजाल')। कहीं वह गृहस्थी के आँगन में, जीवन के सामान्य धरातल पर, अत्यन्त परिचित बनकर दिखाई पड़ता है ('शरणागत'—'छाया'; 'सहयोग', 'कलावती की शिक्षा'—'प्रतिध्वनि'; 'चूड़ीवाली'—'आकाशदीप'; 'व्रत-भंग'—'आँधी'; 'सलीम', 'परिवर्तन', 'भीख में'—'इन्द्रजाल') और कहीं विचार-गूढ़ दार्शनिक भूमिका पर स्थित होकर रहस्यमय प्रतीक बन गया है ('उस पार का योगी', 'प्रलय'—'प्रतिध्वनि'; 'समुद्र-सन्तरण', 'ज्योतिष्मती'—'आकाशदीप')। ईर्ष्या-द्वेष और छल-छद्म से विकृत, कटु एवं प्रतिशोधभरे रूप में भी वह सामने आया है ('चन्दा', 'अशोक'—'छाया'; 'प्रतिध्वनि'—'आकाशदीप';), विश्वास, श्रद्धा और उत्सर्ग के आलोकसे मण्डित महिमामय बनकर भी प्रकट हुआ है ('रसिया बालम', मदन-मृणालिनी'—'छाया'; 'पाप की पराजय'—'प्रतिध्वनि'; 'घीसू', 'ग्रामगीत', अमिट स्मृति'—'आँधी'; 'गुंडा'—'इन्द्रजाल')।

किन्तु प्रसादजी की प्रेम-भावना का सर्वाधिक मोहक, स्निग्ध और

प्रोज्ज्वल रूप उन कहानियों में व्यक्त हुआ है, जिनमें राष्ट्र-प्रेम, कर्तव्य-प्रेरणा या अन्य किसी भाव-विशेष के साथ व्यक्तिगत प्रेम के द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न की गई है। 'छाया' की 'मदन-मृणालिनी' कहानी में कर्तव्य और प्रेम का सामान्य-सा द्वन्द्व चित्रित हुआ है। मदन प्रेम के लिए अपने व्यक्तिगत स्वार्थ-भाव का त्याग करता हुआ अपनी व्याख्या देता है कि, 'प्रेम का मुख्य अर्थ है 'आत्मत्याग'।' किन्तु 'आकाशदीप', ('आकाशदीप') 'पुरस्कार' ('आँधी') और 'सालवती' ('इन्द्रजाल') कहानियों में तो इस प्रकार के प्रेम की चरम परिणति दिखाई पड़ती है। 'आकाशदीप' की चम्पा अपने पिता की मृत्यु के निष्ठुर कारण जलदस्यु बुद्धगुप्त से प्रतिशोध लेना चाहती है, पर हृदय हाथों को थाम लेता है। वह प्रतिशोध का कृपाण अतल सागर में फेंक देती है। वह उससे घृणा करना चाहकर भी घृणा नहीं कर पाती, उसे आत्म-समर्पण न करके भी आकाशदीप जलाकर जल में अपने पिता की समाधि का संधान करती हुई, आजीवन उसी की स्मृति में जलती रहती है। 'पुरस्कार' और 'सालवती' में भी प्रेम एवं कर्तव्य दोनों पक्षों का लेखक ने जिस कौशल से समाहार किया है, उससे व्यक्ति-प्रेम अपनी गरिमा में अत्यन्त अमल और पावन बन गया है। 'गुंडा' की पन्ना के हृदय में रानीपन के आत्मगौरव और गृहिणीत्व की मर्यादा के नीचे दुबककर सोते मौन प्रणय की कसमसाहट का भी, संकेतात्मक ढंग से, लेखक ने बड़ा ही व्यञ्जक और मनोहारी चित्रण किया है। पन्ना नन्हकू सिंह की न बन सकी, इस जीवन में आशा भी नहीं कि फिर साक्षात्कार हो सकेगा; फिर भी पन्ना के हृदय में सहज रूप से यह अतर्क्य लालसा घर किए बैठी है कि नन्हकू उन्हीं का होकर रहे, किसी अन्य नारी को उसका प्रणय न मिल सके। निश्चय ही यह पन्ना के मन का लोभ नहीं, प्रेम की प्रेमी के ऊपर एकाधिपत्य देखने की सहज वृत्ति है। आदर्श की दृष्टि से देखने पर यह लोभ या कमजोरी भी लगे, तब भी इसे इनकार

कर पत्ना आदर्श चाहे जितना बड़ा बन जाती, उसमें वह मानवीयता और परिचितपन न आता जिनके कारण 'गुंडा' को व्यापक पृष्ठभूमि पर रेखा-चित्रवत् अंकित होकर भी वह प्रसादकी अत्यन्त सफल-सजीव कृति बन सकी। वेश्या दुलारी से प्रसंगवश नन्हकू सिंह का नाम सुनकर उसे पीड़ा होती है, वह उनसे आशंका भरा प्रश्न करती है, 'दुलारी, वे तेरे यहाँ आते हैं न?' और अतीत की एक सम्भावना—'यदि वह बात हो गई होती'—पर उसका मन अटककर कुछ देर के लिए उलझ जाता है। प्रेयसी और उसके पुत्र के मान-रक्षार्थ नन्हकू सिंह का आत्मबलिदान तो प्रत्यक्ष ही है।

किन्तु यह भी स्मरणीय है कि प्रसाद की प्रेम-व्यञ्जना के पीछे एक अव्यक्त टीस, मौन वेदना और विरह की कसकभरी कराह सर्वत्र देखी-सुनी जा सकती है। बहुत ही कम कहानियाँ ऐसी होंगी, जिनमें सफल प्रेम का चित्रण हुआ हो—सफलता आई भी है तो जीवन की दीर्घ कालव्यापी साधना के बाद, या किसी असामान्य त्याग के अनन्तर। उदाहरणार्थ 'चूड़ीवाली' का अन्त लिया जा सकता है : "यौवन के तीसरे पहर में जब प्रेम का उन्माद तपस्या की अग्नि में तप कर अवदात हो गया, तपःपूत प्रेम में मानवीय दुर्बलता के कारण करुण निराशा भी तद्रूप हो घुलमिल गई, तभी सन्ध्या-बेला के धुँधलेपन में सहसा एक दिन प्रिय का आगमन हुआ।"

प्रेम के स्वरूप के सम्बन्ध में, प्रसाद जी की कल्पना बहुत ही उदात्त थी। क्षमा, दया, एकनिष्ठता, संयम और त्याग आदि स्वतः ही उनके प्रेम की परिधि में खिचकर चले आते थे। उनके प्रेम में मादकता और उन्माद है, पर वह नशे की खुमारी से भिन्न है; उदार समर्पण और मसृण विलास भी है, पर वह दुर्बल प्रेम की आस्फालनभरी ऐन्द्रिकता से भिन्न है। उनका प्रेम उन्मुक्त और स्वच्छन्दताकामी होकर भी उच्छृङ्खल नहीं है।

गृहस्थ-जीवन की मर्यादा में कुलबधू के एकनिष्ठ प्रेम को वे अत्यन्त उच्च कोटि का प्रेम मानते थे। उनकी दृष्टि में, "उसमें सेवा ही नहीं, विलास का अनन्त यौवन (भी) है, क्योंकि स्त्री-पुरुष के शारीरिक बन्धन में वह पर्यवसित नहीं है। बाह्य साधनों के विकृत हो जाने तक ही उसकी सीमा नहीं, गार्हस्थ्य-जीवन उसके लिए प्रचुर उपकरण प्रस्तुत करता है, इसलिए वह प्रेय भी है और श्रेय भी है।"[१] कुलबधू के लिए कितनी पावनता और कितनी एकनिष्ठता अपेक्षित होती है, 'देवरथ' की कौमार्य-स्खलिता सुजाता की आत्म-समीक्षा के माध्यम से लेखक इसे भली भाँति स्पष्ट कर देता है : "मैं वह अमूल्य उपहार—जो स्त्रियाँ, कुल-बधुएँ अपने पति के चरणों में समर्पण करती हैं—कहाँ से लाऊँगी ? वह वरमाला जिसमें दूर्वा-सदृश कौमार्य हरा-भरा रहता हो, जिसमें मधूक-कुसुम-सा हृदय-रस भरा हो, कैसे, कहाँ से तुम्हें पहना सकूँगी (आर्य-मित्र ?)"[२]

प्रसाद जी की दृष्टि में प्रेम प्रतिदान का लोभी नहीं। उसका आदर्श-रूप देने में है, पाने में नहीं। निम्नलिखित पंक्तियाँ उनकी प्रेम-सम्बन्धी इस तपःप्रधान भावना का सुन्दर निर्देश देती हैं, और वस्तुतः यही उनके प्रेम का स्वरूप रहा भी है—

पागल रे, वह मिलता है कब
उसको तो देते ही हैं सब
आँसू के कण से गिन-गिन कर
यह विश्व लिये है ऋण-उधार !
तब तू क्यों उठता है पुकार—
मुझको न मिला रे कभी प्यार ? —'लहर'

१—'आकाशदीप' संग्रह की 'चूड़ीवाली' कहानी।

२—'इन्द्रजाल' संग्रह की 'देवरथ' कहानी।

सौन्दर्य को वे आंगिक दीप्ति तक ही सीमित नहीं मानते थे, उसमें मानसिक सौष्ठव और क्षमा, दया, त्याग तथा करुणा आदि सद्गुणों का भी विकास देखते थे। उनकी प्रायः सभी नायक-नायिकाएँ युवा, सुन्दर, भावुक, विनयशील और त्यागी हैं। उनकी कहानियों में पग-पग पर यौवन और विलास के जो मोहक चित्र मिलते हैं, उनमें सौन्दर्य के इसी अंतरंग-बहिरंग-सम्पुष्ट द्विविध स्वरूप की झाँकी प्राप्त होती है। आकृति बाह्य सौन्दर्य का बोध कराती है और कार्य-कलाप आन्तर-सुषमा का आभास देते हैं। पुरुष-सौन्दर्य में सौन्दर्य के साथ-साथ शक्ति, शील, दृढ़ता, साहस और गंभीरता को वे आवश्यक समझते थे; नारी-सौन्दर्य की पूर्णता के लिए उनकी दृष्टि में लज्जा, त्याग, करुणा, क्षमा आदि का बाह्य सौन्दर्य के साथ समन्वित होना अनिवार्य था। 'सालवती' के अभयकुमार और आठों कुलपुत्र, 'आकाशदीप' के बुद्धगुप्त और 'पुरस्कार' के अरुण आदि नायक सुन्दर भी हैं, वीर भी; सालवती, चम्पा, मधूलिका तथा अन्य उत्कृष्ट नायिकाएँ रूप-सम्पत्ति के साथ ही आन्तर सौन्दर्य की भी स्वामिनी हैं।

वास्तव में मोहक और पवित्र सौन्दर्य, मादक किन्तु शिष्ट विलास, स्वच्छन्द किन्तु मर्यादित प्रेम के विभिन्न रूपों का जैसा सजीव और भावमय चित्रण प्रसाद की कहानियों में हुआ है, वैसा हिन्दी-साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है।

प्रकृति-विनियोग—प्रकृति-विषयक प्रसाद का दार्शनिक दृष्टिकोण बहुत ही आदर्श कोटि का था। सौन्दर्यलहरी के 'शरीरस्त्वंशम्भोः' के अनुकरण पर वे उसे 'विश्वात्मा की छाया या प्रतिबिम्ब' मानते थे और उसमें विश्वसुन्दरी की अवधारणा कर चेतनता का आभास पाते थे।[1] यह विश्व-सुन्दरी प्रकृति मानव के प्रत्येक क्रिया-कलाप को धरातल

१—'काव्य और कला तथा अन्य निबंध', पृ० ५६, १४८ (प्र० सं०)।

प्रदान करती हुई, उनके विस्तृत साहित्य में अनेकरूपा बनकर प्रकट हुई है। वे केवल प्रकृति की बाह्य छटा पर मुग्ध होकर, रीतिकालीन कवियों की भाँति, प्राकृतिक पदार्थों की नाम-परिगणना को ही प्रकृति का यथेष्ट चित्रण मानने वाले कवि नहीं थे। यद्यपि उन्होंने अधिकतर भाव, घटना और परिस्थिति की रंगभूमि के रूप में ही प्रकृति का व्यवहार किया है पर उनकी रचनाओं में अनेक स्थलों पर प्रकृति और मानव-जीवन के परस्पर आदान-प्रदान, अनुभूति-विनिमय एवं दोनों के चिर साहचर्य-जनित सात्विक राग का भी सुन्दर चित्रण हुआ है। प्रकृति सुन्दर और रमणीय रूप में ही नहीं बल्कि अपने उदात्त एवं गरिमामय रूप में भी उनके साहित्य में प्रकट हुई है। 'कामायनी' का 'चिन्ता' सर्ग ही इस बात का साक्ष्य देने के लिए पर्याप्त है।

प्रसाद की कहानियों में भी, उनके प्रकृति-चित्रण के ये विभिन्न रूप पद-पद पर सामने आते हैं। वैसे तो प्रायः उनकी प्रत्येक कहानी में प्रकृति की कुछ न कुछ झाँकी मिल ही जाती है, किन्तु कुछ कहानियों में तो मानव-जीवन और प्रकृति अनुभूति-तरल होकर परस्पर इतने समीप पहुँच गये हैं कि उन्हें विलग किया ही नहीं जा सकता। ऐसे स्थलों पर दोनों के क्रिया-कलापों में असाधारण साम्य चित्रित किया गया है। जान पड़ता है जैसे प्रकृति के दर्पण में मानवीय भावों और कार्य-व्यापारों का स्पष्ट प्रतिबिम्ब चित्रित हो रहा है। 'रमला' कहानी के साजन का समुद्र-शिशु, रमला झील के प्रति स्नेहातिरेक-भाव प्रसाद के प्रकृति सम्बन्धी उक्त दृष्टिकोण की अधिकांश प्रवृत्तियों का सुन्दर निर्देश देता है :

"साजन की साँसें उसकी लहरियों से स्वर-सामञ्जस्य बनाये रहतीं।... वही साजन की गृहिणी थी, स्नेहमयी, कभी-कभी वह उसे पुकार उठता, बड़े उल्लास से बुलाता—'रानी !', प्रतिध्वनि होती, ई ई ई...। वह खिलखिला उठता, आँखें विकस जातीं, रोयें-रोयें हँसने लगते। फिर सहसा वह अपनी उदासी में डूब जाता, तब जैसे ताराछाई रात उस पर

अपना श्याम अञ्चल डाल देती।"[1]

'समुद्र-संतरण' कहानी में भी प्रकृति और जीवन का ऐसा ही घुला-मिला रूप दिखाई पड़ता है :

"सुदर्शन बैठा रहा। चाँदी का थाल लिए रजनी समुद्र से कुछ अमृत-भिक्षा लेने आई। उदार सिन्धु देने के लिए उमड़ उठा। लहरियाँ सुदर्शन के पैर चूमने लगीं। उसने देखा, दिगंत-विस्तृत जल-राशि पर कोई गोल और धवल पाल उड़ाता अपनी सुन्दर तरणी लिए आ रहा है। उसका विषय-शून्य हृदय व्याकुल हो उठा। उत्कट प्रतीक्षा—दिगंतगामिनी अभिलाषा—उसकी जन्मांतर की स्मृति बनकर उस निर्जन प्रकृति में रमणीयता की, समुद्र-गर्जन में सङ्गीत की सृष्टि करने लगी।... नक्षत्र-मालिनी प्रकृति हीरे-नीलम से जड़ी पुतली के समान उसकी आँखों का खेल बन गई।"[2]

'आँधी' कहानी में भी बाह्य प्रकृति की आँधी और लैला के हृदय की आँधी का सामञ्जस्य बड़े कलापूर्ण ढङ्ग से चित्रित हुआ है।

पात्र और प्रकृति के कार्य-व्यापारों में ऐसी सापेक्षता स्थापितकर लेखक ने चरित्रों के मनोभावों का भी विश्लेषण उपस्थित किया है। प्रकृति रंगभूमि रूप में आकर भी चरित्रों के विकास में योग देती चलती है। 'ग्राम-गीत' कहानी के प्रारम्भिक अंश का यह प्रकृति-चित्रण कहानी की नायिका रोहिणी के निराशाकातर जीवन की सारी कहानी कह देता है :

"शरद पूर्णिमा थी...चारों ओर का क्षितिज नक्षत्रों के बन्दनवार-सा चमकने लगा था। धवल-बिम्ब के समीप ही एक छोटी-सी चमकीली तारिका भी आकाश-पथ में भ्रमण कर रही थी। वह जैसे चन्द्र को छू

१—'आकाशदीप' संग्रह।

२—वही।

लेना चाहती थी; पर छूने नहीं पाती थी।"[1] जैसे आकाश के चन्द्र के निकट चमकती हुई वह रोहिणी नामक तारिका उसे छूना चाहकर भी न छू पाई, उसी प्रकार पृथ्वी-तल की रोहिणी भी ठाकुर जीवन सिंह के प्रेम में पगली हो गई, जीवन भर उसकी वेदना में जलती रही और उस जलन को लिए हुए ही गंगा की गोद में सो गई। कहानी के अंत में भी लेखक प्रारम्भ के उसी दृश्य का पुनरावर्तन ला उपस्थित करता है, और उससे पगली रोहिणी का करुणा-छलछल व्यक्तित्व साकार हो उठता है :

"छत के नीचे गङ्गा के चंद्रिका-रंजित प्रवाह में एक छपाका हुआ... मैं ऊपर अनन्त की उस दौड़ को देखने लगा। रोहिणी चन्द्रमा का पीछा कर रही थी और नीचे से छपाके से उठे हुए कितने ही बुदबुदों में प्रतिबिम्बित रोहिणी की किरणें विलीन हो रही थीं।"[2]

कथा-प्रसंग के साथ दूध-पानी की तरह घुला-मिला चलता हुआ प्रकृति-चित्रण, प्रसाद की कहानियों में ऊपर से लादी हुई चीज जैसा व्यर्थ का भार नहीं प्रतीत होता, अपितु कहानी के प्रवाह और रोचकता को गति देता हुआ उसे सतत् अग्रसर और सम्पन्न करता चलता है। 'स्वर्ग के खंडहर में', 'सुनहला साँप', 'हिमालय का पथिक', 'समुद्र-संतरण', 'बैरागी', 'बनजारा', 'प्रणय-चिह्न'. 'ज्योतिष्मती', 'रमला', 'बिसाती' आदि 'आकाशदीप' की कहानियों में से; 'आँधी', 'ग्राम-गीत' आदि 'आँधी' की कहानियों में से; और 'इन्द्रजाल', 'नूरी', 'चित्रवाले पत्थर', एवं 'चित्रमंदिर' आदि 'इन्द्रजाल' की कहानियों में से, यदि प्राकृतिक दृश्य-चित्रों वाले अंश निकाल दिये जायँ तो या तो कहानी में कुछ बचेगा ही नहीं और यदि कुछ कहानियों में कथातत्व शेष भी रह जाय तो उसका स्वारस्य न रह सकेगा—अवशिष्टांश नितान्त फीका और विरस होगा। इन कहानियों में प्रकृति कथा-तत्वों से आत्म-

---

१—'आँधी' संग्रह।

२—वही।

रूप होकर इतनी अभिन्न हो गई है कि उसे रंगभूमि की संज्ञा देने से ठीक-ठीक उसकी स्थिति का अवधारण नहीं हो सकता—रंगभूमि से कुछ बाह्यता का बोध होता है, और इनमें प्रकृति बाह्य तत्व मात्र न रह कर इनका अविच्छेद्य अंग बन गई है।

प्रसाद की कहानियों में उद्दीपन रूप में भी प्रकृति का चित्रण हुआ है। ऐसे स्थलों पर आश्रय की मनोभावनाओं का प्रकृति के कार्य-कलापों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं जुटता, वरन प्रकृति उसके हृदयस्थ हर्ष या शोक के भावों को उत्तेजना मात्र देती है। उदाहरणार्थ 'चन्दा' का यह प्रारम्भिक अंश द्रष्टव्य है—"चैत्र कृष्णाष्टमी का चन्द्रमा अपना उज्ज्वल प्रकाश चन्द्रप्रभा के निर्मल जल पर डाल रहा है। गिरिश्रेणी के तरुवर अपने रंग को छोड़कर धवलित हो रहे हैं, कलनादिनी समीर के संग धीरे-धीरे बह रही है। एक शिला-तट पर बैठी हुई कोल-कुमारी सुरीले स्वर से—'दरद दिल काहि सुनाऊँ प्यारे! दरद ..' गा रही है।"[1]

अनेक कहानियों में प्रकृति का तटस्थ दर्शक रूप भी चित्रित हुआ है। वह मौन भाव से मनुष्य के दुःख-सुख, हार-जीत को देखती भर है, अपनी ओर से कोई भी संकेत नहीं करती। इसी 'चन्दा' कहानी में चन्दा अपने प्रेमी के हत्यारे रामू से प्रतिशोध लेती है और रक्त से रँगी उसी छुरी से स्वयं भी आत्मघात कर लेती है। इस भयंकर कार्य-व्यापार को देखने के लिए लेखक साक्षी रूप में प्रकृति को भी उपस्थित कर देता है, 'चन्द्रमा अपने मन्द प्रकाश में यह सब देख रहा था।'[2]

मानव-दुःख से दुखी और सुख से प्रसन्न सहचरी प्रकृति का रूप भी प्रसाद की कहानियों में चित्रित हुआ है। दूसरी ओर जड़ प्रकृति के विभिन्न दृश्यों से मानव-अनुभूतियों का सन्निवेश दिखाकर प्रकृति के द्रष्टा-

---

१—'छाया' संग्रह।

२—वही।

भाव रञ्जित रूप की योजना की गई है : "वसन्त बीत चुका था। प्रचण्ड ग्रीष्म का आरम्भ था। पहाड़ियों से लाल और काले धातुराग बहने लगे थे। युवती जैसे उस जड़-प्रकृति से अपनी तुलना करने लगी। उसकी भी एक आँख से हँसी और दूसरी से आँसू का उद्गम हुआ करता...और वे दोनों दृश्य उसे प्रेरित किये रहते।"[१] दूसरी ओर 'समुद्र-संतरण' का सुदर्शन अपने हृदय में प्रेम के रागारुण नवोदय के साथ ही पाता है कि, "आज तक जो प्रकृति उदास चित्र बनकर सामने आती थी, वह उसे हँसती हुई मोहिनी और मधुर सौन्दर्य से ओत-प्रोत दिखाई देने लगी।"[२]

उक्त प्रकार के चित्रणों के अतिरिक्त अनेक कहानियों में प्रकृति के दृश्य-चित्रों का, कुछ स्थलों पर स्वतन्त्र रूप से भी चित्रण हुआ है। ऐसे चित्रों को प्रकृति के संश्लिष्ट-वर्णन के अन्तर्गत लिया जा सकता है। 'छाया' संग्रह की 'ग्राम' कहानी में; 'आकाशदीप' की 'हिमालय का पथिक', 'वैरागी', 'रमला', 'प्रतिध्वनि', 'स्वर्ग के खँडहर में' कहानी में; एवं 'इन्द्रजाल' की 'चित्रवाले पत्थर' में ऐसे कुछ स्थल मिलेंगे। पर सामान्यत: ऐसे स्थल विरल ही है।

कुछ स्थलों पर प्रकृति पात्रों को उपदेश एवं सन्देश प्रदान करती हुई-सी भी चित्रित की गई है। अपने क्रोड़ में पलनेवाले पात्रों को वह अन्तर्मुखता, भाव-प्रवणता, स्वच्छन्दता एवं सात्विकता का सन्देश देती है। 'उस पार का योगी'[३] कहानी के अन्तिम अंश में चन्द्र-किरणों तथा लहरों का प्रतीकात्मक वार्तालाप इस तथ्य को स्पष्ट करता है।

कतिपय कहानियों में प्रकृति का अलंकृत वर्णन भी हुआ है। ऐसे

१—'इन्द्रजाल' संग्रह की 'चित्रमन्दिर' कहानी।

२—'आकाश दीप' संग्रह।

३—'प्रतिध्वनि' संग्रह।

स्थलों पर लेखक ने मानवीकरण (Personification) के सहारे नारी-सापेक्ष प्रकृति की सांगरूपता अंकितकर बड़े मनोरम दृश्यों की अवतारणा की है। कहानी की संवेदना में ऐसे दृश्यों से अद्भुत रसात्मकता आ गई है। 'ज्योतिष्मती' की निम्नांकित पंक्तियों में प्रकृति का ऐसा ही मानवीकृत रूप चित्रित हुआ है :

"श्यामा सघन तृण-संकुल शैलमंडप पर हिरण्यलता तारा के समान फूलों से लदी हुई मन्द मारुत से विकम्पित हो रही थी। पश्चिम में निशीथ के चतुर्थ प्रहर में, अपनी स्वल्प किरणों से चतुर्दशी का चन्द्रमा हँस रहा था। पूर्व-प्रकृति अपने स्वप्न-मुकुलित नेत्रों को आलस से खोल रही थी।"[1]

'छाया' और 'प्रतिध्वनि' की कुछ कहानियों का अलंकृत प्रकृति-वर्णन अवश्य कुछ कृत्रिम हो गया है, पर बाद की कहानियों के ऐसे चित्र उक्त दोष से परे हैं।

वास्तव में प्रसाद के काव्य-क्षेत्र में प्रकृति का जो रोमानी चित्रण हुआ है—और जिसे सम्पूर्ण छायावादी काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति कहा जा सकता है—उसके अनेक रूपों की झलक इन कहानियों के प्रकृति-चित्रण में प्राप्त होती है। प्रकृति का मनोरम विनियोग प्रसाद की कहानियों की अपनी विशेषता है। उसका जो मोहक और सजीव रूप यहाँ दिखाई पड़ता है, वह न तो प्रसाद-संस्थान के और न हिन्दी के किसी भिन्न वर्ग के ही कलाकार की कहानियों में प्राप्त हो सकता है।

जीवन-दर्शन—प्रसाद अपने दृष्टिकोण में मूलतः समन्यवादी थे—दर्शन में भी, व्यवहार में भी। दर्शन के क्षेत्र में वैदिक दर्शन से उन्होंने अद्वैतवाद ग्रहण किया, किन्तु उसके मायावाद को वे न अपना सके। बौद्ध-दर्शन की करुणा और क्षमा को लेकर भी, उसके दुःखवाद और

१—'आकाशदीप' संग्रह।

क्षणिकवाद को उन्होंने त्याग दिया। इन दोनों विरोधी दर्शनों के प्रभाव को शैवागम के आनन्दवाद से समन्वित कर उन्होंने जीवन को एक अत्यन्त स्वस्थ दृष्टि से देखा—जिससे जीवन और जगत् उन्हें भव-सागर नहीं भव-धाम प्रतीत हुए। इसी विचार-धारा से प्रेरित होकर प्रसन्न जीवन की महती संभावनाओं को उन्होंने अनेक रूपों में व्यक्त किया और सर्वत्र ही उनका विश्वास अखण्ड-अक्षुण्ण बना रहा कि—

"जीवन सौभाग्य है जीवन अलभ्य है।
जीवन अनन्त है...... ।"　　—'लहर'।

'कामायनी' में पहुँच कर उनके समूचे जीवन-दर्शन की चरम परिणति हुई।

व्यावहारिक दृष्टि से भी उन्होंने पूर्व और पश्चिम, प्राचीन और अर्वाचीन, आदर्श और यथार्थ, प्रेय और श्रेय के परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले जीवन-पक्षों को अपने साहित्य में संग्रथित करने का प्रयास किया। व्यक्ति और समाज में क्या सम्बन्ध हो, नारी-पुरुष का परस्पर कैसा सम्बन्ध हो, जीवन में आचार-विचार और नैतिकता का क्या मानदंड हो, आदि सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रश्नों पर उन्होंने मौलिक दृष्टि से सोचा था, और इनसे संबद्ध विभिन्न अतिवादों को छोड़कर मध्यम मार्ग का अनुवर्तन करना ही श्रेयस्कर समझा था।

कहानियों के सीमित क्षेत्र में उनके जीवन-दर्शन का सुस्पष्ट परिचय पाने की आशा तो नहीं की जा सकती, किन्तु यत्र-तत्र प्राप्त निर्देशों से जो आभास मिलता है, उससे उनके विचारों को समझने में यथेष्ट सहायता मिलती है।

जीवन के प्रति उनकी आस्था-भावना 'स्वर्ग के खंडहरों में' नामक कहानी में उदार मानवतावाद का रूप लेकर प्रकट हुई है। स्वर्ग और नरक के चक्कर से दूर रहकर जीवन और जगत को उसकी संपूर्णता में—

उसके पाप-पुण्य के साथ—ग्रहण करने का आग्रह प्रकट करते हुए वे कहते हैं :

"इस पृथ्वी को स्वर्ग की क्या आवश्यकता...? ना, ना, इस पृथ्वी को स्वर्ग के ठेकेदारों से बचाना होगा। पृथ्वी का गौरव स्वर्ग बन जाने से नष्ट हो जायगा। इसकी स्वाभाविकता साधारण स्थिति में ही रह सकती है। पृथ्वी को केवल वसुन्धरा होकर जीने दो, अपनी आकांक्षा के कल्पित स्वर्ग के लिए इस महती को, इस धरती को नरक मत बनाओ, जिसमें देवता बनने के प्रलोभन में पड़कर मनुष्य राक्षस न बन जाय।"[1]

निश्चय ही प्रसाद के मानवत्व की कल्पना देवत्व से महत्तर थी। मानवत्व सृष्टि के अनन्त प्रयोगों और सतत विकास की सिद्धि है। उनकी 'कामायनी' में जहाँ देव-सृष्टि का ध्वंस होता है, वहीं से मानव-सृष्टि का प्रारम्भ होता है। देवता की इष्ट-प्राप्ति के लिए मानव-आत्मा और अन्तःकरण की बलि का प्रतिरोध करते हुए वे 'देवदासी' नामक कहानी में कहते हैं :

"पापों को देवता खोजें, मनुष्य के पास कुछ पुण्य भी है, पद्मा! तुम उसे क्यों नहीं खोजती हो? पापों का न करना ही पुण्य नहीं। तुम अपनी आत्मा की अधिकारिणी हो, अपने हृदय की तथा शरीर की सम्पूर्ण स्वामिनी हो... ।"[2]

पर मानव के प्रति इतना आस्था-भाव रखते हुए भी, प्रसाद मानव से महत्तर किसी अव्यक्त निःसीम, सर्वव्याप्त, विश्वरूप चेतना सत्ता में विश्वास रखते थे। उसके सम्मुख समर्पण का भाव उनके साहित्य में पग-पग पर दिखाई पड़ता है। नियति, अदृष्ट, कर्म और संस्कार के रूप में उसके मूक संचालन को स्वीकार करते हुए ही वह मानव के कर्म-

---

१—'आकाशदीप' संग्रह की 'स्वर्ग के खंडहर में' शीर्षक कहानी।

२—वही, 'देवदासी' कहानी।

स्वातन्त्र्य को स्वीकार करते हैं। कभी-कभी उसके विधान और मानवीय सुख-दुख में विरोध की स्थिति भी आ जाती है और लेखक निराशा के साथ अनुभव करता है कि, "नियति भयानक वेग से चल रही है। आँधी की तरह उसमें असंख्य प्राणी तृण-तूलिका के समान इधर-उधर बिखर रहे हैं।" प्रसाद के सम्पूर्ण साहित्य में निष्फल यौवन, करुण प्रणय, दर्दीली स्मृति और व्यापक अवसाद की जो धूमिल नीहारिका छाई हुई दिखाई पड़ती है, उसके मूल में यही रहस्य है। किन्तु वास्तव में यह प्रसाद के साहित्य का केवल एक पक्ष है। उन्हें विश्वास है कि यह दुख, आँसू और अवसाद वास्तव नहीं, इनके भीतर भी किसी न किसी परोक्ष मंगल का सूत्र निहित है। इसीलिए वे आश्वासन देते हुए कहते हैं—

"जिसे तुम समझे हो अभिशाप
जगत की ज्वालाओं का मूल
ईश का वह रहस्य वरदान
कभी मत जाओ इसको भूल।"[१]

उनके इस विश्वास का प्रकाश अनेक कहानियों में भी फूटता दिखाई पड़ता है। आत्मघात करते हुए बलराम की कलाई पकड़कर रोकती हुई फीरोजा कहती है कि, सुख जीने में है मरने में नहीं। वह उसे कर्मण्यता का उपदेश देती है।[२] दुख और सुख के रहस्य को 'प्रतिध्वनि' संग्रह की 'प्रलय' शीर्षक रूपक-प्रधान कहानी के माध्यम से प्रकट करते हुए प्रसादजी कहते हैं कि, प्रलय भी उस महाचेतन का एक रूप है, सृष्टि ही है, और सर्ग भी प्रलय से खाली नहीं—वस्तुतः उस परम सत्ता

१—'कामायनी'।

२—'आँधी' संग्रह की 'दासी' कहानी।

से अपने को अभिन्न अनुभव करना ही आनन्द है और उससे विभेद की अनुभूति ही दुःख है, प्रलय है।

जहाँ उनकी 'आकाशदीप', 'स्वर्ग के खंडहर में', 'मधुआ', 'दासी', 'पुरस्कार', 'सलीम', 'गुंडा' और 'कालवती' प्रभृति कहानियों में वेदना, कसक और करुणा की कराह है, वहीं इनकी संवेदना में घुली-मिली जिजीविषा, संकल्पशक्ति और समर्थ कर्मण्यता का मौन संदेश भी वर्तमान है।

प्रसादजी की आख्यायिकाओं पर बहुधा यह दोषारोपण किया जाता है कि इनमें भावुकता का आतिशय्य है; ये यथार्थ जीवन और उसकी समस्याओं से बहुत दूर हैं; इनमें अतीत और कल्पना के रोमानी गीतों की खुमारी ही अधिक है, आदि-आदि। किन्तु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। अतीत और कल्पना के क्रोड़ में पहुँचकर भी प्रसादजी अपनी दुःख-दग्ध धरती और उसकी समस्याओं को सर्वथा भूल नहीं जाते। 'छाया' की प्रयोगकालीन कहानियों से लेकर 'इन्द्रजाल' तक की कहानियों में बराबर सामाजिक समस्याओं की ओर उनकी दृष्टि लगी रही। 'तानसेन' में उन्होंने अन्तर्जातीय विवाह को खुली व्यवस्था दी और 'चित्तौर-उद्धार' में विधवा-विवाह की वैधता की ओर समाज का ध्यान आकृष्ट किया। 'प्रतिध्वनि' की 'करुणा की विजय' नामक कहानी में तो वर्तमान समाज के असन्तुलित आर्थिक ढाँचे पर उन्होंने खुलकर तीखा व्यंग किया। अपनी बहन की हत्या के भागी तेरहवर्षीय निर्धन बालक को मुक्त करते हुए न्यायाधीश के मुख से उन्होंने कहलवाया है कि, "असहाय, निर्धन और अभिमानी तथा निर्बोध बालक के हाथ में शिशु का भार रख देना राष्ट्र के शुभ उद्देश्य की गुप्त रीति से, और शिशु की प्रकट हत्या करना है।" न्यायाधीश बालक की परिस्थिति का अनुभव करते हुए, और भी प्रखर व्यंग के रूप में आगे कहता है कि, यदि बालक ने हत्या की भी हो तो वह हत्याकारी का अस्त्र मात्र था; वास्तव में इसका दायित्व नगर

व्यवस्थापक पर है, जो किसी उत्तराधिकारीविहीन धनी की मृत्यु पर तो नगर-पिता बनकर उसकी सम्पत्ति को राजकोष में ले लेता है, धनी के निर्बोध उत्तराधिकारी को सुरक्षा की व्यवस्था करता है, पर निर्धनों की ओर से बिलकुल ही आँखें मूँद लेता है।

'आँधी' संग्रह की 'मधुआ', 'घीसू', 'बेड़ी', 'ग्राम-गीत', 'विजया', 'नीरा', 'अमिट-स्मृति' आदि कहानियों में तो वर्तमान और उसकी समस्याओं में वे पूर्ण रूप से उलझे दिखाई पड़ते हैं। 'बेड़ी' की कठोर संवेदना एक वाक्य में इतनी ही है, "हे भगवान, भीख मँगवाने के लिए, पेट के लिए, बाप अपने बेटे के पैर में बेड़ी भी डाल सकता है और वह नटखट फिर भी मुस्कराता था! संसार तेरी जय हो।" और इतनी ही होकर भी, वह कितनी विचार-गूढ़ तथा समस्या-संकुल है। 'नीरा' का बुड्ढा जीवन की कटुताओं में उलझे इस भयानक सत्य का प्रमाण है कि मनुष्य परिस्थितियों के थपेड़े खाकर न केवल नास्तिक हो जाता है वरन धीरे-धीरे उसमें सहज मानवीयता का भी ह्रास होने लगता है; और वह अपने व्यक्ति-जीवन तथा समाज दोनों ही क्षेत्रों में घोर विद्रोही बनकर जीता है। साथ ही वह इस बात का भी साक्ष्य देता है कि यदि मनुष्य की आर्थिक परिस्थितियों में यथेष्ट सुधार कर दिया जाय, वह आत्मनिर्भर बन सके, तो उसका वही घोर विद्रोह नवनीत-सा कोमल और उदार समर्पण भी बन सकता है। इसी प्रकार, 'इन्द्रजाल' की 'छोटा जादूगर', देवरथ', 'विराम-चिह्न' आदि कहानियों को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि कल्पना और अतीत के इन्द्रजाल से विमुग्ध प्रसाद की मातीं आँखों ने यथार्थ-जीवन और उसकी समस्याओं को नहीं देखा।

प्रसाद के सम्पूर्ण साहित्य में उदार देशभक्ति की ध्वनि मुखरित होती रही है। 'चन्द्रगुप्त' और 'स्कन्दगुप्त' में क्रमशः अलका और मातृ-गुप्त द्वारा गाये गये राष्ट्र-गीत उनके देश-प्रेमके अप्रतिम उदाहरण हैं।

उनकी अनेक कहानियों में भी उनकी यह राष्ट्रीयता और देश-प्रेम का भाव विभिन्न रूपों में व्यक्त हुआ है। 'आकाशदीप' के दस्यु बुद्धगुप्त की 'दार्शनिकों के प्यारे देश भारत-भूमि' के प्रति अगाध ममता, इतिहास के काले धूलिभरे पृष्ठों की दराज से झाँकते 'सालवती' के आठों दार्शनिक कुल-पुत्र और सालवती के चित्र, और 'पुरस्कार' की मधूलिका का उत्सर्ग निश्चय ही 'चन्द्रगुप्त' की अलका या 'स्कन्दगुप्त' के मातृगुप्त द्वारा गाये गये राष्ट्र-अभिनन्दन-गीतों से किसी प्रकार कम राष्ट्रीय नहीं।

सामाजिक जीवन के प्रति प्रसाद के दृष्टिकोण के दो पक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। एक ओर तो पुरातन संगत मर्यादाओं का वे खुले हृदय से समर्थन करते हैं; दूसरी ओर, विकृत रूढ़ियों और परंपराओं के प्रति उग्र विरोध का भाव व्यक्त करते हैं। 'शरणागत' ('छाया'), 'प्रतिमा' ('प्रतिध्वनि'), 'ममता', 'आकाशदीप' ('आकाशदीप') और 'सालवती' ('इन्द्रजाल') आदि कहानियों में तो वे भारतीय संस्कृति के विविध उज्ज्वल पक्षों की मुग्ध भाव से अभ्यर्थना करते हैं; पर 'गूदड़ी में लाल', 'करुणा की विजय' ('प्रतिध्वनि'), 'भिखारिन' ('आकाश-दीप'), 'मधुआ', 'घीसू', 'बेड़ी', 'विजया', 'अमिट-स्मृति', नीरा' ('आँधी'), 'छोटा जादूगर', 'विरामचिह्न' ('इन्द्रजाल') आदि में समाज की आर्थिक व्यवस्था और परंपरा-प्राप्त रूढ़ियों के विरुद्ध उनका उग्र रोष-भाव भी दर्शनीय है।

व्यक्ति-जीवन के बारे में भी उनकी विचारधारा अपनी दार्शनिक और सामाजिक दृष्टि के समान ही आदर्श-मंडित थी। जहाँ तक उनकी नारी-भावना का सम्बन्ध है, उनके हृदय की समग्र कोमलता, सारा सौन्दर्य उनकी नारी-कृतियों में साकार हो उठा है। उनकी नायिकाएँ सौन्दर्य, प्रेम, क्षमा, लज्जा, शील और उत्सर्ग की देवियाँ हैं। 'आकाश-दीप' की चम्पा, 'ममता' कहानी की ममता, 'स्वर्ग के खँडहर में' कहानी की लज्जा, 'देवदासी' की पद्मा, 'चूड़ीवाली' की विलासिनी ('आकाश

दीप'), 'आँधी' की लैला, 'दासी' की फीरोजा और इरावती, 'नीरा' कहानी की नीरा, 'पुरस्कार' की मधूलिका ('आँधी'), 'सलीम' की प्रेमा, 'चित्र वाले पत्थर' की मंगला, 'देवरथ' की सुजाता और 'सालवती' कहानी की सालवती ('इन्द्रजाल') आदि नायिकाएँ विभिन्न मुद्राओं में चित्रित एक ही आदर्श की अनेकरूप प्रतिमाएँ हैं, जो अपने-अपने विशिष्ट व्यक्तित्व में विभिन्न होकर भी प्राणवत्ता और गरिमा की दृष्टि से एक ही हैं।

पुरुष पात्र अनेक वर्गों से आने के कारण भिन्न-भिन्न रूपों में चित्रित किये गये हैं, पर इनके विषय में भी प्रसाद की एक आदर्श भावना थी और अन्ततः दुष्ट पात्रों को भी सुधारकर वे उसी रूपो में ला उपस्थित करते थे। उनके आदर्श नायक वीर, मनस्वी और प्रतिज्ञापरायण हुआ करते हैं। 'आकाशदीप' कहानी का बुद्धगुप्त, और 'सालवती' के अभय को उदाहरणस्वरूप लिया जा सकता है।

नारी-पुरुष के मधुर सम्बन्ध को ही वे सृष्टि की सर्वप्रमुख सार्थकता मानते थे। उनकी दृष्टि में इनका नैसर्गिक मिलन ही जीवन की पूर्णता का प्रतीक है। किसी भी संग्रह का कोई भी प्रेमव्यञ्जक कहानी इसी केंद्र-विन्दु को धुरी बनाकर घूमती दिखाई देगी। दोनों का परस्पर आत्मदान विलास नहीं तप है, और जीवन में यदि कुछ चरम प्राप्तव्य है तो वह इसी तप के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। 'ज्योतिष्मती' शीर्षक कहानी में लेखक ने प्रतीकात्मक ढंग से इसी सत्य को उद्घाटित किया है। अपने अन्धे पिता की खोई नेत्र-ज्योति को पुनः लौटाने के लिए सुन्दरी बनलता ज्योतिष्मती खोज रही है। साहसिक युवक उसे ज्योतिष्मती लता के पास ले जाता है, किन्तु बनलता उस दस्यु को उसे छूने से वर्जित करती है, उससे प्रश्न करती हुई पूछती है, "जिसे तुमने कभी प्यार किया हो, उससे कोई आशा तो नहीं रखते ?...सुनो, सुनो, जिसने चन्द्रशालिनी ज्योतिष्मती रजनी के चारों पहर, कभी बिना पलक लगे,

प्रिय की निश्छल चिन्ता में न बिताये हों, उसे ज्योतिष्मती न छूनी चाहिए। इसे जंगल के पवित्र प्रेमी ही छूते हैं, ले आते हैं, तभी इसका गुण... !"[1] वास्तव में ज्योतिष्मती और कुछ नहीं, वह जीवन की चरम सिद्धि का प्रतीक है—चाहे वह ब्रह्म हो या और कुछ—और उसे प्रेम की साधना से ही पाया जा सकता है। प्रसाद-साहित्य की प्रेम-साधना का यही रहस्य है।

संसार से दूर निभृत कन्दरा की तपस्या को प्रसाद जी वास्तविक तप नहीं मानते। ऐसे ही तप से जीवन का विरोध दिखलाते हुए उन्होंने 'कामायनी' में कहा है, 'तप नहीं केवल जीवन सत्य !' 'आकाशदीप' की 'वैरागी' नामक कहानी में भी उन्होंने अपना यही सिद्धान्त व्यक्त किया है। वैरागी सुन्दरी अतिथि के सौन्दर्य से प्रभावित तो होता है पर अपनी साधना में विक्षेप की आशंका से चुपचाप भाग जाता है। कहानी उसके इस पलायन पर मौन व्यंग करती है कि, यदि विराग राग के समीप रहकर उसे जीत न सका, उसके प्रभाव से अपने को बचा न पाया, तो उससे भयभीत होकर उसका भागना क्या पराजय का सूचक नहीं —पराजय नहीं ? इसके विपरीत अपने सात्विक राग की साधना में लगी हुई वह युवती आजीवन उस मिथ्या वैरागी की प्रतीक्षा में उसके विजन कुटीर से झाँकती अपने राग-तप में लगी रही।

प्रसाद जीवन में आचार और नैतिकता को किसी बाह्य विधान की कसौटी पर परखने के पक्षपाती न थे। हृदय की शुद्धि ही उनकी दृष्टि में सच्ची शुद्धि थी। 'प्रतिध्वनि' की 'पाप की पराजय' नामक कहानी की सुन्दरी नायिका अपनी अकालग्रस्त प्रजा के रक्षार्थ अपना सतीत्व तक बेचने के लिए तैयार हो जाती है। इसी प्रकार 'इन्द्रजाल' संग्रह की 'देवरथ' की सुजाता, धर्म-ढोंगियों द्वारा लांछित होने के अपने दुर्भाग्य को

१—'आकाशदीप' संग्रह।

स्वीकार करती हुई भी—स्वतः अपने को कुलबधू की मर्यादा के अयोग्य होने का निर्णय देती हुई भी—अपने भोलेपन में नैतिकता की रूढ़ मर्यादा के सम्मुख अपने पीछे एक प्रश्नचिह्न छोड़ जाती है कि क्या सचमुच ही वह पतिता और लांछिता थी ?

[ख] शिल्पगत वैशिष्ट्य

(अ) वस्तु योजना—कलाकार प्रसाद की कहानियों में स्थूल और सूक्ष्म दो प्रकार के कथानक गृहीत हुए हैं। इन कहानियों के उपादान अधिकतर उन्होंने जीवन के मधुर पक्ष—करुणा और प्रेम के क्षेत्र से ही चुने हैं। 'छाया' संग्रह की 'गुलाम' और 'जहाँनारा' नामक कहानियों को छोड़कर शेष सबका विषय प्रेम ही है। इसकी 'ग्राम' शीर्षक कहानी में यद्यपि प्रेम का स्वरूप प्रस्फुटित नहीं हुआ है, पर किसी न किसी रूप में उसमें उसका अस्तित्व है अवश्य। इसी प्रकार 'प्रतिध्वनि' संग्रह में 'प्रसाद' और 'प्रलय' के अतिरिक्त सभी कहानियों में प्रेम और करुणा की ही विभिन्न भंगिमाएँ चित्रित हुई हैं। 'आकाश-दीप' की तो प्रायः सब कहानियों का धरातल प्रेमरञ्जित है। 'आँधी' संकलन की भी कोई कहानी प्रेम-बिन्दु से दूर नहीं जा सकी है। 'इन्द्र-जाल' की 'विराम-चिह्न' कहानी को छोड़ देने पर शेष सभी रचनाओं में प्रेम का अनेकरूप सञ्चार दिखाई पड़ता है।

अतएव वस्तु-संग्रह के लिए क्षेत्र-विस्तार की दृष्टि से देखने पर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रसाद की कहानियों का क्षेत्र, प्रेमचन्द की कहानियों के सदृश सर्वाङ्गीण रूप से जीवन को चतुर्दिक से घेरनेवाला नहीं है। उनकी कहानियों का अपना सीमित संसार है। किन्तु साथ ही यह तथ्य भी स्वीकार करना पड़ेगा कि अपने परिमित क्षेत्र में प्रसाद जी जितनी गहराई तक पहुँच सके हैं, एक ही भाव की जितनी भंगिमाओं का चित्रण उन्होंने अपनी कहानियों में किया है, शायद ही किसी हिन्दी लेखक ने किया हो। पर जीवन के इस मधुवेष्टित पक्ष के साथ ही उसके

दूसरे पक्षों—कलह-कोलाहल, अभाव, शोषण, उत्पीड़न, और सामाजिक वैषम्य का जैसा अर्थवत्ता (Significance)-पूर्ण चित्रण वे कर सके हैं, वैसा तथाकथित कितने ही विशुद्ध यथार्थवादियों से भी सम्भव नहीं हो सका है। 'प्रतिध्वनि' संग्रह की 'दुखिया', 'करुणा की विजय'; 'आँधी' संग्रह की 'मधुआ', 'घीसू', 'बेड़ी', 'विजया', 'अमिट-स्मृति'; और 'इन्द्रजाल' संकलन की 'छोटा जादूगर', 'विराम-चिह्न' आदि कहानियाँ भावश्लथ होने पर भी यथार्थ-जीवन और उसकी नैत्यिक समस्याओं से ही निर्मित हैं। इस प्रकार, स्पष्ट है कि प्रसाद की मधुचर्या जीवन के अन्य पक्षों के लिए विशेष अवरोध नहीं उपस्थित करती।

प्रसाद के वस्तु-विन्यास की अपनी विशिष्टता केवल इस बात में ही नहीं दिखाई पड़ती कि उन्होंने जीवन के किसी क्षेत्र-विशेष से वस्तु-सञ्चयन किया, वरन् किसी भी क्षेत्र से सञ्चयित अपने उपादानों को उपस्थित करने का उनका कौशल भी निराला और दर्शनीय है।

'छाया' के प्रथम संस्करण की पाँच और द्वितीय संस्करण की छः परिवर्द्धित कहानियों में, वस्तु-योजना सम्बन्धी एक ही दृष्टि दिखाई पड़ती है। सभी कहानियों के कथानक स्पष्ट हैं, केवल 'ग्राम' कहानी को छोड़ सब में एकसूत्रता भी है। इन सभी कहानियों का विकास आरम्भ, मध्य और अंत के सुस्पष्ट सोपानों को क्रमशः पार करके हुआ है। उदाहरण-स्वरूप 'गुलाम' कहानी के कथानक का विकास लिया जा सकता है। प्रथम खंड में प्रसिद्ध शाहआलम, दिल्ली के बादशाह जीनत के साथ यमुना में नौका-विहार करते दिखाये जाते हैं। एक सुकुमार बालक दोनों को प्याला भर-भरकर देता है। बालक का नाम कादिर है। बादशाह और जीनत दोनों ही उसके मोहक सौन्दर्य से प्रभावित होते हैं। बादशाह की बारीक आँखें जीनत का रुख लक्ष्य कर लेती हैं। आज्ञा होती है कि वह बालक ख्वाजा सरा को सुपुर्द कर दिया जाय तथा वे उसे अपनी 'खास तालीम' में रक्खें। कहानी का एक मोड़ यहीं समाप्त हो जाता है।

दूसरे खंड में बीच के कई वर्षों को छोड़कर घटनाचक्र आगे बढ़ता है। गुलाम कादिर अब स्वस्थ और सुन्दर युवक हो गया है, किन्तु प्रथम खंड की 'खास तालीम' की आज्ञा के अनुसार उसका पुंसत्व छीन लिया गया है। अब वह बादशाह का प्रिय गुलाम है, उसका प्रभाव अत्यधिक बढ़ गया है, पर वह उससे तुष्ट नहीं है। वह दर्पण में अपना सौंदर्य देखकर एक बार स्वयं मुग्ध हो जाता है लेकिन दूसरे ही क्षण उदास होकर क्रोध से भर उठता है। बादशाह के इच्छित इनाम के लिए बार-बार पूछने पर वह अपनी उदासी ही व्यक्त करता है। बादशाह स्वेच्छा से उसे गुलामी से रुखसत और एकहजारी मनसब प्रदान करते हैं। तृतीय खंड में मध्य अवस्था का दूसरा खंड सामने आता है। गुलाम कादिर विद्रोहोन्मुख है, किन्तु मंसूर के कौशल से वह विद्रोह से विरत होकर दिल्ली की वजारत का पद ग्रहण करता है। चतुर्थ खंड में कथानक चरमावस्था पर पहुँचकर समाप्त हो जाता है—कादिर समस्त शक्ति-स्रोत अपने हाथ में करके बादशाह से भयंकर प्रतिशोध लेता है। वह स्पष्ट रूप से कहता है कि मुझसे जैसी चीज छीनी गई है उसी तरह की कोई चीज मैं तुमसे भी छीनना चाहता हूँ, और अपनी कटार से बादशाह को दोनों 'आँखें' निकाल लेता है।

'छाया' की शेष दसों कहानियों के कथानक भी ऐसे ही सुस्पष्ट और एकसूत्रात्मक हैं।

'प्रतिध्वनि' की कहानियों में वस्तु-योजना सम्बन्धी कुछ भिन्न दृष्टिकोण अपनाया गया है। वस्तु-संकलन के लिये लेखक बाह्य जीवन की अपेक्षा यहाँ हृदय के भाव-द्वन्द्वों की ओर उन्मुख हुआ है तथा उनकी संघटना के लिए स्थूल इतिवृत्तों का सहारा छोड़कर उसने सूक्ष्म कथा-वृत्तों को ग्रहण किया है। कथांश की अपेक्षा इन सभी कहानियों में व्यञ्जना को ही अधिक समोने की चेष्टा की गई है। भाव-पक्ष की दृष्टि से तो सबका स्वरूप एक सा ही है—किसी सूक्ष्म मनोवृत्ति की मार्मिक विवृति करना—

किन्तु, कथानकों के जिस परिधान में आवेष्टित कर वे भाव-तत्व सजाये गये हैं, वह सब में एक ही रंग-रूप के नहीं हैं। उन्हें तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। कुछ के कथानकों में तो किसी घटना चक्र का सूक्ष्म निर्देश, परिस्थिति की सामान्य सूचना, या अत्यन्त झिल-मिल-सा कथा-सूत्र दिखाई पड़ता है। उदाहरणस्वरूप क्रम से 'प्रसाद', 'प्रलय' और 'उस पार का योगी' शीर्षक कहानियों के कथानक लिये जा सकते हैं। भाव-विवृत्ति ही इनका प्रधान लक्ष्य है, कहानी का स्वरूप देने के लिए लेखक ने 'एनेक्डोट' के ढंग की किसी स्थिति-विशेष तक ही केन्द्रित घटना या कथा-सूत्र को आधार रूप में लेकर, उस पर भाव-चित्रों को अंकित कर दिया है। उदाहरणार्थ, 'प्रसाद' कहानी का कथानक इतना ही है कि सरला थोड़े से पुष्पों को लेकर मन्दिर में चढ़ाने जाती है, किन्तु वहाँ के वैभव और स्वर्ण-शृङ्गार को देख सकुचाते-सकुचाते सबकी आँख बचा फूलों को विग्रह के चरणों पर फेंक देती है। उसके लौटते समय पुजारी भगवान की एकावली निकाल कर उसे पहिना देता है। उक्त दोनों कहानियों के कथानक भी इतने ही झीने हैं। इनके सहारे भाव-वृत्तों को जिस ढंग से उभारा गया है, उसे देखते हुए इन कहानियों को गद्य-गीतों की कोटि में रखा जा सकता है। स्मरणीय है कि यहाँ कथानक भाव-वृत्तों को विवृत करने के साधन नहीं हैं, उन्हें उपस्थित करने के आधार मात्र हैं, उनकी विवृति उनसे स्वतन्त्र रहकर हुई है।

दूसरे प्रकार के कथानक ऐसे हैं जो भाव-वृत्तों को सुस्पष्ट करने के साधन रूप में व्यवहृत हुए हैं; इनके द्वारा व्यंजना और संकेत से मूल-भूत मनोभाव वा मनःस्थिति पर प्रकाश डाला गया है। 'गूदड़ साईं', 'गूदड़ी में लाल', 'अघोरी का मोह', 'पाप की पराजय', 'सहयोग', 'पत्थर की पुकार', 'करुणा की विजय', 'दुखिया' और 'प्रतिमा' कहानियों के कथानक ऐसे ही हैं। इनके स्वरूप-निर्देश के उदाहरणस्वरूप 'गूदड़ साईं' का कथांश लिया जा सकता है। मोहन से गूदड़ साईं की बड़ी घनि-

ष्टता है। माँ-बाप की दृष्टि बचाकर मोहन उसे एक रोटी देता है और उससे ही गूदड़ साईं तृप्ति अनुभव करता है। किन्तु मोहन के आर्यसमाजी पिता के भय से वह उसके घर आना छोड़ देता है। एक दिन कोई लड़का उसकी गुदड़ी खींचकर भागता है और छीना-झपटी में एक लड़के की असावधानी से चोट लग जाने से, बेचारे गूदड़ साईं का सिर फूट जाता है। मोहन के पिता उस बालक को दण्ड देना चाहते हैं पर उन्हें विरत करता हुआ गूदड़ साईं कहता है कि चोट से मुझे कोई कष्ट नहीं है, इन राम-रूप भगवान को प्रसन्न करने के लिए ही मैं चीथड़ों की छीना-झपटी करता हूँ। यहाँ कथानक द्वारा गूदड़ साईं के चरित्र का निर्माण कर लेखक ने उसके माध्यम से भगवान-स्वरूप निश्छल बालकों के प्रति उसकी ममतालु स्नेह-भावना का चित्रण कर दिया है। कथानकों के आरम्भ, मध्य, अन्त का निर्देश भी स्पष्ट है।

तीसरे प्रकार के कथानकों का स्वरूप 'खँडहर की लिपि' और 'चक्रवर्ती का स्तम्भ' नामक कहानियों में देखा जा सकता है। ये दोनों कहानियाँ ऐतिहासिक हैं। किन्तु 'छाया' के द्वितीय संस्करण की कहानियों-जैसा इनका कथानक सुस्पष्ट नहीं है। इस दृष्टि से, इनके कथानक वास्तव में 'प्रतिध्वनि' संग्रह की उल्लिखित दोनों वर्गों की कहानियों के कथानकों के मध्यवर्ती हैं। एक ओर तो ये भाव-चित्रों के पृष्ठाधार रूप में आये हैं, दूसरी ओर इनके कथांश की संवेदना से भावों की विवृति हुई है। आरम्भ, मध्य और अन्त की स्थितियाँ भी इन कथानकों में स्पष्ट हैं।

'आकाशदीप' की कहानियों में 'छाया' और 'प्रतिध्वनि' की वस्तु-संगठन सम्बन्धी दो भिन्न दृष्टियों का साथ-साथ व्यवहार हुआ है। 'आकाशदीप', 'ममता', 'स्वर्ग के खँडहर में', 'देवदासी', 'चूड़ीवाली', 'अपराधी' आदि कहानियों में 'छाया' के कथानकों-जैसे सुस्पष्ट कथानक गृहीत हुए हैं। यह अवश्य है कि कला का निखार इनमें अपेक्षाकृत विशेष है, पर स्वरूप की दृष्टि से दोनों वर्गों में बहुत अधिक साम्य परि-

लक्षित होता है। ये कथानक विस्तृत हैं, फलतः इनके मध्यवर्ती विकास-पथ में संघर्ष के साथ-साथ कई घुमाव के स्थल आते गये हैं। उनके द्वारा कौतूहल की भी भिन्न-भिन्न कोटियाँ बनती चलती हैं। उदाहरणार्थ, 'चूड़ीवाली' कहानी में सरकार के प्रति आसक्तिवश विलासिनी का चूड़ीवाली के रूप में उनके घर जाना तो कथानक का आदि भाग है। इसी भाग में सरकार की बहू द्वारा वह अपमानित भी होती है। यहीं से कथानक मध्य-विन्दु की ओर अग्रसर होता है और विलासिनी के मन पर अपमान की प्रतिक्रिया आरम्भ होती है। मध्य-पथ में फिर नया मोड़ आता है और सरकार प्रत्यक्ष रूप से लोक-लज्जा को छोड़कर उसके प्रेम को स्वीकार करते हैं। और भी कई मोड़ क्रमशः आते हैं—बहू की मृत्यु, सम्पत्ति का नाश, मुकदमें में पराजय और परिणामस्वरूप सरकार की विरक्ति आदि। विलासिनी का जीवन-क्रम भी बदलकर तपःप्रधान हो जाता है और एक दिन वर्षों बाद नाटकीय ढंग से पहुँचकर सरकार फिर उसे स्वीकार कर लेते हैं। स्पष्ट है कि विभिन्न सोपानों और मोड़ों को पार करते हुए भी कथानक की एकसूत्रता कहीं खंडित नहीं हो सकी है। ऐसी ही सुस्पष्टता और सुसम्बद्ध विकास की स्थिति इस वर्ग की सभी कहानियों में पाई जाती है।

'आकाशदीप' की कहानियों में, 'सुनहला साँप', 'हिमालय का पथिक', 'भिखारिन', 'प्रतिध्वनि', 'कला', 'बैरागी', 'बनजारा', 'प्रणय-चिह्न', 'रूप की छाया', 'रमला' और 'बिसाती' के कथानक, 'प्रतिध्वनि' की द्वितीय वर्ग की कहानियों के सदृश झीने हैं तथा इनके माध्यम से संकेत और व्यञ्जना द्वारा विभिन्न भावों की विवृति हुई है। उनकी अपेक्षा इनमें कलात्मकता अवश्य ही विशेष है।

'समुद्र-संतरण' और 'ज्योतिष्मती' के कथानक, 'प्रतिध्वनि' की प्रथम वर्ग की कहानियों के कथानक जैसे ही हैं। इनमें घटना या स्थिति का निर्देश मात्र परिलक्षित होता है।

'प्रतिध्वनि' के पश्चात 'आकाशदीप' के वस्तु-संगठन में लेखक ने जिस नये तत्व को अपनाया, वह है नाटकीयता का कौशल। यह विभेदकता इस संग्रह की प्रत्येक वर्ग की कहानियों में लक्षित होती है। लम्बी कहानियों में वर्णनात्मकता का पूर्वापेक्षया अधिक परिष्कृत रूप में व्यवहार हुआ है। नाटकीयता के समावेश से रोचकता के साथ ही व्यंग्यात्मकता भी आ गई है।

प्रथम वर्ग की कहानियों में से कुछ के कथानकों ('स्वर्ग के खंडहर में' और 'आकाशदीप' आदि) में, भारतीय नाट्य-शास्त्र की बीज, विकास और फलागम की प्रतिष्ठापना पूर्ण सफलता से हुई।[१] किन्तु साथ ही उनमें पाश्चात्य नाट्य-शिल्प की संघर्ष नामक कार्यावस्था का भी विशेष विनियोग हुआ है। द्वितीय एवं तृतीय वर्ग की कहानियों के कथानक-संगठन में नाट्यविधानों के अनुवर्तन का आग्रह नहीं दिखाई पड़ता। डा० लक्ष्मीनारायणलाल ने 'सुनहला साँप', 'विसाती', 'ममता' और 'बनजारा' जैसी छोटी कहानियों के कथा-सूत्रों में भी बीज, विकास और फलागम की पूर्ण और सफल प्रतिष्ठापना मानी है;[२] पर वस्तुतः इनमें से कुछ के कथानक तो इतने वेगवाही हैं कि उनमें विकास और फलागम नामक कार्यावस्थाओं जैसी कोई स्थिति आ ही नहीं पाती। विस्तार-परिमिति और लक्ष्य की एकान्तिकता के कारण ये सभी वर्णन अथवा चित्रण से आरम्भ होकर सीधे उत्कर्ष की ओर दौड़ते हैं और फिर वहाँ पहुँचते-पहुँचते अन्त की स्थिति आ जाती है। उदाहरणार्थ, 'बनजारा' का कथा-सूत्र चरम-सीमा पर पहुँचकर ही स्थिर हो गया है। इसी प्रकार 'हिमालय का पथिक' नामक कहानी का कथानक संघर्ष की मध्यम

१—'हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास' : डा० लक्ष्मीनारायणलाल, पृ० २०१।

२—वही, पृ० २०१।

अवस्था से आरम्भ होकर वेग से चरमोत्कर्ष पर पहुँचता है और वहीं रुँध जाता है। उसमें बीज, विकास, और फलागम की कोई भी स्थिति नहीं उभर पाती। वास्तव में इस वर्ग की कहानियों में परिस्थिति-जन्य प्रभावों को एकत्र करते हुए, क्षिप्रता से चरमोत्कर्ष-विन्दु पर पहुँचकर प्रभाव-समूह की पूर्ण सिद्धि और आभोग ही लेखक का मूल लक्ष्य रहा है। हाँ, नाटकीय व्यञ्जना का तत्व अवश्य ही इन कहानियों में दर्शनीय है।

'आँधी' और 'इन्द्रजाल' संग्रहों की कहानियों के कथानक 'आकाश-दीप' की प्रथम और द्वितीय वर्ग को कहानियों के कथानकों जैसे ही हैं। 'आँधी' की 'आँधी', 'दासी', 'व्रत-भंग, 'पुरस्कार', 'मधुआ'; और 'इन्द्रजाल' की 'इन्द्रजाल', 'सलीम', 'नूरी', 'भीख में', 'चित्रवाले पत्थर', 'गुंडा', 'देवरथ' और 'सालवती' कहानियों का वस्तु-संगठन स्पष्ट ही 'आकाशदीप' की प्रथम वर्ग की कहानियों के ढंग का है। कथानकों की सुस्पष्टता, विकास-रेखाएँ, नाटकीयता और काव्यात्मकता से उद्‌भावित व्यञ्जना आदि सभी तत्व दोनों वर्गों में एक जैसे ही हैं। नाटकीय-विधानों का अनुशीलन भी समान ढंग का ही है। किन्तु 'आँधी', 'दासी', 'सलीम', 'नूरी' और 'सालवती' में उनका व्यवहार अधिक स्पष्ट रूप में हुआ लक्षित होता है। इनके उतार-चढ़ाव में नाट्यशास्त्र की भारतीय एवं पाश्चात्य कार्यावस्थाओं की विमिश्रित परिपाटी का ध्यान रखा गया है।

'आँधी' की 'घीसू', 'बेड़ी', 'ग्राम-गीत', 'विजया', 'अमिट-स्मृति' और 'इन्द्रजाल' की 'परिवर्तन', 'संदेह', 'चित्र-मंदिर', 'अनबोला' आदि कहानियों के कथानक 'आकाशदीप' की 'सुनहला साँप', 'हिमालय का पथिक' आदि द्वितीय वर्ग की कहानियों जैसे हैं। किन्तु दोनों वर्गों के कथानकों में स्पष्टता की दृष्टि से कुछ स्तरगत अन्तर अवश्य है। 'आकाशदीप' की इस वर्ग की कहानियों के कथानक झीने अधिक

थे, 'आँधी' और 'इन्द्रजाल' की इस वर्ग की कहानियों के कथानक अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट हैं। 'आकाशदीप' में कथांश की अल्पता के कारण नाटकीयता, मनोरम मूर्तछवियों (Imagery) की योजना और रसात्मकता के सामञ्जस्य से रोचकता उत्पन्न करने की ओर लेखक की दृष्टि अधिक थी, पर इन कहानियों में से कितनी ऐसी हैं, जिनमें इनका बहुत कम प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ 'आँधी', की 'विजया' और 'अमिट-स्मृति' के कथानकों को लिया जा सकता है। इस विभेद का कारण यह है कि 'आँधी' और 'इन्द्रजाल' की इस वर्ग की कहानियों का वस्तु-तत्व-संकलन आन्तर जीवन के भाव-द्वन्द्वों से न होकर यथार्थ-जीवन की समस्याओं से हुआ है और उन स्थूल समस्याओं से प्राप्त उपादानों के लिए स्थूल कथानक भी नियोजित हुए हैं। 'इन्द्रजाल' की 'चित्र-मंदिर' और 'अनबोला' कहानियों में भाव-विवृति ही विशेष है अतः इनका कथानक स्पष्ट ही 'आकाशदीप' संग्रह की 'हिमालय का पथिक' और 'वैरागी' कहानियों जैसा है।

'प्रतिध्वनि' और 'आकाशदीप' की क्रमशः 'उस पार का योगी' और 'समुद्र-संतरण' जैसी विशुद्ध भाव-व्यञ्जक एवं प्रतीकात्मक कहानियाँ 'आँधी' तथा 'इन्द्रजाल' संग्रहों में नहीं हैं।

इस प्रकार प्रसाद जी के कथानक-संगठन का क्रमागत अध्ययन कर लेने पर ज्ञात होता है कि उन्होंने अपने कहानी-शिल्प में एक नये कथानक-तन्त्र को अपनाकर उस पर कई प्रयोग किए। उन्हें सामान्य शिल्प-विधान से भिन्न प्रयोग करने की प्रेरणा देनेवाला मूल तत्व, कहानियों के उद्देश्य से सम्बन्धित उनका अपना दृष्टिकोण-विशेष था। उनके मत से, "छोटी-छोटी आख्यायिकाएँ केवल विनोद के लिए ही नहीं। उनसे हृदय-पट पर एक ऐसी छाया पड़ती है जो गंभीर अथच प्रभावशालिनी होती है। मानव-हृदय को उनकी अपूर्णता, कल्पना के विस्तृत कानन में छोड़कर उसे घूमने का अवकाश देती है, जिसमें पाठकों

को अद्भुत आनन्द मिलता है।"[1] इस कथन में पाठकों की आनन्द-प्राप्ति का जो उद्देश्य है, उसे छोड़कर कहानी के अन्य उद्देश्यों को प्रेमचंद ने भी 'मनोरंजन' के साथ 'साहित्यिक' शब्द जोड़कर उसकी सीमा में समेट लिया है, पर आनंद-सृष्टि या रसोद्रेक की ओर उनकी दृष्टि नहीं थी।[2] कहानी-रचना सम्बन्धी इसी आधार-भूमि से प्रसाद, प्रेमचंद अथवा कहानी-रचना के प्रचलित विधानों से विलग हो जाते हैं। आगे अपनी नाट्यकला, उपन्यास-कला और कवित्व-शक्ति को समाविष्ट करके, उन्होंने अपनी कहानियों के कथानक-तंत्र में एक नये शिल्प का व्यवहार किया। हृदय में जैसी भावनाएँ उठीं, मन में जो मानसिक या व्यावहारिक समस्याएँ आईं, उन्हें एक या अनेक कथांश, अथवा कथा-सूत्रों से जोड़कर वे कहानियों का रूप देने लगे और इस प्रकार कहानी के प्रचलित कला-विधान से भिन्न एक नया शिल्प-कौशल सामने आया।

स्वरूप की दृष्टि से मोटे तौर पर प्रसाद के कथानकों को चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग के कथानक बहुत छोटे और सूत्रात्मक हैं। इनके भी स्तरगत दो उपविभाग किये जा सकते हैं। जिनमें किसी मानसिक उद्वेलन के साथ भाव-विवृति ही मूल लक्ष्य है, उनमें सूक्ष्मता विशेष है पर जिनमें स्थूल समस्याओं को ग्रहण किया गया है या उसके माध्यम से भाव-विवृति हुई है, उनमें अपेक्षाकृत स्थूलता है। उदाहरणस्वरूप क्रम से 'आकाशदीप' संग्रह की 'बिसाती' और 'आँधी' संग्रह की 'विजया' कहानियों को लिया जा सकता है। वैसे अस्पष्टता किसी भी उप-विभाग के कथानक में नहीं है। इस वर्ग की प्रारंभिक कहानियों में तो आरम्भ, विकास और अन्त की स्थितियाँ अत्यन्त स्पष्ट हैं, पर 'आकाशदीप' 'आँधी' और 'इन्द्रजाल' की ऐसी कहानियों के

१—'छाया' (सं० १९६९) का निवेदन।

२—'कुछ विचार' (१९४८ ई०) : पृ० ३५।

कथानकों में आरम्भ और उत्कर्ष की स्थितियाँ ही विशेष स्पष्ट हुई हैं।

दूसरे वर्ग के कथानक विशुद्ध भाव-विवृति का उद्देश्य ले कर लिखी गई प्रतीकात्मक कहानियों में अपनाये गये हैं। ये अत्यन्त सूक्ष्म हैं। केवल आरम्भ और उत्कर्ष की स्थितियाँ ही इनमें भी अधिक स्पष्ट हैं। पर इस प्रकार की कहानियाँ बहुत कम हैं—कुछ 'प्रतिध्वनि' में हैं और कुछ 'आकाशदीप' में। उदाहरणस्वरूप, 'प्रतिध्वनि' की 'उस पार का योगी' और 'आकाशदीप' की 'समुद्र-संतरण' कहानियों को लिया जा सकता है। इनमें कोई घटना नहीं घटित हुई है, केवल एक स्थिति की सूचना मात्र है और उसी के सहारे अनुभूति की व्यञ्जना हुई है।

तीसरे वर्ग के कथानक मध्यम-विस्तारगामी कहानियों में दिखाई पड़ते हैं। इनमें आरम्भ, विकास और अन्त का स्पष्ट दर्शन होता है। कुतूहल-सम्वर्द्धनार्थ संघर्ष की विभिन्न स्थितियाँ आई हैं और चरमसीमा की नाटकीय अवतारणा के उपरान्त कुछ नियतिमूलक अन्त हुआ है। प्रथम और द्वितीय वर्ग के कथानकों के सदृश कुछ कथानक यहाँ भी उत्कर्ष-विन्दु पर ही अवरुद्ध हो गये हैं (उदाहरणार्थ, 'पुरस्कार' कहानी दर्शनीय है), पर सामान्यतया ऐसा नहीं हुआ है। ऐसे कथानकों में एकसूत्रता का बराबर ध्यान रखा गया है। 'आकाशदीप', 'पुरस्कार' 'अघुआ', 'सलीम' और 'नूरी' के कथानक इसी कोटि में आयेंगे।

चौथे वर्ग के कथानक अधिकांश में तृतीय वर्ग के समान ही हैं, पर अपेक्षाकृत अपने विस्तृत संप्रसारण और कुछ अन्य विभेदों के कारण उनसे भिन्न हो गये हैं। इनमें वातावरण-निर्माण की ओर अधिक अभि-मुख होने के कारण लेखक ने मूल-कथा के साथ पताका और प्रकरी रूप में चलनेवाली कुछ अन्य कथाओं की भी नियोजना की है। नाट्य-शिल्प की कार्यावस्थाओं और किसी सीमा तक सन्धियों को दृष्टि में रखकर इनकी संघटना की गई है। ऐसे कथानकों में लेखक का वस्तु-विन्यास-कौशल अपने निखरे रूप में दिखाई पड़ता है। पग-पग पर यह आशंका बनी

रहती है कि कहीं किसी अवान्तर प्रासंगिक कथा का प्रभाव मूल संवेदना के साथ असहयोग करके अपनी स्वतन्त्र स्थिति न बना ले, किन्तु लेखक ने कलापूर्ण ढंग से अनेक मोड़ों और जोड़ों की अवतारणा करके अन्त तक जाते-जाते मूल और प्रासङ्गिक कथाओं को बिलकुल घुला-मिला दिया है। 'आकाशदीप' की 'स्वर्ग के खंडहर में', 'आँधी' संग्रह की 'आँधी' और 'दासी' तथा 'इन्द्रजाल' की 'सालवती' आदि कहानियों के कथानक इसी वर्ग के हैं। 'दासी' कहानी में तो छोटे-छोटे अनेक कथा-प्रसङ्ग हैं पर बलराज और इरावती तथा निआल्तगीन और फीरोजा की कथा अन्त तक चलती रहती है—अन्त तक स्पष्ट ही नहीं हो पाता कि किसे मुख्य कथा कहा जाय, किसे गौण। पर अन्त में लेखक बड़े कौशल से कहानी की एकोन्मुखता की रक्षा करता है—वह नाटकीय ढंग से कथानक में ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देता है कि सहसा दोनों भिन्न कथाओं की संवेदनाएँ एकरूप होकर गूँजने लगती हैं—दासी इरावती रानी और रानी फीरोजा दासी, पर दासी तो दोनों ही! इन तीनों कहानियों में, विशेषतः 'सालवती' में प्राचीन ढंग के कुछ इतिवृत्तात्मक अंश भी आये हैं, पर वे भी इतने रसप्लुत हैं कि कथानक के प्रवाह में व्याघात उपस्थित करने के बदले पाठक के मन में रस-सञ्चार कराते चलते हैं।

आकस्मिकता और संयोगों का सहारा लगभग चारों वर्गों के कथानकों में लिया गया है, पर कथानक का आधार घटना की अपेक्षा अनुभूति के अधिक होने से, अस्वाभाविकता का दोष सामान्यतः कहीं उभर नहीं पाया है। कथानक का मुख्य आधार कहीं घटनात्मक संवेदना और कहीं चरित्र बन गये हैं, अतः संयोग आकर भी खटकते कम हैं। उदाहरणार्थ 'आँधी' कहानी में लैला का अपने प्रेमी रामेश्वर के मित्र से ही पत्र पढ़ाने जाना, आकस्मिक रूप से उन्हीं दिनों वायु-परिवर्तनार्थ श्रीनाथ का अतिथि होना जबकि लैला के दल का डेरा भी वहीं पड़ा

हुआ है, आदि संयोग-आधृत घटनाएँ ही हैं और यदि कथानक का आधार लैला के अंतर्द्वन्द्वों की आँधी को न बनाकर इन घटनाओं को ही बनाया गया होता, तो निश्चय ही संयोगों का दोष उभरकर सामने आता। इसी प्रकार की कलात्मकता से लेखक ने आकस्मिकता और संयोगों के दोष से हर वर्ग के कथानकों को प्रायः बचा लिया है।

(आ) पात्र-कल्पना और उसका क्रमिक स्वरूप-विकास— प्रसाद की कहानियों में जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से आये हुए ऐसे पात्रों का एक समुदाय ही दिखाई पड़ता है, जो कई बातों में परस्पर समान होते हुए भी अपनी-अपनी व्यक्तिगत विशिष्टताओं से पूर्ण हैं। अपने स्रष्टा के कवि-व्यक्तित्व के अनुरूप ही सभी पात्र—चाहे वे स्त्री हों या पुरुष—किसी न किसी मात्रा में भावुक हैं, सौन्दर्यनिष्ठ हैं, प्रेमी हैं और जीवन के प्रति किसी सीमा तक सबका अपना एक निश्चित किन्तु भाव-पेशल दृष्टिकोण है। साथ ही देश-काल और परिस्थित के अनुसार सबका अपना-अपना स्वतन्त्र विकास हुआ है। जैसे दो आँख, एक नाक, दो कान आदि का स्थूल आंगिक साम्य रखते हुए भी हर व्यक्ति अपने व्यक्तित्व में दूसरे से भिन्न होता है, वैसे ही कतिपय अंशों में स्वरूपगत और स्वभावगत साम्य रखते हुए भी, प्रसाद की कहानियों के पात्र अपना-अपना विशिष्ट व्यक्तित्व रखते हैं। उनमें अपनापन इतना अधिक है कि विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधि रूप में आये हुए पात्र भी, अपने निरालेपन में प्रतिनिधि से अधिक व्यक्ति-विशेष ही जान पड़ते हैं। 'छाया' की 'गुलाम' कहानी के गुलाम कादिर, 'आकाशदीप' की 'भिखारिन' और 'देवदासी' तथा 'इन्द्रजाल' के 'छोटा जादूगर' और 'गुंडा' आदि सब पात्रों में उनकी वर्गगत सामान्य विशेषताओं की अपेक्षा अपना निज का वैशिष्ट्य ही मुख्य है। इसी प्रकार 'आँधी' संग्रह की 'मधुआ' कहानी का शराबी भी, जहाँ तक पेट काटकर शराब के लिए पैसा बचाने की बात है, साधारण शराबी वर्ग का प्रतिनिधि पात्र है, किन्तु 'इस पागल दुनियाँ'

को देखने की अपनी दृष्टि, जीवन के प्रति अपने दार्शनिक दृष्टिकोण और अपनी मूलभूत संवेदनशीलता के कारण वह इतना असाधारण बन जाता है कि उसे शराबी वर्ग का 'टाइप' पात्र नहीं कहा जा सकता।

अपने व्यक्तित्व के इस निरालेपन के कारण इन पात्रों को वर्गीकृत करना अत्यन्त कठिन है। प्रसाद की नारी-पुरुष विषयक कुछ भिन्न-भिन्न प्रकार की अपनी मान्यताएँ थीं और इसी आधार पर उनके चरित्रों को मोटे तौर पर दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—स्त्री पात्रों का एक वर्ग और पुरुष पात्रों का एक वर्ग।

ऊपर निर्दिष्ट सामान्य विशेषताओं के अतिरिक्त, करुणा की कोमल छाप और उत्सर्ग भावना स्त्री पात्रों में अधिकांश के व्यक्तित्व में घुली-मिली दिखाई पड़ती है। प्रेम और मधुमयी लालसा सबके जीवन की मूल वृत्ति है। किन्तु इसके अनेक रूप दिखाई पड़ते हैं। इसी प्रेरणा से कोई अपनी सामाजिक मर्यादा के सम्मुख घुटना टेक कर 'रसिया बालम' की राजकुमारी के समान अपने को प्रेम की वेदी पर उत्सर्ग कर देती है; कोई परिस्थिति की प्रेरणा से 'चन्दा' की चन्दा के समान प्रतिशोध की ज्वाला में अपने प्रतिरोधी को जलाकर स्वयं भी जल जाती है; तथा कोई 'स्वर्ग के खंडहर में' की मीना के समान अपने को एक भटकी हुई बुलबुल जैसी अनुभव करती हुई, चुपचाप किसी टूटी डाल पर बैठकर अन्धकार बिता लेना चाहती है। परन्तु लेखक की बौद्ध-दर्शन के अध्ययन से प्राप्त करुणा-भावना लगभग सभी नारी-पात्रों के जीवन में किसी-न-किसी रूप में प्रवेशकर उन्हें समत्व के धरातल पर ला उपस्थित करती है। चाहे 'छाया' संग्रह की प्रतिशोधदग्धा चन्दा हो, 'प्रतिध्वनि' संग्रह की 'गूदड़ी में लाल' रूप में स्वाभिमान को सँजोकर रखनेवाली अज्ञातनामा बुढ़िया हो, 'आकाशदीप' की अन्तर्द्वन्द्व-कातर चम्पा हो, 'आँधी' की उत्सर्गमयी बन्या लैला हो, या 'इन्द्रजाल' संकलन की नियति की सताई 'नूरी' हो—सबका जीवन करुणा से भरा हुआ है।

मानसिक द्वन्द्व तथा प्रतिहिंसा की भावना द्वारा नारी पात्रों के कोमल हृदय की मृदुता में कठोरता ला उपस्थित करना प्रसाद की कला का विशिष्ट गुण है। इस कठोरता के भी कई रूप सामने आते हैं। कहीं तो यह कर्तव्य की दुर्दम प्रेरणा बनकर प्रकट होती है ('आँधी' और 'पुरस्कार' में), कहीं प्रतिशोध की आग ('चंदा', 'अशोक' में); कहीं बलिदान की ज्योति बन कर आती है, ('देवरथ' में) और कहीं मान या आत्म-सम्मान का प्रेम-गर्भित रूप लेकर प्रकट होती है ('दासी' तथा 'भीख में' में)। 'आकाशदीप' की चम्पा, 'आँधी' की लैला और 'पुरस्कार' की मधूलिका की परिस्थितिजन्य कठोरता में तो प्राय: ये सभी रूप दिखाई पड़ते हैं। इनकी सहज सुकुमारता को मथ कर निकला हुआ इनके व्यक्तित्व का यह नवीन तत्व इन्हें अत्यन्त आकर्षक और सजीव व्यक्तित्व प्रदान करता है।

विकास-क्रम की दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि 'छाया'-'प्रतिध्वनि' संग्रहों की नारियाँ, जैसे अपने व्यक्तित्व में पूर्ण विकसित नहीं हैं। जहाँ इनके व्यक्तित्व की किसी विशेष रेखा को अधिक उभार दिया गया है, वहीं उसके प्रभाव से कुछ अन्य रेखाएँ अनपेक्षित ढंग से दब-सी गई हैं। उदाहरणार्थ, 'चित्तौर-उद्धार' का राजकुमारी पति के कल्याणार्थ पिता का दुर्ग-द्वार खोल कर पति-भक्ति का अनुपम उदाहरण तो अवश्य उपस्थित करती है, पर साथ ही साथ पिता के प्रति अपने कर्तव्यों को वह बिलकुल भूल जाती है। 'प्रतिध्वनि' की 'पाप की पराजय', 'सहयोग','कलावती की शिक्षा', 'दुखिया' आदि की नायिकाओं के चित्र तो बहुत धुँधले से जान पड़ते हैं। 'आकाशदीप' संग्रह में चरित्रांकन कला का परिपुष्ट विकास दिखाई पड़ता है। लगभग 'चित्तौर-उद्धार' की रानी की ही स्थिति में रहकर 'आकाशदीप' की चम्पा प्रेमी और पिता के प्रति अपने युगपत् कर्तव्यों का सम्यक निर्वाह करती है। इस संग्रह की तो अधिकांश कहानियों में स्त्री-चरित्र इतने अधिक

उभार कर चित्रित किये गये हैं कि उनसे सम्बन्धित पुरुष पात्र उनके व्यक्तित्व की परिधि में आ समाते हैं। 'आकाशदीप' के बुद्धगुप्त के लिए तो यह कथन उतना सत्य नहीं, पर 'स्वर्ग के खंडहर में', 'वैरागी', 'बनजारा', 'अपराधी' में, जहाँ पुरुष पात्रों को उभारना चाहा भी गया है वे स्त्री-पात्रों जैसा निखार नहीं पा सके हैं। इन नारियों में समाई छल-छल करुणा-भावना इनके व्यक्तित्व को निराला ही रूप प्रदान करती है। 'आँधी' संग्रह में, 'आँधी' कहानी की लैला, 'दासी' की फीरोजा और इरावती, 'घीसू', 'नीरा' और 'पुरस्कार' की क्रमशः बिन्दो, नीरा और मधूलिका आदि नारी पात्रों में भावुकता कम जीवन के यथार्थ तत्वों का ही अनुपात अधिक है। 'इन्द्रजाल' संग्रह में नारी-पात्रों का पूर्ण विकास दिखाई पड़ता है। 'इन्द्रजाल' कहानी की बेला, 'सलीम' की प्रेमा, 'नूरी' की नूरी, 'चित्रवाले पत्थर' की मंगला, 'गुंडा' की पन्ना और दुलारी, 'देवरथ' की सुजाता तथा 'सालवती' की सालवती के व्यक्तित्व में तो प्रसाद की नारी-भावना के विभिन्न परिस्थितियों और भिन्न-भिन्न मुद्राओं में अंकित किये गये चित्र सजीव हो उठे हैं।

स्त्री-पुरुष पात्रों की उल्लिखित सामान्य विशेषताओं के अतिरिक्त प्रसाद के नारी चरित्रों की भाँति पुरुष-चरित्रों की भी कुछ अपनी निराली विशेषताएँ हैं। भावुक, सुन्दर, प्रेमनिष्ठ और कुछ अंशों में मनस्वी होने के साथ ही, अधिकांश कहानियों के नायक किसी न किसी अन्तर्दाह से भरे हुए हैं और स्त्री-पात्रों के समान उनका यह दाह आत्म-घुटन न बन-कर, कर्मण्यता का प्रेरक उत्कट आत्म-बल और उत्सर्ग का आह्वान बन कर व्यक्त हुआ है। 'रसिया बालम' का रसिया, 'आकाशदीप' का बुद्ध-गुप्त, 'दासी' का बलराज, 'पुरस्कार' का अरुण, 'इन्द्रजाल' का गोला, 'गुंडा' का नन्हकू सिंह, 'सालवती' का अभय आदि—सभी मुख्य पुरुष-चरित्रों के व्यक्तित्व की मूल प्रेरक शक्ति यही अन्तर्दाह ही है।

सभी पुरुष पात्रों में अपना एक निरालापन है। इनके इस अनोखे-

उनके मुख्यतः तीन धरातल हैं—चारिचित्र दृढ़ता, संवेदनशीलता और व्यक्तित्व की अन्तर्मुखी भाव-धारा, जिसमें विद्रोह तड़प और हलकी करुणामिश्रित कोई न कोई स्वस्थ कुंठा अवश्य छिपी रहती है। स्त्री-चरित्रों की भाँति इन पुरुष-चरित्रों के निर्माण में भी, 'छाया' से लेकर 'इन्द्रजाल' तक, अनेक कलागत स्तर दिखाई पड़ते हैं। 'छाया' के पुरुष-पात्रों में कादिर ('गुलाम') और मदन ('मदन-मृणालिनी') का व्यक्तित्व सबसे अधिक विकसित हो सका है, पर ये भी अपने विकास में पूर्ण नहीं एकांगी हो हैं। मृणालिनी के लिए मदन द्वारा किया गया त्याग निश्चय ही असाधारण है; किन्तु ऐसे उदात्त प्रेम की तुलना में, केवल जाति-भेद के कारण उसका मृणालिनी को अपनाने से इनकार कर देना कुछ विशेष संगत और स्वभाविक नहीं जँचता। 'प्रतिध्वनि' संग्रह के गूदड़ साईं और अघोरी का व्यक्तित्व अपेक्षाकृत रेखा-चित्र के रूप में अधिक स्पष्टता पा सका है। 'आकाशदीप' संकलन के तो प्रायः सभी पुरुष-पात्र स्त्री-पात्रों द्वारा ही संचालित होते हैं। 'वैरागी', 'बनजारा', 'बिसाती', 'हिमालय का पथिक' आदि कहानियों में भी, जिनके शीर्षक पुरुष- पात्रों से ही संबद्ध हैं, कहानी का केन्द्र-बिन्दु पुरुष-चरित्रों में नहीं स्त्री-चरित्रों के व्यक्तित्व में ही छिपा है। पुरुष-चरित्रों के व्यक्तित्व का वास्तविक विकास 'आँधी' संग्रह की 'घीसू', 'बेड़ी', 'अमिट-स्मृति', 'पुरस्कार' और 'मधुआ' कहानियों में दिखाई पड़ता है। जीवन की विविध परिस्थितियों और समस्यओं से संचालित ये पात्र अपने में स्वतः विकसित होते हैं। 'इन्द्रजाल' सकलन के गोली ('इन्द्र-जाल' कहानी), सलीम ('सलीम'), छोटा जादूगर ('छोटा जादूगर'), ब्रजराज ('भीख में'), नन्हकू सिंह ('गुंडा') और अभय ('सालवती') आदि चरित्र तो पूर्ण विकसित, सहज मानवीय एवं परिचित से प्रतीत होते हैं।

सामान्य रूप से प्रसाद के स्त्री-पुरुष दोनों प्रकार के चरित्रों में

पाया जाने वाला सर्वाधिक मोहक गुण है उनका विरागमिश्रित अनुराग, और निवृत्तिमूलक सन्यास के विरुद्ध प्रवृत्ति की कर्मण्यता से व्यक्तित्व को निखारने वाली तपस्या की अग्नि। मर्यादा के सामान्य स्तर से गिरे हुए पात्र भी इस अग्नि में अपना कलुष जलाकर परम पावन बन जाते हैं। 'चित्रवाले पत्थर' की मंगला, 'देवरथ' की सुजाता और 'सालवती' की सालवती, परिस्थितिवश या अपनी मानवीय दुर्बलतावश मर्यादा से स्खलित नारियाँ हैं, किन्तु इनके जीवन में जो अगला मोड़ उपस्थित किया गया है, उस पर चलती हुई ये नारियाँ अन्धकार के गर्त से निकल कर उज्ज्वल आलोक में पहुँच जाती हैं। लेखक के चरित्रांकन-कौशल से इनका परिस्थितिजन्य पतन ही इनके व्यक्तित्व-विकास का एक सोपान बन गया है। 'चूड़ीवाली' वेश्या विलासिनी भी अपने इसी तप के कारण 'तितली' उपन्यास की तितली के समान पवित्र कुलवधू बन जाती है। 'आकाशदीप' की चम्पा, 'बनजारा' की मोनी और 'देवरथ' की सुजाता का विरागगर्भित उत्कट राग भी एक तप ही है, जो संयम और अन्तर्मुखता अपनाकर अत्यन्त प्रखर-प्रज्ज्वलित हो गया है।

पुरुष पात्रों में तपस्या की इस अग्नि का आलोक 'आकाशदीप' के बुद्धगुप्त और 'गुंडा' के नन्हकू सिंह में सबसे अधिक दिखाई पड़ता है। दुर्दान्त जलदस्यु बुद्धगुप्त जिसके नाम से बाली, जावा और चम्पा का आकाश गूँजता था, पवन थर्राता था, इसी ज्वाला से पिघलकर मोम-सा कोमल बन जाता है और अपने पौरुष से अर्जित विशाल साम्राज्य को छोड़कर दार्शनिकों के देश भारत में लौट आता है। नन्हकू सिंह भी बाहर से तो दुर्द्धर्ष गुंडा है किन्तु अन्तर में अतिशय द्रवणशीलता छिपाये हुए है। उसके हृदय में भी एक ज्वाला धधकती है, विराग से अनुशासित सुकुमार प्रेम पलता रहता है और उसी की प्रेरणा से वह प्रेयसी पन्ना तथा उसके पुत्र चेतसिंह के मान-रक्षार्थ बीसों तिलंगों की संगीनों के बीच चट्टान के समान अविचल होकर तलवार चलाता जाता है।

चरित्रांकन सम्बन्धी विशेषताओं का समग्र-आकलन—प्रसाद की पात्र-कल्पना और उसके क्रमिक स्वरूप-विकास का परिचय प्राप्त कर लेने के बाद चरित्र-चित्रण में प्रसाद के अपने स्वचिन्तित शिल्प–विधान की विशेषताओं का समग्र रूप से संक्षिप्त विचार कर लेना संगत होगा।

कहानी के परिमित प्रसार में पूरा चरित्र नहीं उसका कोई अंश-विशेष ही प्रकाशित किया जाता है और इसके लिए भी कहानीकार को आरम्भ से लेकर अन्त तक बराबर सतर्क रहना पड़ता है कि कहीं चरित्रोद्घाटन का कोई अवसर व्यर्थ न जाने पाये। इसीलिए प्रसाद जी पात्रों का परिचय देते समय ही उसके व्यक्तित्व का पूरा खाका खींच देते हैं। कहीं तो यह परिचय वर्णन द्वारा होता है और कहीं संकेत द्वारा। आगे भी, ज्यों-ज्यों पात्रों का विकास होता जाता है, उनके कार्य-कलापों द्वारा, कथोपकथनों द्वारा, देशकाल-परिस्थितिगत सूक्ष्म निर्देशों द्वारा, वे उनके व्यक्तित्व की विभिन्न भंगिमाओं को उद्घाटित करते जाते हैं। किन्तु चरित्र-चित्रण की इन सामान्य पद्धत्तियों के अतिरिक्त प्रसाद के चरित्रांकन की यह अपनी विशेषता है कि वे व्याख्या और विवरण से कम, व्यञ्जना और संवेदना से अधिक काम लेते हैं।

'ममता' कहानी के प्रारंभ के साथ ही लेखक नायिका ममता का रूप-चित्र सामने उपस्थित कर देता है, "रोहतास दुर्ग के प्रकोष्ठ में बैठी हुई युवती ममता, शोण के तीक्ष्ण गंभीर प्रवाह को देख रही है। ममता विधवा थी। उसका यौवन शोण के समान ही उमड़ रहा था। मन में वेदना, मस्तक में आँधी, आँखों में पानी की बरसात लिए, वह सुख के कंटक-शयन में विकल थी। वह रोहतास दुर्गपति के मंत्री चूड़ामणि की अकेली दुहिता थी...परन्तु विधवा थी...तब उसकी विडम्बना का कहाँ अन्त था?"[१] स्पष्ट है कि

१—'आकाश दीप' संग्रह।

यह परिचय विशुद्ध वर्णनात्मक नहीं। थोड़े से वाक्यों में ममता का स्थूल परिचय—वह कौन है, कैसी है, किस स्थिति में है आदि—देकर लेखक ने व्यञ्जना द्वारा उसकी मानसिक अवस्था की ओर भी मार्मिक निर्देश कर दिया है।

चरित्रों का विकास दिखाते समय मनोवैज्ञानिक स्थितियों का समावेश करके व्यक्तित्व की छिपी रेखाओं को आलोकित करना प्रसाद के चरित्रांकन का विशिष्ट गुण है। लगता है जैसे प्रसाद जी का यह दृढ़ विश्वास था कि बुरा से बुरा मनुष्य भी अच्छाइयों से बिलकुल खाली नहीं होता—उसकी अन्तःनिविष्ट घोर कज्जलता में भी देवत्व का कुछ न कुछ प्रकाश अवश्य छिपा रहता है। उसी प्रकाश-किरण को उद्घाटित करने के लिए कथानक के साथ ही साथ चरित्र में भी प्रसाद जी नये मोड़ उपस्थित करते चलते हैं। 'मधुवा' कहानी का शराबी कितना फक्कड़ और व्यसनी है, कहानी के आरंभिक अंश में इसका पूरा परिचय मिल जाता है। किन्तु इतना ही तो उसका पूर्ण व्यक्तित्व नहीं, उसमें भी कुछ उज्ज्वलता अवश्य होनी चाहिए। उसे दिखाने के लिए वर्णन का सहारा न लेकर लेखक ने मनोवैज्ञानिक मोड़ देकर एक दुखी और सताये बालक को कथानक में सामने ला रखा है। उसकी सिसकी और आँसू शराबी के हृदय को पिघला देते हैं और अलमस्त शराबी वर्षों पूर्व तोड़ी हुई गृहस्थी के बिखरे सूत्र बटोरने में पुनः संलग्न हो जाता है।

इसी प्रकार चरित्र का विकास दिखाने के लिए वे विभिन्न मानसिक या व्यावहारिक दो परस्पर विरोधी भावों के घात-प्रतिघात की चित्रात्मक अवतारणा करते हैं और उसके आलोक में पात्रों की मनःस्थिति का सुन्दर चित्र स्वतः उपस्थित हो जाता है। 'आकाशदीप' और 'पुरस्कार' कहानियों में क्रमशः चम्पा तथा मधूलिका के व्यक्तित्व को निखार देने के लिए लेखक ने इसी कौशल से काम लिया है। ऐसे अवसरों पर संकेत और व्यञ्जना को लेखक ने अपने वर्णन में अधिक प्रश्रय दिया है। राष्ट्र-प्रेम और

व्यक्ति-प्रेम के अन्तर्द्वन्द्व में उलझी हुई मधूलिका की द्विधापूर्ण मनःस्थिति का अन्धकाराच्छन्न प्रकृति के साथ सारूप्य दिखाकर जो चित्रात्मकता उत्पन्न की गई है, उससे मधूलिका का व्यक्तित्व सजीव हो उठा है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अत्यंत गम्भीर ऐसी परिस्थितियों में पात्रों के क्रिया-कलाप द्वारा, उनकी मुद्राओं और भंगिमाओं में घटित होनेवाले परिवर्तनों की सूचना द्वारा, उनके विदग्ध संवादों द्वारा तथा परिस्थिति की जटिलता के व्यंग्यात्मक निर्देशों द्वारा संयम के साथ चरित्र-विकास दिखाया गया है। मधूलिका को उसका वंश-गौरव तथा राष्ट्र-प्रेम एक ओर खींच रहा है, अरुण का प्रेम एक ओर आकर्षित कर रहा है—इन द्विविध भावों के उदय और द्वन्द्व के चित्रण से उसके चरित्र पर कितना प्रकाश पड़ता है, इसे निम्नाङ्कित पंक्तियों में देखा जा सकता है :

"पथ अंधकारमय था और मधूलिका का हृदय भी निविड़ तम से घिरा था। उसका मन सहसा विचलित हो उठा, मधुरता नष्ट हो गई। जितनी सुख-कल्पना थी, वह जैसे अन्धकार में विलीन होने लगी। वह भयभीत थी, पहला भय उसे अरुण के लिए उत्पन्न हुआ, यदि वह सफल न हुआ तो? फिर सहसा सोचने लगी—वह क्यों सफल हो?... मगध कोशल का चिर शत्रु! ओह, उसकी विजय!...सिंहमित्र कोशल का रक्षक वीर, उसी की कन्या आज क्या करने जा रही है? नहीं, नहीं। 'मधूलिका!' 'मधूलिका!!' जैसे उसके पिता उसे अन्धकार में पुकार रहे थे। वह पगली की तरह चिल्ला उठी, रास्ता भूल गई।"[१]

घटना का विस्तृत वर्णन न देकर नाटकीय स्थिति-चित्रों और नाटकीय व्यञ्जना द्वारा ही चरित्र की समस्त भंगिमाओं का उद्घाटन कर देनेवाली प्रसाद की कला का सुन्दर उदाहरण 'पुरस्कार' कहानी के अन्तिम अंश में दिखाई पड़ता है। मधूलिका ने कर्तव्य की प्रेरणावश अरुण के सारे

१—'आँधी' संग्रह की 'पुरस्कार' कहानी।

रहस्यों का प्रकाशन कर श्रावस्ती दुर्ग को बचा तो लिया, पर व्यक्तिगत प्रेम के प्रति उपेक्षा-भाव और अरुण के ऊपर आई हुई आपत्ति की उसके हृदय पर क्या प्रतिक्रिया हुई, लेखक ने इसका विवरण देने की कोई आवश्यकता न समझी। किन्तु अन्त का केवल एक नाटकीय निर्देश उसकी मनःस्थिति का पूर्ण प्रकाशन कर देता—" 'तो मुझे भी प्राण दंड मिले', कहती हुई वह बन्दी अरुण के पास जा खड़ी हुई।"

कहीं-कहीं कथोपकथनात्मक संकेत रूप में चरित्रों को आलोकित करने की कला इतनी बारीक और पेशल हो गई है कि उससे चरित्र की विभिन्न भंगिमाओं का प्रकाशन तो होता ही है, कहानी की रसात्मकता में भी अभिवृद्धि होती जाती है। उदाहरणार्थ एक दासी, राजमाता पन्ना और दुलारी का निम्नलिखित वार्तालाप नन्हकू सिंह के चरित्र पर स्पष्ट रूप से तथा पन्ना के चरित्र पर सूक्ष्म रूप से जो प्रकाश डालता है वह दर्शनीय है :

" 'महारानी ! नन्हकू सिंह अपनी सब जमींदारी सर्वांग, भैंसों की लड़ाई, घुड़दौड़ और गाने-बजाने में उड़ाकर अब डाकू हो गया है। जितने खून होते हैं, सबमें उसका हाथ रहता है।' उसे रोक कर दुलारी ने कहा—'यह झूठ है। बाबू साहब के ऐसा धर्मात्मा तो कोई है ही नहीं। कितनी विधवाएँ उनकी दी हुई धोती से अपना तन ढकती हैं। कितनी लड़कियों की शादी-ब्याह होती है ...।'

"रानी पन्ना के हृदय में तरलता उद्वेलित हुई। उन्होंने हँसकर कहा, 'दुलारी, वे तेरे यहाँ आते हैं न ? इसी से तू उनकी बड़ाई...।'

" 'नहीं सरकार, शपथ खाकर कह सकती हूँ कि बाबू नन्हकू सिंह ने आज तक कभी मेरे कोठे पर पैर नहीं रखा।'

" राजमाता न जाने क्यों इस अद्भुत व्यक्ति को समझने के लिए चंचल हो उठी थीं। तब भी उन्होंने दुलारी को आगे कुछ न कहने के लिए तीखी दृष्टि से देखा।"[1]

१—'इन्द्रजाल' संग्रह की 'गुंडा' कहानी।

यह कथोपकथन एक ओर तो नन्हकू सिंह के व्यक्तित्व के दो विरोधी पक्षों को स्पष्ट करता है, दूसरी ओर पन्ना के हृदय में छिपे हुए नन्हकू के लिए सञ्चित प्रेम-भाव का भी सूक्ष्म निर्देश दे देता है। सम्पूर्ण कहानी में यही एक स्थल है जो स्पष्ट करता है कि नन्हकू का प्रेम एकांगी न था। पन्ना राजरानी है, उसकी मर्यादा भी उसे निभानी है; साथ ही उसके सुकोमल हृदय को यह सोच कर चोट भी लगती है कि उसका प्रेमी नन्हकू किसी अन्य नारी को भी प्रेम कर सकता है। उसकी इस सम्पूर्ण मनःस्थिति और सामाजिक मर्यादा का उक्त कथोपकथन से व्यञ्जनापूर्ण आभास मिल जाता है।

सर्वांशतः कहा जा सकता है कि प्रसाद के चरित्र-चित्रण में पात्रों की आत्म-चिन्तना के रूप में आये हुए निर्देशों, लेखक द्वारा दिये गये वर्णनात्मक संकेतों और चरित्रोद्घाटन करनेवाले कथोपकथनों में, प्रगीत-काव्य जैसी वैयक्तिक अनुभूतियों की तीव्र व्यञ्जना, नाटकीय कौशल और उच्च कोटि की लाक्षणिकता का अद्भुत समावेश हुआ है। अपने चरित्र-चित्रण में वे उतनी ही रेखाएँ उभारना अभीष्ट समझते हैं जितने से पात्रों के व्यक्तित्व का अन्तर्बाह्य, सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर, कुछ छिपा न रह सके—उसे गाढ़े रंग से रँगकर सामने रखना उन्हें पसन्द नहीं। चाहे सुस्पष्ट कथानक वाली कहानियों के पात्र हों या सूक्ष्म कथानक वाली कहानियों के, सबके चरित्रांकन में इसी संयमित कला का दर्शन होता है।

(ई) **नाटकीय कौशल**—नाटकीयता प्रसाद जी की कहानियों का अनिवार्य और विभेदक गुण (differentia) है। कहानियों में वैसे तो यह अनेक रूपों में दिखाई पड़ती है पर मुख्यतः तीन रूपों में इसका स्पष्ट दर्शन होता है : (क) संवादों के रूप में, (ख) सक्रियता और संघर्ष के रूप में, (ग) चरमोत्कर्ष के विधान के रूप में। इनमें से प्रत्येक रूप का अलग-अलग अध्ययन अधिक सुविधाजनक तथा समीचीन होगा।

(क) **संवाद**—कहानियों में प्रयुक्त प्रसाद के संवादों के दो रूप

प्राप्त होते हैं : (अ) प्रथम प्रकार के संवादों में कथोपकथन के स्वरूप और भाव दोनों तत्वों में नाटकीयता का समावेश स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है; (ब) दूसरे प्रकार के संवादों में कथोपकथन के भाव-तत्व में ही नाटकीयता पाई जाती है—सम्बद्ध पात्रों की मुद्रा, स्थिति, वातावरण और कार्य-कलापों के निर्देश के कारण स्वरूपगत नाटकीयता अंशतः दब-सी जाती है। उदाहरणार्थ, क्रमशः निम्नलिखित उद्धरणों को देखा जा सकता है :

(अ) "बन्दी !"

"क्या है ? सोने दो ।"

"मुक्त होना चाहते हो ?"

"अभी नहीं, निद्रा खुलने पर !"

"फिर अवसर न मिलेगा ।"

"बड़ा शीत है, कहीं से कम्बल डालकर कोई शीत से मुक्त करता ।"

"आँधी की सम्भावना है। यही अवसर है। आज मेरे बन्धन शिथिल हैं ।"

"तो क्या तुम भी बन्दी हो ?"

"हाँ, धीरे बोलो, इस नाव पर केवल दस नाविक और प्रहरी हैं ।"[1]

(ब) "वृद्ध ठठा कर हँस पड़ा। उसने कहा, 'मेरा उपास्य मेरी झोपड़ी में है, इस सदानीरा में है, और मेरे परिश्रम में !'

—सालवती चकित हो देखने लगी।

वृद्ध ने कहा, 'चौंक मत बेटी ! मैं हिरण्यगर्भ का उपासक हूँ। देख, सदानीरा की शिलाओं में स्वर्ण की प्रचुर मात्रा है ।'

१—'आकाशदीप' संग्रह की 'आकाशदीप' कहानी।

'तो क्या पिता जी ! तुमने इसीलिए इन काले पत्थरों से झोपड़ी भर रखी है ?' सालवती ने उत्साह से कहा ।"[१]

किन्तु अधिकांश कहानियों के संवादों में इन दोनों रूपों का मिश्रित रूप ही व्यवहृत हुआ है ।

प्रसाद के कथोपकथनों की यह विशेषता है कि वे कथानक में आगे आने वाली घटनाओं की ओर संकेत करके, कुतूहल का संवर्द्धन करते हुए, पात्रों की चरित्रगत भंगिमाओं का भी नाटकीय ढंग से उद्‌घाटन करते चलते हैं । अधिकांश कहानियों में तो देश-काल-परिस्थिति के विविध पक्षों को इतने नाटकीय कौशल से संवादों द्वारा प्रस्तुत किया गया है कि कहानी के वातावरण में अद्‌भुत सजीवता आ गई है । उदाहरणार्थ, 'सालवती' कहानी में आठों कुलपुत्रों, मगध राज के महामंत्री और सालवती के संवादों को लिया जा सकता है ।

'छाया' और 'प्रतिध्वनि' के अधिकांश संवाद ऋजु और सुष्ठु होने पर भी कहीं-कहीं अत्यधिक भावश्लथ हो गये हैं । 'आकाशदीप' की सूक्ष्म कथानक वाली कहानियों के संवाद भी लगभग इसी ढंग के हैं । किन्तु जिन कथानकों में स्पष्टता है, उनमें ('स्वर्ग के खँडहर में' छोड़कर) संवादों का स्वाभाविक रूप दिखाई पड़ता है । आँधी' और 'इन्द्रजाल' के संवाद प्रायः संयमित, स्वाभाविक, नाटकीय और परिस्थिति-सापेक्ष हैं । इसीलिए उनमें व्यञ्जकता अपेक्षाकृत अधिक है ।

(ख) संघर्ष और (ग) चरमसीमा का विधान—प्रसाद की कहानियों में, कथानक को गति और चरित्रों को निखार देने के लिए संघर्ष की बहुत अधिक सहायता ली गई है । वाल्टर बी० पिटकिन के अनुसार कहानियों में तीन प्रकार के संघर्षों की योजना की जाती है:[२]

१—'इन्द्रजाल' संग्रह की 'सालवती' कहानी ।

2—"The Art and the Business of Short Story Writing" (1919), P. 74

(क) मनुष्य का भौतिक जगत से संघर्ष, (ख) मनुष्य का मनुष्य से संघर्ष, और (ग) मनुष्य का अपने ही दो विरोधी भावों से संघर्ष। प्रसाद की कहानियों में संघर्ष के प्रायः तीनों रूप दिखाई पड़ते हैं। कहीं तीनों अलग-अलग आते हैं, कहीं कोई दो द्वन्द्व साथ-साथ घटित होते हैं और कहीं तीनों का मिला-जुला रूप दिखाई पड़ता है।

आरम्भिक कहानियों में प्रथम और द्वितीय प्रकार के संघर्षों का ही दर्शन अधिक होता है। 'चन्दा' की चन्दा का, 'रसिया बालम' के रसिया का और 'गुलाम' के कादिर का संघर्ष अपनी परिस्थितियों से है, जिनमें मनुष्य भी परिस्थितियों से सम्बद्ध होने के कारण विरोधी रूप में संघर्षरत हैं। आगे भी जिन कहानियों में अलग से मनुष्य का मनुष्य से संघर्ष चित्रित किया गया है, वहाँ प्रायः इसके लिए एक प्रेम-त्रिकोण की योजना की गई है। कहीं एक नारी के लिए दो पुरुष संघर्षरत दिखाये गये हैं ('चन्दा', 'देवदासी', 'इन्द्रजाल' कहानियों में), कहीं एक पुरुष के लिए दो नारियाँ परस्पर प्रतिस्पर्धी रूप में चित्रित हुई हैं ('चूड़ीवाली' और 'आँधी' कहानियों में)। किन्तु स्मरणीय है कि 'क' और 'ख' वर्ग के संघर्ष-रूपों की अवतारणा भी प्रायः चरित्र के व्यक्तित्व का विकास-क्रम दिखाने के लिए ही हुई है; और अंततः इन दोनों की चरम परिणति चरित्र के अन्तःसंघर्ष के रूप में दिखाई गई है। उदाहरणार्थ, 'आकाशदीप' नामक कहानी में आरम्भिक द्वन्द्व बाह्य-द्वन्द्व ही है, किन्तु इसकी चरम परिणति चम्पा और बुद्धगुप्त के अन्तःसंघर्ष के रूप में होती है। चम्पा के हृदय में उसका अपना संघर्ष और प्रकृति का बाह्य संघर्ष, दोनों एकीभूत होकर समा जाते हैं : "जैसे बेला से चोट खा कर सिन्धु चिल्ला उठता है, उसी के समान रोदन करूँ? या जलते हुए स्वर्ण-गोलक सदृश अनन्त जल में डूब कर बुझ जाऊँ?"[1] वह बुद्धगुप्त से

१—आकाशदीप' संग्रह।

घृणा करना चाह कर भी अपने को प्रेम करने से रोक नहीं पाती।

चाहे किसी भी प्रकार का संघर्ष हो, लेखक ने उसकी अवतारणा के लिए कथानक को मोड़ या तनाव देकर जिस कौशल से नाटकीय चित्र-विधान की सृष्टि की है, उससे सम्बद्ध कहानियों में गति और सम्बद्ध पात्रों के व्यक्तित्व में, सर्वत्र ही, नवता आती गई है। विभिन्न प्रकार के बाह्य और आन्तरिक संघर्ष, सोपान पर सोपान जोड़ते हुए, कुतूहल की सृष्टि करते जाते हैं और अन्तिम संघर्ष के साथ पिछले सभी संघर्षों के प्रभाव घनीभूत होकर चरमसीमा में अन्तर्लीन हो जाते हैं। उदाहरणार्थ 'बिसाती' नामक कहानी ली जा सकती है। इसमें बाह्य संघर्ष की जो स्थिति आई है, उसे पर्दे के भीतर रखते हुए कथानक पर पड़ते शीरीं के हृदयस्थ अंतर्द्वन्द्व के सूक्ष्म प्रभाव को ही नाटकीय ढंग से चित्रित किया गया है। प्रथम दृश्य में शीरीं प्रकृति की सम्पन्न पृष्ठभूमि में अपने प्रेमी बुलबुल के लिए व्यग्र दिखाई जाती है। दूसरे दृश्य में सहसा पट-परिवर्तन उपस्थित होता है—शीरीं के मानसिक अवसाद का और सघन चित्रण होता है। वह पीठ पर गट्ठर लादे हिन्दुस्तान में घूमते हुए अपने बिसाती प्रेमी की कल्पना में डूबी हुई है। उसकी इच्छा होती है कि हिन्दुस्तान के प्रत्येक गृहस्थ के पास इतना धन रख दे कि वे अनावश्यक होने पर भी उस युवक की सब वस्तुओं का मूल्य देकर उसका बोझ उतार दें। तीसरे दृश्य में बाह्य संघर्ष की इतनी ही सूचना मिलती है कि शीरीं का ब्याह एक धनी सरदार से हो गया अब शीरीं की मानसिक अवस्था बिलकुल बदल गई है, वह प्रकृति-क्षेत्र में भी अपने ही हृदय का द्वन्द्व देखती हुई चुपचाप सब कुछ सहती है। सहसा चरमोत्कर्ष की नाटकीय स्थिति का अवतरण होता है और घूमता-फिरता शीरीं का प्रेमी युवक पीठ पर गट्ठर लादे वहीं पहुँच जाता है। शीरीं को उपहार देने की लालसा से उसका पति सरदार युवक के कुछ कश्मीरी सामानों का मूल्य पूछता है पर वह यही उत्तर देता है कि मैं उपहार देता हूँ, बेचता

नहीं। मग्दार नाराज होकर सामान उठा ले जाने की आज्ञा देता है, शीरीं अपने मनःसंघर्ष और अन्तर्पीड़ा को दबाये फिर भी चुप रहती है और युवक लौटकर थोड़ी देर में आने का बहाना करके, अपना गट्ठर छोड़ सदा के लिए चला जाता है।

इस प्रकार बाह्य और आन्तरिक संघर्ष के विमिश्रत सोपानों पर नाटकीय ढंग से धीरे-धीरे बढ़ती हुई कहानी चरम सीमा पर पहुँचकर अड़ जाती है। इस कहानी में संघर्ष को इस नाटकीय योजना के सहारे ही सूक्ष्म कथानक को मन्थर विकास भी मिला है, शीरीं और उसके बुलबुल का चरित्रांकन भी हुआ है और चरमोत्कर्ष की स्थिति भी उत्पन्न की गई है।

प्रसाद की प्रायः सभी उत्कृष्ट कहानियों में नाटकीय कौशल ने संघर्ष की क्रियाशीलता को गति देते हुए, उसे चरम सीमा तक बढ़ाया गया है और वहाँ पहुँचाकर स्वल्प निगति के साथ कथानक की गति सहसा समाप्त कर दी गई है। 'आकाशदीप', 'आँधी', 'पुरस्कार', 'मधुआ', 'नूरी', 'गुंडा', 'देवरथ' और 'सालवती' सब में यह कौशल दर्शनीय है। 'पुरस्कार' कहानी को अनेक संघर्षों के शीर्षबिन्दु पर स्थित चरम-सीमा अत्यधिक नाटकीय और व्यञ्जक बन सकी है। अपनी देशभक्ति के कारण राजकीय अनुग्रह की अधिकारिणी मधूलिका, राजा के बार-बार पुरस्कार माँगने का आग्रह करने पर अपने मृत्युदंड-प्राप्त प्रेमी, विद्रोही अरुण के पास जाकर खड़ी हो जाती है और इतना ही कहती है, 'तो मुझे भी प्राण दण्ड मिले।' उसे भी मृत्युदंड मिला या उसके अपराधी प्रेमी को भी उसके कारण जीवन-पुरस्कार, इसे पाठकों के ही अनुमान के लिए छोड़ कर लेखक कहानी को यहीं समाप्त कर देता है।

(उ) **वातावरण-निर्माण और और दृश्य-चित्र**—प्रसाद की अधिकांश ऐतिहासिक तथा अन्य प्रकार की कहानियों में, उनके कथानक से सम्बद्ध वातावरण इतने सघन रूप से समाया हुआ है कि पाठक के

मनोजगत में कहानी के प्रभाव-समूह के साथ उसकी एक हलकी छाया-सी घिर जाती है। यह प्रक्रिया कहानी के आरम्भिक अंश को पढ़ना प्रारम्भ करने के समय से ही शुरू होती है और अन्त तक पहुँचते-पहुँचते पाठक कहानी से सम्बद्ध देश-काल और परिस्थिति की अनुभूति से बिलकुल अभिभूत हो जाता है। इसका कारण यह है कि लेखक ने कहानी के कथानक और उसके वातावरण को दो भिन्न उपादानों के रूप में न लेकर, दोनों को एकरूप बना कर ग्रहण किया है। उदाहरणार्थ, 'पुरस्कार' कहानी के कथानक से उसका वातावरण इतना अभिन्न है कि उसे अलगाया ही नहीं जा सकता। दोनों के मणिसूत्रवत् चित्रण से ही कहानी का आरम्भ होता है: "आर्द्रा नक्षत्र, आकाश में काले-काले बादलों की घुमड़, जिसमें देव-दुंदुभी का गम्भीर घोष। प्राची के एक निरभ्र कोने से स्वर्ण-पुरुष झाँकने लगा था—देखने लगा महाराज की सवारी। शैलमाला के अंचल में समतल उर्वरा भूमि से सोंधी बास उठ रही थी। नगर तोरण से जयघोष हुआ, भीड़ में गजराज का चामरधारी शुण्ड उन्नत दिखाई पड़ा। वह हर्ष और उत्साह का समुद्र हिलोरें भरता हुआ आगे बढ़ने लगा।"[१] दूर तक परिस्थिति-अंकन के रूप में वातावरण और कथानक घुले-मिले चलते हैं—चित्रण-कौशल से कोशल के इन्द्रपूजनोत्सव का बिम्बात्मक रूप मस्तिष्क में उभर आता है। इसके बाद दृश्यांकन समाप्त हो जाता है कथानक स्पष्ट होकर वेग से, बढ़ता है और वातावरण संवाद, संकेत तथा कार्य-कलापों की व्यञ्जना द्वारा इङ्गित होने लगता है।

'छाया' की ऐतिहासिक कहानियों को छोड़कर, 'प्रतिध्वनि' की 'खंडहर की लिपि' और 'चक्रवर्ती का स्तम्भ' तथा आगे के तीनों संग्रहों की ऐतिहासिक कहानियों में बड़ी सजीवता से वातावरण चित्रित हुआ है। वातावरण का स्थूल खाका एक बार तो विषयारम्भ में ही प्रकृति-

---

१—'आँधी' संग्रह।

चित्रण के साथ पीठिका रूप में उपस्थित कर दिया जाता है, फिर कथानक के प्रवाह के साथ नाटकीय कथोपकथन और सङ्केतों द्वारा यथा-वसर उसमें और रेखाएँ उभारी जाती हैं। साथ ही जब कथा के वेग के कारण वातावरण हलका पड़ने लगता है, तो पुनः दृश्य-चित्र और परिस्थिति-अङ्कन के द्वारा उसे गम्भीर बना दिया जाता है। 'आकाश-दीप', 'स्वर्ग के खंडहर में', 'देवरथ', 'सालवती' आदि कहानियों में वातावरण की बड़ी कलापूर्ण योजना हुई है।

सामाजिक कहानियों में भी कलात्मक ढंग से वातावरण का निर्माण कर प्रसाद जी ने ऐकान्तिक प्रभाव को तीव्र, स्वाभाविक तथा मार्मिक बना दिया है। 'बिसाती', 'बनजारा', 'प्रतिध्वनि', 'समुद्र-सन्तरण', 'आँधी' आदि कहानियों में स्वच्छन्दतावादी प्रेम-भावना के साथ नाटकीयता का समावेश करके लेखक ने अत्यन्त सजीव वातावरण की अवतारणा की है।

वातावरण-निर्माणार्थ प्रसाद ने अन्य कौशलों की अपेक्षा दृश्याङ्कन की ओर अधिक ध्यान दिया है। कवित्वपूर्ण ध्वन्यात्मकता के साथ वे एक नाटकीय रंगभूमि का निर्माण कर देते हैं। उनकी कहानियों में विभिन्न दृश्यों के स्थिर और गत्वर दोनों प्रकार के रूप चित्रित हुए हैं। इन विविध दृश्य-चित्रों में प्राकृतिक दृश्य भी आये हैं, प्रकृति से भिन्न मानवीय कार्य-कलापों तथा परिस्थितियों के स्वतन्त्र चित्र भी अंकित हुए हैं। 'वैरागी' के निभृत कुटीर और उसके शान्त वातावरण का स्थिर चित्रण रेखाचित्र पद्धति पर इस प्रकार किया गया है :

"पहाड़ की तलहटी में एक छोटा-सा समतल भूमि-खंड था। मौल-सिरी, अशोक, कदम्ब और आम के वृक्षों का एक हरा-भरा कुटुम्ब उसे आबाद किये हुए था। दो-चार छोटे-छोटे पौधे कोमल मृत्तिका के थालों में लगे थे। सब आर्द्र और तरल थे। तपी हुई लू और प्रभात का मलय पवन एक क्षण के लिए उस निभृत कुञ्ज में विश्राम कर लेते।"[1]

१—'आकाशदीप' संग्रह।

गत्वर दृश्य-चित्रण के उदाहरणस्वरूप 'स्वर्ग के खँडहर में' कहानी का निम्नांकित अंश लिया जा सकता है, "एक साथ तालियाँ बज उठीं। मीना और गुल को ढकेलते हुए सब उसी कलनादी स्रोत में कूद पड़े। पुलिन की हरी झाड़ियों में से वंशी बजने लगी। मीना और गुल की जोड़ी आगे-आगे और पीछे-पीछे सब बालक-बालिकाओं की टोली तैरने लगी। तीर पर की झुकी हुई डालों के अन्तराल में लुक-छिप कर निकलना, उन कोमल पाणि-पल्लवों से क्षुद्र वीचियों का कटना, सचमुच उसी स्वर्ग में प्राप्त था।"[1]

किन्तु पीठिका की साज-सज्जा और कार्य-कलापों के परिवेश-निर्माण से ही वातावरण की सृष्टि सम्भव नहीं होती। वास्तव में वातावरण इनसे निर्मित होकर भी इनसे कुछ भिन्न है—वह चाक्षुष प्रत्यक्ष का सूक्ष्म आन्तर प्रतिबिम्ब होता है। प्रसाद की वातावरणप्रधान कहानियों में प्रेम, रोमांचकता और भाव-विमुग्धता का ऐसा ही मानसिक वातावरण छाया हुआ दिखाई पड़ता है। वे प्रकृति-वर्णन या मानवीय क्रिया-कलापों के चित्रण के द्वारा प्रारम्भ में तो पीठिका और परिवेश का विधान कर देते हैं और फिर प्रेम और रोमांस का ऐसा घनीभूत चित्र उपस्थित करते हैं कि कहानी की वस्तु, पात्र, देश-काल और संवाद इत्यादि सभी तत्व अपने चतुर्दिक व्याप्त एक अमूर्त वातावरण से परिवृत प्रतीत होने लगते हैं। कहानी के अन्त में कहानी की वस्तु, पात्र और देश-काल आदि की प्रभावान्विति [illegible] होकर पाठक के मानस में एक धूमिल-सी छाया-सृष्टि करती है। ऐतिहासिक कहानियों में 'स्वर्ग के खँडहर में' तथा इतिहासेतर कहानियों में 'समुद्र-सन्तरण' को प्रसाद की वातावरण-प्रधान कहानियों का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण माना जा सकता है। 'स्वर्ग के खँडहर में' कहानी के प्रत्येक पात्र, उनके प्रत्येक क्रिया-कलाप

१—'आकाशदीप' संग्रह।

और परिस्थिति के क्षण-क्षण घटित होने वाले परिवर्तन से एक असामान्य रोमानी जगत और उसकी उन्मादभरी केलि-क्रीड़ा का आभास मिलता है। इनके अतिरिक्त प्रायः सभी प्रकार की कहानियों में अत्यन्त सजीव प्रासंगिक वातावरण निर्मित करना प्रसाद की कहानी-कला की अपनी विशेषता है। उदाहरणार्थ, 'सलीम' कहानी को पढ़ लेने के बाद पश्चिमोत्तर प्रान्त के उस एकान्त गाँव के सरल-सीधे जीवन की झिलमिल छाया और उसमें हिलते-डुलते नंदराम, प्रेमा, अमीर और सलीम की धूमिल परछाईं कुछ दिनों के लिए मन पर हठात् अंकित हो जाती है। 'पुरस्कार', 'आकाशदीप', 'दासी' आदि कहानियों के प्रभाव के साथ भी वातावरण की ऐसी ही छाया मन पर लहरा उठती है।

(ऊ) रूप-चित्र, प्रगीतात्मकता और रस-सृष्टि—विभिन्न परिस्थितियों और मुद्राओं में पात्रों का रूप-चित्रण करते चलना प्रसाद के कथा-शिल्प का अपना वैशिष्ट्य है। चरित्र-चित्रण के समान रूप-चित्रण में भी उन्होंने अपने नारी-पुरुष चरित्रों को रूपांकित करते समय, दोनों में कुछ साम्य और कुछ वैषम्य का विधान बराबर दृष्टिगत रखा है। नारी-पात्रों के रूपांकन में कहीं तो नाटकीयता के समावेश से व्यञ्जना द्वारा एक ही दो वाक्यों में एक रेखा-चित्र उपस्थित कर दिया गया है, कहीं अनुभूति-तरल प्रगीतात्मकता की प्रेरणा से उसे अधिक स्पष्ट करके रंगीन बना दिया गया है। उदाहरणस्वरूप, 'आकाशदीप' की 'प्रतिध्वनि' कहानी में श्यामा के रूप-चित्र को अधिक स्पष्टता न देकर दो-एक वाक्यों में ही इस प्रकार उभार दिया गया है—'कुमार यौवन अपनी क्रीड़ा में विह्वल था', 'पागल यौवन अभी उस पगली के पीछे लगा था' आदि। वर्णन और विवरण की कमी को इन वाक्यों की लाक्षणिकता पूर्ण कर देती है और पगली का प्रतिबिम्ब सजीव होकर सामने नाच उठता है।

इस प्रकार के संकेतात्मक रूप-चित्रों के अतिरिक्त जहाँ नारी-पात्रों के व्यक्तित्व का अपेक्षाकृत स्पष्ट और बिम्बात्मक रूपाङ्कन हुआ है,

वहाँ रोमांस एवं कल्पनाप्रेरित मर्मानुभूति के कारण चित्रण में और अधिक भावोद्रेकक्षमता आ गई है। पाठक कहानी के प्रवाह में बहता हुआ ऐसे स्थलों पर एक क्षण रुककर रस-मग्न हो जाने के लिए ललच उठता है। लघु विस्तार वाली भाव-प्रधान कहानियों के ऐसे रूप-चित्रों में दीप्ति तथा चित्त को चकित कर देने वाला ओप अधिक है। अपेक्षाकृत विस्तारगामी एवं स्पष्ट कथानक वाली कहानियों के ऐसे नारी-रूपचित्रों में मृदुता, सौकुमार्य तथा चित्तद्रावकता के तत्व विशेष हैं। 'हिमालय का पथिक' कहानी में किन्नरी का रूपाङ्कन प्रथम वर्ग के रूप-चित्रों का उदाहरण प्रस्तुत करता है, : "किन्नरी सचमुच हिमालय की किन्नरी है। ऊनी लम्बा कुर्त्ता पहने है...कानों में दो बड़े-बड़े फीरोजे लटकते हैं। सौन्दर्य है, जैसे हिमानी-मंडित उपत्यका में बसन्त की फूली हुई बल्लरी पर मध्याह्न का आतप अपनी सुख-कान्ति बरसा रहा हो। हृदय को चिकना कर देने वाला रूखा यौवन प्रत्येक अङ्ग में लालिमा की लहरी उत्पन्न कर रहा है।"[१]

दूसरे प्रकार के नारी-रूपकचित्रों के उदाहरणस्वरूप 'चूड़ीवाली' कहानी की विलासिनी का रूप-चित्र लिया जा सकता है : "वह पचीस वर्ष की एक गोरी छरहरी स्त्री थी। उसकी कलाई सचमुच चूड़ी पहनाने के लिए ढली थी। पान से लाल पतले-पतले ओठ दो-तीन वक्रताओं में अपना रहस्य छिपाये हुए थे। उन्हें देखने का मन करता, देखने पर उन सलोने अधरों से कुछ बोलवाने का जी चाहता। बोलने पर हँसाने की की इच्छा होती, और उस हँसी में शैशव का अल्हड़पन, यौवन की तरावट और प्रौढ़ा की-सी गम्भीरता बिजली के समान लड़ जाती।"[२]

काव्यात्मकता और व्यंग्यात्मकता दोनों ही उक्त प्रकार के रूप-चित्रों के

१—'आकाशदीप' संग्रह।

२—'आकाशदीप' संग्रह।

प्राण हैं। इन्हीं के सहारे सामान्य-से रूप में भी लेखक ताजगी और आकर्षण भर देता है। बेला कोई बहुत रूपवती नहीं, पर उसका प्रस्तुत चित्र उसकी शोभा को कितना आभामंडित बना कर प्रस्तुत करता है : "बेला साँवली थी ; जैसे पावस की मेघमाला में छिपे हुए आलोक-पिण्ड का प्रकाश निखरने की अदम्य चेष्टा कर रहा हो, वैसे ही उसका यौवन सुगठित शरीर के भीतर उद्वेलित हो रहा था। गालों के स्नेह की मदिरा से उसकी कजरारी आँखें लाली से भरी रहतीं। वह चलती तो थिरकती हुई, बातें करती तो हँसती हुई। एक मिठास उसके चारों ओर बिखरी रहती।"[1]

नारी पात्रों के अतिरिक्त पुरुष पात्रों का रूपाङ्कन भी बहुत ही सजीव हुआ है। किन्तु नारी पात्रों से पुरुष पात्रों के रूप-चित्र, बहुत अंशों में समान होते हुए भी, इस अंश में भिन्न हैं कि उनमें व्यक्तित्व की कोमलता झलकाने की अपेक्षा प्रायः व्यक्ति की विभिन्न भंगिमाओं को उभारने का प्रयास अधिक है। इनमें काव्यात्मकता का अंश नहीं, व्यञ्जना का तत्व ही प्रधान है। भावानुभूति का रंग न भर कर इन सादे चित्रों की प्रत्येक रेखा को निखार देना ही लेखक ने अपना लक्ष्य रखा है। उदाहरण-स्वरूप 'इन्द्रजाल' के 'गुंडा' नन्हकू सिंह का रूप-चित्र दर्शनीय है : "वह पचास वर्ष से ऊपर का था। तब भी युवकों से अधिक बलिष्ट और दृढ़ था।...उसकी चढ़ी मूँछें बिच्छू के डङ्क की तरह देखने वालों की आँखों में चुभती थीं। उसका साँवला रंग साँप की तरह चिकना और चमकीला था। उसकी नागपुरी धोती का लाल रेशमी किनारा दूर से भी ध्यान आकर्षित करता। कमर में बनारसी सेल्हे का फेटा, जिसमें सीप की मूँठ का बिछुवा खुँसा रहता था। उसके घुँघराले बालों पर सुनहले पल्ले के साफे का छोर उसकी चौड़ी पीठ पर फैला रहता। ऊँचे कन्धे

१—'इन्द्रजाल' संग्रह की 'इन्द्रजाल' कहानी।

पर टिका हुआ चौड़ी धार का गँड़ासा। यह थी उसकी सज! पञ्जों के बल जब वह चलता, तो उसकी नसें चटाचट बोलती थीं। वह गुंडा था।"

पुरुष पात्रों के, रेखाचित्र शैलीवाले संकेतात्मक रूप-चित्र भी ऐसे ही हैं। हाँ, उनमें व्यञ्जना का अंश और अधिक है। काव्यात्मक माधुर्य का समावेश उनमें भी नहीं है। 'वैरागी' का रूप-चित्र इस तथ्य को स्पष्ट कर देगा: "एक शिला-खंड पर वैरागी पश्चिम की ओर मुख किए ध्यान में निमग्न था। अस्त होनेवाले सूर्य की किरणें उसकी बरौनियों में घुसना चाहती थीं, परन्तु वैरागी अटल, अचल था। वदन पर मुसकिराहट और अंग पर ब्रह्मचर्य की रूक्षता थी। यौवन की अग्नि निर्वेद की राख से ढँकी थी।"[1] अन्तिम वाक्य से ही एक शान्त, गम्भीर तपस्वी युवक ब्रह्मचारी का सौम्य चित्र आँखों में उभर आता है।

प्रसाद की अनेक कहानियों मे प्रगीतात्मक तीव्र भावाभिव्यञ्जन, स्वानुभूति का अन्वित प्रभाव, और रसात्मक माधुर्य एकीभूत होकर समाये हुए हैं। लगता है, जैसे भाव की एक तरङ्ग को ही शब्दों में बाँध दिया गया हो। ऐसी कहानियों में दृश्य-चित्रण, रूप-चित्रण, चरित्र-चित्रण आदि जो कुछ भी हुआ है, व्यञ्जनामिश्रित प्रगीतात्मकता ही उसकी प्रेरणा, उपादान और तूलिका रही है। 'प्रतिध्वनि', 'समुद्र-संतरण', 'बिसाती', 'ग्राम-गीत', आदि कहानियों को उदाहरणस्वरूप लिया जा सकता है। इनका अन्तर्बाह्य सब कुछ प्रगीतमय है—सब में एक तीव्र भाव नाटकीय ढंग से उठता है, एकोन्मुख होकर वेग से फैलाव पर आता है और फिर एक अव्यक्त उल्लास या अवसाद की छाप छोड़कर डूब जाता है।

अनेक कहानियों में स्वतन्त्र ढङ्ग से भी गद्य-गीतों की आयोजना की

१—'आकाशदीप' की 'वैरागी' कहानी।

गई है। 'स्वर्ग के खंडहर में' नामक कहानी में मीना तन्मय होकर गाती है, "मैं एक भटकी हुई बुलबुल हूँ। हे मेरे अपरिचित कुंज! क्षण भर मुझे विश्राम करने दोगे? यह मेरा क्रन्दन है—मैं सच कहती हूँ, यह मेरा रोना है गाना नहीं। मुझे दम तो लेने दो। आने दो बसन्त का वह प्रभात—जब सब संसार गुलाबी रङ्ग में नहाकर अपने यौवन में थिरकने लगेगा और तब मैं तुम्हें अपनी एक तान सुनाकर, केवल एक तान, इस रजनी-विश्राम का मूल्य चुकाकर चली जाऊँगी। तबतक अपनी किसी सूखी टूटी डाल पर ही अंधकार बिता लेने दो। मैं एक पथ पर भूली हुई बुलबुल हूँ।"[1]

इसी प्रकार 'बनजारा' कहानी में बनजारे ने भी एक सुन्दर गीत गाया है। 'आँधी' की 'दासी', 'इन्द्रजाल' की 'सलीम' और 'नूरी' कहानियों में भी ऐसे स्वतंत्र गीत आये हैं। 'नूरी' कहानी के कौव्वालों द्वारा गाये गये गीत में तो रहस्यवादी गीतों का मार्दव, गेयता और रहस्यात्मकता भरी हुई है :

" 'मैंने अपने प्रियतम को देखा था।'

'वह सौन्दर्य मदिरा की तरह नशीला, चाँदनी-सा उज्ज्वल, तरङ्गों-सा यौवनपूर्ण और अपनी हँसी-सा निर्मल था।'

'किन्तु हलाहलभरी उसकी अपांग-धारा! आह निर्दय!'

'मरण और जीवन का रहस्य उन संकेतों में छिपा था।'

'आज भी न जाने क्यों भूलने में असमर्थ हूँ।'

'कुञ्जों में, फूलों के झुरमुट में तुम छिप सकोगे? तुम्हारा वह चिर विकासमय सौन्दर्य! वह दिगन्त व्यापी सौरभ! तुमको छिपने देगा?'

'मेरी विकलता को देखकर प्रसन्न होनेवाले! मैं बलिहारी!' "[2]

१—'आकाशदीप' संग्रह।

२—'इन्द्रजाल' संग्रह।

पर टिका हुआ चौड़ी धार का गँड़ासा। यह थी उसकी सज ! पञ्जों के बल जब वह चलता, तो उसकी नसें चटाचट बोलती थीं। वह गुंडा था।"

पुरुष पात्रों के, रेखाचित्र शैलीवाले संकेतात्मक रूप-चित्र भी ऐसे ही हैं। हाँ, उनमें व्यञ्जना का अंश और अधिक है। काव्यात्मक माधुर्य का समावेश उनमें भी नहीं है। 'वैरागी' का रूप-चित्र इस तथ्य को स्पष्ट कर देगा : "एक शिला-खंड पर बैरागी पश्चिम की ओर मुख किए ध्यान में निमग्न था। अस्त होनेवाले सूर्य की किरणें उसकी बरौनियों में घुसना चाहती थीं, परन्तु वैरागी अटल, अचल था। बदन पर मुसकिराहट और अंग पर ब्रह्मचर्य की रूक्षता थी। यौवन की अग्नि निर्वेद की राख से ढँकी थी।"[1] अन्तिम वाक्य से ही एक शान्त, गम्भीर तपस्वी युवक ब्रह्मचारी का सौम्य चित्र आँखों में उभर आता है।

प्रसाद की अनेक कहानियों में प्रगीतात्मक तीव्र भावाभिव्यञ्जन, स्वानुभूति का अन्वित प्रभाव, और रसात्मक माधुर्य एकीभूत होकर समाये हुए हैं। लगता है, जैसे भाव की एक तरङ्ग को ही शब्दों में बाँध दिया गया हो। ऐसी कहानियों में दृश्य-चित्रण, रूप-चित्रण, चरित्र-चित्रण आदि जो कुछ भी हुआ है, व्यञ्जनामिश्रित प्रगीतात्मकता ही उसकी प्रेरणा, उपादान और तूलिका रही है। 'प्रतिध्वनि', 'समुद्र-संतरण', 'बिसाती', 'ग्राम-गीत', आदि कहानियों को उदाहरणस्वरूप लिया जा सकता है। इनका अन्तर्बाह्य सब कुछ प्रगीतमय है—सब में एक तीव्र भाव नाटकीय ढंग से उठता है, एकोन्मुख होकर वेग से फैलाव पर आता है और फिर एक अव्यक्त उल्लास या अवसाद की छाप छोड़कर डूब जाता है।

अनेक कहानियों में स्वतन्त्र ढङ्ग से भी गद्य-गीतों की आयोजना की

१—'आकाशदीप' की 'वैरागी' कहानी।

गई है। 'स्वर्ग के खंडहर में' नामक कहानी में मीना तन्मय होकर गाती है, "मैं एक भटकी हुई बुलबुल हूँ। हे मेरे अपरिचित कुंज! क्षण भर मुझे विश्राम करने दोगे? यह मेरा क्रन्दन है—मैं सच कहती हूँ, यह मेरा रोना है गाना नहीं। मुझे दम तो लेने दो। आने दो बसन्त का वह प्रभात—जब सब संसार गुलाबी रङ्ग में नहाकर अपने यौवन में थिरकने लगेगा और तब मैं तुम्हें अपनी एक तान सुनाकर, केवल एक तान, इस रजनी-विश्राम का मूल्य चुकाकर चली जाऊँगी। तबतक अपनी किसी सूखी टूटी डाल पर ही अंधकार बिता लेने दो। मैं एक पथ पर भूली हुई बुलबुल हूँ।"[1]

इसी प्रकार 'बनजारा' कहानी में बनजारे ने भी एक सुन्दर गीत गाया है। 'आँधी' की 'दासी', 'इन्द्रजाल' की 'सलीम' और 'नूरी' कहानियों में भी ऐसे स्वतंत्र गीत आये हैं। 'नूरी' कहानी के कौव्वालों द्वारा गाये गये गीत में तो रहस्यवादी गीतों का मार्दव, गेयता और रहस्यात्मकता भरी हुई है :

" 'मैंने अपने प्रियतम को देखा था।'

'वह सौन्दर्य मदिरा की तरह नशीला, चाँदनी-सा उज्ज्वल, तरङ्गों-सा यौवनपूर्ण और अपनी हँसी-सा निर्मल था।'

'किन्तु हलाहलभरी उसकी अपांग-धारा! आह निर्दय!'

'मरण और जीवन का रहस्य उन संकेतों में छिपा था।'

'आज भी न जाने क्यों भूलने में असमर्थ हूँ।'

'कुञ्जों में, फूलों के झुरमुट में तुम छिप सकोगे? तुम्हारा वह चिर विकासमय सौन्दर्य! वह दिगन्त व्यापी सौरभ! तुमको छिपने देगा?'

'मेरी विकलता को देखकर प्रसन्न होनेवाले! मैं बलिहारी!' "[2]

१—'आकाशदीप' संग्रह।

२—'इन्द्रजाल' संग्रह।

पर टिका हुआ चौड़ी धार का गँड़ासा। यह थी उसकी सज ! पञ्जों के बल जब वह चलता, तो उसकी नसें चटाचट बोलती थीं। वह गुंडा था।"

पुरुष पात्रों के, रेखाचित्र शैलीवाले संकेतात्मक रूप-चित्र भी ऐसे ही हैं। हाँ, उनमें व्यञ्जना का अंश और अधिक है। काव्यात्मक माधुर्य का समावेश उनमें भी नहीं है। 'वैरागी' का रूप-चित्र इस तथ्य को स्पष्ट कर देगा : "एक शिला-खंड पर बैरागी पश्चिम की ओर मुख किए ध्यान में निमग्न था। अस्त होनेवाले सूर्य की किरणें उनकी बरौनियों में घुसना चाहती थीं, परन्तु वैरागी अटल, अचल था। बदन पर मुसकिराहट और अंग पर ब्रह्मचर्य की रूक्षता थी। यौवन की अग्नि निर्वेद की राख से ढँकी थी।"[1] अन्तिम वाक्य से ही एक शान्त, गम्भीर तपस्वी युवक ब्रह्मचारी का सौम्य चित्र आँखों मे उभर आता है।

प्रसाद की अनेक कहानियों में प्रगीतात्मक तीव्र भावाभिव्यञ्जन, स्वानुभूति का अन्वित प्रभाव, और रसात्मक माधुर्य एकीभूत होकर समाये हुए हैं। लगता है, जैसे भाव की एक तरङ्ग को ही शब्दों में बाँध दिया गया हो। ऐसी कहानियों में दृश्य-चित्रण, रूप-चित्रण, चरित्र-चित्रण आदि जो कुछ भी हुआ है, व्यञ्जनामिश्रित प्रगीतात्मकता ही उसकी प्रेरणा, उपादान और तूलिका रही है। 'प्रतिध्वनि', 'समुद्र-संतरण', 'बिसाती', 'ग्राम-गीत', आदि कहानियों को उदाहरणस्वरूप लिया जा सकता है। इनका अन्तर्बाह्य सब कुछ प्रगीतमय है—सब में एक तीव्र भाव नाटकीय ढंग से उठता है, एकोन्मुख होकर वेग से फैलाव पर आता है और फिर एक अव्यक्त उल्लास या अवसाद की छाप छोड़कर डूब जाता है।

अनेक कहानियों में स्वतन्त्र ढङ्ग से भी गद्य-गीतों की आयोजना की

१—'आकाशदीप' की 'वैरागी' कहानी।

गई है। 'स्वर्ग के खंडहर में' नामक कहानी में मीना तन्मय होकर गाती है, "मैं एक भटकी हुई बुलबुल हूँ। हे मेरे अपरिचित कुंज! क्षण भर मुझे विश्राम करने दोगे? यह मेरा क्रन्दन है—मैं सच कहती हूँ, यह मेरा रोना है गाना नहीं। मुझे दम तो लेने दो। आने दो बसन्त का वह प्रभात—जब सब संसार गुलाबी रङ्ग में नहाकर अपने यौवन में थिरकने लगेगा और तब मैं तुम्हें अपनी एक तान सुनाकर, केवल एक तान, इस रजनी-विश्राम का मूल्य चुकाकर चली जाऊँगी। तबतक अपनी किसी सूखी टूटी डाल पर ही अंधकार बिता लेने दो। मैं एक पथ पर भूली हुई बुलबुल हूँ।"[1]

इसी प्रकार 'बनजारा' कहानी में बनजारे ने भी एक सुन्दर गीत गाया है। 'आँधी' की 'दासी', 'इन्द्रजाल' की 'सलीम' और 'नूरी' कहानियों में भी ऐसे स्वतंत्र गीत आये हैं। 'नूरी' कहानी के कौव्वालों द्वारा गाये गये गीत में तो रहस्यवादी गीतों का मार्दव, गेयता और रहस्यात्मकता भरी हुई है :

" 'मैंने अपने प्रियतम को देखा था।'

'वह सौन्दर्य मदिरा की तरह नशीला, चाँदनी-सा उज्ज्वल, तरङ्गों-सा यौवनपूर्ण और अपनी हँसी-सा निर्मल था।'

'किन्तु हलाहलभरी उसकी अपांग-धारा! आह निर्दय!'

'मरण और जीवन का रहस्य उन संकेतों में छिपा था।'

'आज भी न जाने क्यों भूलने में असमर्थ हूँ।'

'कुञ्जों में, फूलों के झुरमुट में तुम छिप सकोगे? तुम्हारा वह चिर विकासमय सौन्दर्य! वह दिगन्त व्यापी सौरभ! तुमको छिपने देगा?'

'मेरी विकलता को देखकर प्रसन्न होनेवाले! मैं बलिहारी!' "[2]

१—'आकाशदीप' संग्रह।

२—'इन्द्रजाल' संग्रह।

'लहर' की निम्नलिखित पंक्तियों की भावाकुलता, लाक्षणिकता और रहस्य-चेतना ही इन पंक्तियों में भी समाई हुई है :

"निज अलकों के अन्धकार में
कैसे तुम छिप पाओगे ?
इतना सजग कुतूहल ! ठहरो,
यह न कभी बन पाओगे !
आह चूम लूँ जिन चरणों को
चाप-चाप कर उन्हें नहीं
दुख दो इतना, अरे अरुणिमा
ऊषा-सी वह उधर बही !"[1]

ग्राम-गीतों की स्फुट पंक्तियाँ भी अनेक कहानियों में आई हुई हैं। 'ग्राम-गीत' कहानी का तो अनर्बाह्य—कथा-तत्व, चरित्र और प्रभाव—सब-कुछ गद्य-गीत और ग्राम-गीत की रसात्मकता में डूबा हुआ है।

प्राय: सभी भावप्रधान और चरित्रप्रधान कहानियों के प्रभाव में भी गीतों की-सी अन्तवृ त्तियों को झकझोर देने वाली मृदुल, कातर और मार्मिक गूँज समाई हुई है। 'आकाशदीप' संग्रह की प्राय: सभी कहानियों के, 'आँधी' में भी 'विजया' औ 'व्रत-भंग' को छोड़कर शेष सभी के तथा 'इन्द्रजाल' की 'इन्द्रजाल', 'सलीम', 'छोटा जादूगर', 'नूरी', 'भीख में', 'चित्रवाले पत्थर', 'गुंडा', 'अनबोला', 'देवरथ' और 'सालवती' के प्रभाव में यही हार्दिकता और चित्त-द्रावकता भरी हुई है। अनेक कहानियों को रसवत्ता प्रदान करने के उद्देश्य की सिद्धि के लिए लेखक को कहीं-कहीं कुछ अनपेक्षित विस्तार भी देना पड़ गया है। सूक्ष्म कलात्मक दृष्टि से देखने पर इस प्रयत्न के फलस्वरूप, किसी-किसी कहानी के अन्त में कुछ अतिरिक्त पूर्णता जैसी स्थूलता भी आ गई लगती है,

---

१—'लहर' (प्र० सं०), पृ० ३।

पर लेखक को अपनी रस-सिद्धि की तुलना में यह आंशिक कला-दोष भी ग्राह्य प्रतीत हुआ है। उदाहरणार्थ, 'आकाशदीप' कहानी अपने छठें खंड के अन्त पर ही कला की दृष्टि से समाप्त हो जानी चाहिए।[1] किन्तु यहाँ पर रस का पूर्ण आभोग नहीं हो पाता। चम्पा के मुँह से केवल वाचिक सूचना मात्र मिलती है कि उसे आकाशदीप जलाकर जल में पिता की समाधि का अन्वेषण करते हुए, स्वयं भी उसकी ज्वाला में जलना होगा। किन्तु सातवें खंड में जब चम्पा के यही वचन क्रियात्मक रूप लेकर सामने आते हैं—जब चम्पा अपने दीप-स्तम्भ पर से सामुद्रिक नावों की एक श्रेणी को चम्पा द्वीप का उपकूल छोड़कर उत्तर-पश्चिम की ओर महा जलव्याल के समान संतरण करती देखती है, और इससे बुद्ध गुप्त का स्वदेश लौट जाना अनुमान कर उसकी आँखों से आँसू बहने लगते हैं, तथा जब यह सूचना मिलती है कि चम्पा आजीवन उस स्तम्भ में आलोक जलाती तापसी बनी रही—तब चम्पा के अपने कर्तव्य के प्रति निष्ठा-भाव और प्रणय के प्रति विश्वास-भाव में पूर्णता आ जाती है और रस परिपाक भी पूर्ण हो जाता है। कहानी की करुणा और भी संवेदनापूर्ण हो जाती है जब अन्तिम वाक्य सूचित करता है कि चम्पा के विवश प्रेम के स्मारक रूप में शताब्दियों तक खड़े उस दीप-स्तम्भ को भी एक दिन काल के कठोर हाथों ने चंचलता से गिरा दिया।

तात्पर्य यह कि प्रसाद की कहानियों में उनके व्यक्तित्व का प्रकृत्या मूल अंश कवित्व, कहीं ओझल नहीं। एक ओर तो उनकी गीति-प्रतिभा कहानियों के भाव-पक्ष में सतत रसोद्रेक कराती गई है और दूसरी ओर उनका नाट्य-कौशल कहानियों की बाह्य रचनात्मक प्रक्रिया को व्यञ्जना से पूर्ण कर निरन्तर गति देता गया है। प्रसाद की कहानी-कला में इन दोनों तत्वों के उचित समाहार से अद्भुत निखार आ गया है और इसी कारण हिन्दी कहानी-क्षेत्र में उनकी कहानियाँ दशकों बाद

१—द्र० 'कहानी का रचना-विधान': डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, पृ० २ ४६

आज भी अपनी कला में वैसी ही चिरनवीन और अनुपम बनी हुई हैं।

(ए) भाषा-शैली —कहानी के विभिन्न उपकरणों—कथावस्तु, चरित्र, कथोपकथन, वातावरण आदि—को प्रस्तुत करने की प्रत्येक लेखक की अपनी-अपनी शैली होती है। भाषा भी वास्तव में शैली का ही एक पक्ष है। 'शैली' को व्यापक अर्थ में लेकर कहा जा सकता है कि इसका एक अंश अर्थात् आन्तर पक्ष मन में उठते अस्फुट और विशृङ्खल भावों को व्यवस्था प्रदान करता है—इसी को सामान्य व्यवहार में 'शैली' कहते हैं, और दूसरा पक्ष बाह्योन्मुख होकर भाषा रूप में उन व्यवस्थित भावों को अभिव्यक्ति देता है—इसे ही सामान्य व्यवहार में 'भाषा' कहते हैं। प्रसाद की भाषा-शैली भी अपनी है और उस पर उनके व्यक्तित्व की गंभीर छाप अंकित है। उनकी कहानियों में बोलचाल की भाषा का कम व्यवहार हुआ है। उनकी प्रतिनिधि शैली गंभीर और भाषा अत्यन्त परिष्कृत है, किन्तु उनकी गंभीरता को न तो वैज्ञानिक शैली के अंतर्गत रखा जा सकता है और न परिष्कृति को विशुद्ध सहजता माना जा सकता है। अपनी भाषा में प्रेषणीयता और भावाभिव्यंजकता लाने के लिए उन्होंने उसको यथेच्छ अलंकृत बना कर ग्रहण किया है तथा अभिव्यक्ति को संवेद्य बनाने के लिए अपनी शैली में लाक्षणिकता एवं नाटकीय क्षिप्रता को समाविष्ट कर लिया है।

कहानी में प्रकथन (narration) और वर्णन (description) के लिए प्रसाद जी ने मुख्यतः दो शैलियाँ अपनाईं—(क) चित्रात्मक शैली और (ख) संलाप शैली। पात्रों के बाह्य कार्य-कलाप-चित्रण, भाव-विवृति आदि के लिए सामान्यतः चित्रात्मक शैली का ही व्यवहार हुआ है। इसके भी दो रूप दिखाई पड़ते हैं—जहाँ भावशबलता, मनःस्थिति का काव्यात्मक चित्रांकन, रूप अथवा दृश्य का लुब्ध या अलंकृत वर्णन-चित्रण अपेक्षित हुआ है, वहाँ चित्रात्मक शैली में विदग्धता तथा भाषा में भावोच्छ्वास आ गया है। उदाहरणार्थ 'प्रलय'

कहानी का निम्नलिखित अंश लिया जा सकता है : "सूर्य का अलात-चक्र के समान शून्य में भ्रमण और उसके विस्तार का अग्नि-स्फुलिंग वर्षा करते हुए आश्चर्य-संकोच ! हिम-टीलों का नवीन महानदों के रूप में पलटना, भयानक ताप से शेष प्राणियों का कलटना ! महा कापालिक के चिताग्नि-साधन का वीभत्स दृश्य ! प्रचंड आलोक का अन्धकार !!"[1]

ऊपर के अनेक प्रसंगों में इस लाक्षणिकता का रूपान्तर से विवेचन हो चुका है, अतः इसे पुनः विस्तार देना संगत न होगा।

जहाँ किसी व्यावहारिक समस्या, परिस्थिति या पात्र-विशेष पर व्यंग करना अपेक्षित हुआ है, वहाँ यह चित्रात्मक शैली कुछ भिन्नरूपा हो गई है—बिना किसी अलंकरण या विदग्धता के ही, उस स्थिति अथवा पात्र का बिम्बात्मक रूपांकन कर दिया गया है। यहाँ भाषा भी भावयुक्त होने के कारण वेगमयी तथा चुटीली हो गई है। 'गुंडा' के मौलवी कुबरा खाँ का रूपांकन इस शैली के उदाहरणस्वरूप द्रष्टव्य है, "हाथ में हरौती की पतली-सी छड़ी, आँखों में सुरमा, मुँह में पान, मेंहदी लगी हुई दाढ़ी, जिसकी सफेद जड़ दिखाई पड़ रही थी, कुब्वेदार टोपी, छलकिया अँगरखा और साथ में लैसदार परतले वाले दो सिपाही ! कोई मौलवी साहब हैं .. ।"[2]

प्रसाद की संलाप शैली का परिचय भी प्रसंगान्तर से दिया जा चुका है। यहाँ इतना कहना ही अलम होगा कि ऐसे स्थलों पर भाषा का व्यवहार प्रसाद जी ने पात्र और परिस्थिति को दृष्टि में रखकर नहीं, भाव और परिस्थिति को दृष्टि में रखकर किया है। भावात्मक स्थलों पर अत्यन्त सामान्य स्थिति वाले पात्र भी चित्रात्मक और काव्यमयी भाषा का व्यवहार करते हैं।

१—'प्रतिध्वनि' संग्रह।

२—'इन्द्रजाल' संग्रह।

कहानी-निर्माण की विभिन्न प्रणालियों में से प्रसाद जी ने मुख्यत: तीन शैलियाँ अपनाई हैं—(१) ऐतिहासिक शैली, (२) आत्मप्रकाशन शैली और (३) नाटकीय शैली। इन तीनों के सम्मिश्रण से उनकी एक नई शैली भी बन गई है, जिसे मिश्रित शैली कहा जा सकता है।

जिन कहानियों में वे तटस्थ द्रष्टा के रूप में रह कर कहानी कहते चलते हैं, उनमें ऐतिहासिक शैली का व्यवहार हुआ है। प्रसाद जी की अधिकांश कहानियाँ इसी शैली में लिखी गई हैं। आत्मप्रकाशन शैली कुछ ही कहानियों में प्रयुक्त हुई है। 'आँधी', 'बेड़ी', 'देवदासी' आदि कहानियाँ उदाहरणस्वरूप ली जा सकती हैं। 'देवदासी' में पत्रात्मक शैली का व्यवहार हुआ है। पत्रात्मक शैली में प्रसाद जी द्वारा लिखी गई यह अकेली कहानी है।

नाटकीय शैली वास्तव में कोई स्वतन्त्र शैली नहीं कही जा सकती। इसमें कहीं संलाप और कहीं स्थिति, पात्र-मुद्रा और देश-काल के निर्देश के साथ लेखक कहानी को प्रारम्भ करता है। किन्तु स्वतन्त्र रूप से केवल इसी शैली का सहारा लेकर कोई कहानी नहीं लिखी जा सकती। अत: इसे आत्मप्रकाशन शैली या ऐतिहासिक शैली से सम्मिश्रित करके ही प्राय: अपनाया जाता है। प्रसाद की कहानियों में इस शैली का कितना व्यवहार हुआ है, यह भी ऊपर प्रसंगान्तर से दिखाया जा चुका है। उनकी किसी भी वर्ग की कहानी नाटकीयता से खाली न मिलेगी।

प्रसाद की ऐतिहासिक शैली को ही वास्तव में उनकी मिश्र शैली कहना चाहिए, क्योंकि वह विशुद्ध तथ्यमूलक ऐतिहासिक या वैज्ञानिक न रहकर नाटकीयता, लाक्षणिकता और भाव-द्वन्द्वों के आत्मप्रकाशन के कारण कुछ और ही बन गई है। 'छाया' से लेकर 'इन्द्रजाल' तक की कोई भी कहानी इस कथन का साक्ष्य दे सकती है।

प्रसाद की भाषा भावश्लथ, काव्यमयी और चित्रात्मक है, इसे प्राय: इस अर्थ में भी लिया जाता है कि वह सामान्य व्यवहार के अनुपयुक्त है,

उसमें अस्पष्टता है, इससे उनकी कहानियाँ दुर्बोध हो गई हैं आदि-आदि। किन्तु ऐसा आरोप करनेवाले आलोचक इतिहास की गति और आवश्यकता को बिलकुल नहीं समझते। हिन्दी साहित्य में भाषा का यह रूप ऐतिहासिक अनिवार्यता बनकर आया। स्वच्छन्दतावादी मसृण कल्पना को परिधान और सुकुमार भावों को लाक्षणिक अभिव्यक्ति देने के लिए कोई भिन्न प्रकार का भाषा-रूप न तो समर्थ ही होता और न उपयुक्त ही। प्रेमचन्द प्रसाद की भाषा अपना कर 'पंचपरमेश्वर', 'बूढ़ी काकी' और 'कफ़न' नहीं लिख सकते थे और न ही प्रसाद प्रेमचन्द की भाषा में 'समुद्र-संतरण', 'ज्योतिस्मती','पुरस्कार' और 'सालवती की रचना करने जाकर सफल होते। स्मरणीय है कि प्रसाद की भाषा उनके भावों को अभिव्यक्ति देने में, उनके विचारों का समुचित प्रकाशन करने में कहीं विफल या बाधक नहीं हुई है। वास्तव में प्रसाद की कहानियों को दुर्बोधता (यदि वास्तव में कहीं दुर्बोधता हो तो,) उनकी भाषा के कारण नहीं, भावपेशलता और उसकी सुकुमार लाक्षणिक अभिव्यक्ति के कारण है। प्रसादजी ने जीवन के प्रति भावात्मक दृष्टिकोण को अपना कर, काव्य के साथ अपनी कहानियों में भी स्वच्छन्दतावादी कल्पना की अभिव्यक्ति के लिए भाषा को जिस ढंग से अलंकृत, लाक्षणिक, वक्रतापूर्ण और काव्यमयी बना कर ग्रहण किया, उससे हिन्दी-गद्य को अपूर्व शक्ति और अद्भुत स्फूर्ति मिली। वह विकास की अपनी चरमसीमा को पहुँच गया—उसे गूढ़ भावाभिव्यञ्जन की महती शक्ति एवं गतिपूर्ण चित्रात्मक शैली को नवीन संप्राप्ति हुई।

साथ ही, प्रसाद की भाषा का एक दूसरा रूप भी है जो दैनन्दिन की भाषा से बहुत दूर का नहीं लगता। इस रूप में भी उनका परिष्कार-संस्कार है अवश्य पर वह उसे अलंकृत और प्रभावपूर्ण बनाने के लिए नहीं, उसे भावानुरूपता और प्रेषणीयता प्रदान करने के लिए ही है। भाषा का यह रूप सामान्यतः उनकी प्रारम्भिक कहानियों में ('छाया' की

कुछ कहानियों को छोड़कर) कम मिलेगा, 'आकाशदीप' की 'भिखारिन' और 'चूड़ीवाली' कहानियों में इसकी कुछ झाँकी मिलती है, किन्तु 'आँधी' और 'इन्द्रजाल' संग्रहों की अनेक कहानियों में भाषा का यह सहज, अकृत्रिम, प्रवाहमय रूप देखा जा सकता है। इसमें न तो विशुद्ध संस्कृतनिष्ठ, तत्समप्रधान शब्दावली अपनाने का आग्रह है और न बड़े-बड़े विलम्बित वाक्य ही व्यवहृत हुए हैं। सामान्यतः नित्यप्रति के व्यवहार में आनेवाले शब्द हैं और अपने में पूर्ण, छोटे-छोटे, गतिपूर्ण वाक्य हैं। 'आँधी' की 'आँधी', 'घीसू', 'विजया', 'अमिट-स्मृति' और 'इन्द्रजाल' की 'छोटा जादूगर', 'विराम-चिह्न', 'गुंडा' आदि कहानियों में परिस्थिति-अंकन, कथोपकथन स्थिति-चित्र और वर्णन-विवरण के लिए प्रायः इसी प्रकार का भाषारूप अपनाया गया है। प्रकृति-चित्रण और रूप-चित्रण में भी कहीं-कहीं इस प्रकार की भाषा का व्यवहार हुआ है, पर सामान्यतः ऐसे स्थलों पर प्रसाद की भाषा काव्यमयी हो गई है वाक्यगठन अलंकृत-असामान्य और शब्दावली तत्समप्रधान हो चली है।

प्रसाद की कहानियों के शिल्प-पक्ष के विवेचन में, अनेक प्रसंगों में, उनकी भाषा-शैली का यथेष्ट परिचय मिल चुका है। अतएव पृथक् रूप से इसकी विस्तृत विवेचना पुनरावृत्ति मात्र होगी।



द्वितीय खंड

[उपन्यास]

१—हिन्दी उपन्यासों की यथार्थवादी परंपरा और 'कंकाल'

२—आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की परंपरा और 'तितली'

३—ऐतिहासिक उपन्यासों की परंपरा और 'इरावती'

: १ :

हिन्दी उपन्यासों की यथार्थवादी परंपरा और 'कंकाल'

परंपरा

आधुनिक साहित्य के जनक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र पहले लेखक थे, जिन्होंने राष्ट्रीय वेदना के साथ ही जीवन के यथार्थ रूप का चित्रण आरम्भ किया। जयशंकर प्रसाद ने उनकी 'प्रेमयोगिनी' और 'देखी-तुमरी कासी' वाली कविता को हिन्दी में इस ढंग का प्रथम प्रयास माना है।[१] हिन्दी में उपन्यासों के अभाव को दूर करने के लिए ही सम्भवतः उन्होंने 'पूर्ण प्रभा-चन्द्रप्रकाश' नामक बँगला उपन्यास का अनुवाद कराकर सामाजिक उपन्यास की सम्भावनाओं की ओर लेखकों का ध्यान आकृष्ट किया। उन्होंने अपने कई निबन्धों में विभिन्न रूपों से अपने युग एवं समाज को चित्रित किया, विशेषकर " 'एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती' में तो उन्होंने जैसे 'परीक्षागुरु' की सांकेतिक भूमिका ही प्रस्तुत कर दी ... एक आत्मचरितात्मक उपन्यास की बहुत ही अच्छी सम्भावनाओं से युक्त यह लघु रचना-खण्ड अपने यथार्थ-चित्रण, व्यंग-गर्भ और चित्रात्मक वर्णन शैली और सांकाक्षता-गुण तथा सोद्देश्यता के कारण नवीन कथारूप की ओर तत्कालीन लेखकों की सजग प्रकृति का अच्छा परिचय देता है।"[२]

१—'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' (प्र० सं०), पृ० १३७।

२—'आलोचना' : उपन्यास-विशेषांक, वर्ष ४, अंक १, प्रो० विजय-शंकर मल्ल—'उदय काल : प्रेमचन्द के आगमन तक', पृ० ६५।

किन्तु भारतेन्दु जी का यह प्रयास यथार्थ-जीवन की ओर उनकी प्रवृत्ति का परिचायक मात्र है। वास्तव में हिन्दी के प्रथम उपन्यास लाला श्रीनिवासदास के 'परीक्षा गुरु' ने पहली बार एक मध्यवर्गीय व्यापारी की स्थिति का चित्रण करते हुए उसके माध्यम से अपने समकालीन मध्य-वर्गीय समाज एवं देश-दशा का विस्तृत परिचय दिया। नायक मदन-मोहन नवशिक्षित मध्यवर्ग की कमजोरियों का तथा उसका पिता पुरानी मध्यवर्गीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं। दोनों की कमजोरियों को लेखक ने सफलता से चित्रित किया है।

'परीक्षा गुरु' के द्वारा चलाई हुई सामाजिक उपन्यासों की परंपरा का विकास हुआ तथा १९वीं सदी में सामाजिक एवं नैतिक दृष्टिकोण को लेकर कितने ही उपन्यास लिखे गये, जिनमें युग-जीवन के प्रति लेखकों की जागरूकता के दर्शन होते हैं। इन लेखकों में पं० बालकृष्ण भट्ट, राधा-कृष्ण दास, अयोध्यासिंह उपाध्याय एवं मेहता लज्जाराम शर्मा उल्लेख्य लेखक हैं, जिनके उपन्यासों में इनका समकालीन देश-काल अपेक्षाकृत सजीवता से चित्रांकित मिलता है।

भट्ट जी के 'नूतन ब्रह्मचारी' और 'सौ अजान न एक सुजान' नामक दो उपन्यासों में क्रमशः सत्संग से एक डाकू तथा दो अधःपतित व्यापा-रियों के सुधार का चित्रण है। आनुषंगिक रूप से समाज का चित्रण भी होता गया है। राधाकृष्णदास के 'निस्सहाय हिन्दू' में गो-बध निवारण की समस्या लेकर तत्कालीन जीवन को चित्रित करने का प्रयास है। अयोध्यासिंह उपाध्याय के 'ठेठ हिन्दी का ठाट' में झूठी आभिजात्य भावना और अनमेल विवाह के दुष्परिणामों को दिखाया गया है। ठेठ भाषा का प्रयोग भी इसकी यथार्थोन्मुखता का परिचायक है। मेहता लज्जाराम के 'धूर्त रसिक लाल', 'स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी', 'आदर्श दम्पति', 'बिगड़े का सुधार' और 'आदर्श हिन्दू' आदि उपन्यास भी तत्कालीन सामाजिक समस्याओं को लेकर अग्रसर हुए हैं। कार्तिक-

प्रसाद खत्री ने भी अपने 'दीनानाथ' नामक उपन्यास में सम्मिलित हिन्दू कुटुम्ब की समस्याओं को उठाया है।

इन सामाजिक उपन्यासों के अतिरिक्त तत्कालीन भाव-जगत को प्रदर्शित करनेवाले कुछ प्रेम-प्रधान उपन्यास भी लिखे गये। जगमोहन सिंह का 'श्यामा-स्वप्न' और ब्रजनन्दन सहाय के कुछ उपन्यास ऐसी ही रचनाओं की श्रेणी में आते हैं। सामाजिक समस्याओं से दूर होने पर भी देवकीनन्दन खत्री के तिलस्मी और गोपाल राम गहमरी के जासूसी उपन्यास भी तत्कालीन मनोवृत्ति का कुछ न कुछ परिचय देते ही हैं। पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने अपने युग की इन विभिन्न औपन्यासिक प्रवृत्तियों को स्वायत्त करके सभी प्रकार के उपन्यास लिखे—सामाजिक भी, तिलस्मी भी, जासूसी भी और ऐतिहासिक भी। साथ ही इनके सभी प्रकार के उपन्यासों में प्रेम-व्यञ्जना अत्यन्त मुखर रही।

इस प्रकार, चाहे अपनी सोद्देश्यता अथवा औपन्यासिक कला के समुचित ज्ञान के अभाव के कारण हिन्दी के ये प्रारंभिक उपन्यासकार पूर्ण सफल भले ही न रहे हों, पर इनका दृष्टिकोण स्वस्थ रहा है और ये युगजीवन के प्रति सजग रहे हैं। इन लेखकों के "उपन्यास के सामयिक (बाह्य सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण) और शाश्वत तत्व (भाव-जगत का चित्रण) के सामञ्जस्य के अनेकरूप निरंतर प्रयास एक नवीन रचना-प्रकार के साहित्यिक गौरव को प्राप्त करने और मानव-जीवन को समग्र रूप में चित्रित करने के महत्वपूर्ण उद्योग हैं।"[1] इन लेखकों में गोस्वामी जी की कला मुख्यतः यथार्थवादी थी, भले ही उनकी यथार्थ-भावना बहुत स्वस्थ न रही हो। यद्यपि प्रेम-व्यञ्जना उनके उपन्यासों में सर्वत्र ध्वनित होती है, पर उनके पात्र और चरित्र मध्यवर्गीय समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं, यह मानना ही पड़ेगा।

१—'आलोचना': उपन्यास-विशेषांक—प्रो० विजयशंकर मल्ल, पृ० ७६।

किन्तु वस्तुतः हिन्दी उपन्यासों का यह युग ऐतिहासिक दृष्टि से आरंभिक और संक्रांति-युग था। अभी तक "रीति-युग के साहित्यिक-संस्कार बने हुए थे और नवीन सामाजिक चेतना का उदय नहीं हुआ था।"[१] इसीलिए सभी प्रकार के उपन्यासों में प्रेम-चर्चा मुख्य रूप से गृहीत हुई एवं "सामाजिक प्रगति और जीवन की वास्तविकता में पैठकर उसके यथार्थ और प्रभावशाली चित्र हमारे आरंभिक उपन्यासकार अधिक मात्रा में नहीं दे सके।"[२] इनकी सामाजिक चेतना को यथार्थ-चित्रण की संज्ञा तभी दी जा सकती है, जब 'यथार्थ' शब्द को उदारता-पूर्वक ग्रहण किया जाय।

वास्तव में हिन्दी उपन्यास-साहित्य में यथार्थ-चित्रण की परंपरा प्रेमचन्द से आरंभ होती है। उनके उपन्यासों में उनका युग मुखर हो उठा है। पुरानी परंपरा से जोड़कर देखने पर हिन्दी उपन्यास-क्षेत्र में किशोरीलाल गोस्वामी के बाद इनका आगमन एक लम्बा कदम जान पड़ता है। १६१५ ई० तक भारतीय जन-जीवन ने कितनी करवटें बदलीं, उसकी मुख्य समस्यायें क्या रहीं और अपने प्रयास में हारता-जीतता हुआ वह किस प्रकार उनसे जूझता रहा—प्रेमचन्द के उपन्यासों में इन सबका वास्तविक चित्रण मिलता है। पर प्रेमचन्द को भी शुद्ध यथार्थवादी कहने के लिए 'यथार्थ' शब्द की काट-छाँट करनी ही पड़ेगी। मनुष्य में आदर्श भाव का होना यथार्थ है, मनुष्य को उसकी दुर्बलताओं से ऊपर उठाने के उद्देश्य से प्रेरित होकर आदर्श चरित्र का संतुलित चित्रण करना अयथार्थ नहीं, इसे स्वीकार करके ही प्रेमचन्द को यथार्थवादी कहा जा सकेगा। अन्यथा अपनी आदर्श-चेतना एवं ध्येयोन्मुखता की प्रवृत्ति को समझ कर उन्होंने स्वयं ही अपने दृष्टिकोण को 'आदर्शोन्मुख यथार्थ' कहा है।[3]

१—'आलोचना' : उपन्यास-विशेषांक—पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० ५६
२—उपन्यास : कुछ विचार, पृ० ४४।
३—'कुछ विचार'—उपन्यास, पृष्ठ० ४४।

हिन्दी उपन्यासों की परम्परा में जयशंकर प्रसाद का 'कंकाल' एक नई दिशा का निर्देशक बन कर आया। इसमें आदर्शोन्मुखता एवं सुधार अथवा किसी भी प्रकार की समझौतावादी प्रवृति से दूर रह कर प्रसाद जी ने समाज तथा व्यक्ति की दुर्बलताओं और विकृतियों को खुल-कर चित्रित करने का प्रयास किया। आज के समाज में उच्च जातीयता और आभिजात्य का दम्भ कितना छूछा और निःसार है, धर्म की ओट में कितने अनाचार पल रहे हैं तथा समाज और धर्म की असहिष्णु रूढ़ियों में दुर्बल व्यक्ति किस प्रकार पिस रहा है, इसे उन्होंने अनावृत 'कंकाल' रूप में समाज के सामने उपस्थित किया। इस दृष्टि से हिन्दी उपन्यासों की यथार्थवादी परंपरा में 'कंकाल' का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। हिन्दी उपन्यास की नव्यतर धारा में यथार्थवाद के जो विभिन्न रूप सामने आये, अपने शिल्प-विधान और उद्देश्य दोनों दृष्टियों से ही निस्सन्देह वे 'कंकाल' के अनुयायी नहीं कहे जा सकते, पर 'कंकाल' से उन्हें दिशा-निर्देश मिला इससे इनकार भी नहीं किया जा सकता। 'कंकाल' के इस ऐतिहासिक महत्व को स्वीकार करना ही पड़ेगा।

'कंकाल' : विचारपक्ष एवं सामाजिक दृष्टिकोण

स्टेन्डेल ने उपन्यास की तुलना किसी राजमार्ग पर स्वतः अग्रसर होते हुए विशाल दर्पण से की है, जिसमें प्रतिक्षण यथार्थ जीवन की छाया पड़ती रहती है। मध्यवर्गीय समाज की नित्यप्रति की कमजोरियों को यथातथ रूप में निरूपित करने की 'कंकाल' की प्रवृत्ति को देखते हुए यह तुलना अत्यन्त समीचीन जान पड़ती है। 'कंकाल' एक तीखा सामाजिक व्यंग है, जो समाज की छिपी हुई विकृतियों एवं कमजोरियों को उघाड़-उघाड़ कर उन पर विद्रूपभरा अट्टहास करता है। आज के आदर्शच्युत, सदाचारों की मिथ्या दुहाई देकर शोषण को प्रश्रय देनेवाले धार्मिक जगत के प्रति यह सशक्त विद्रोह का स्वर उठाता है। इसमें लेखक ने धर्म-तीर्थ प्रयाग से आरम्भ कर हरद्वार, अयोध्या, काशी,

वृन्दावन, मथुरा और गंगासागर प्रभृत् सभी धर्म-क्षेत्रों में धर्म के नाम पर होनेवाले गर्हित पापाचारों की कलई खोल कर दिखाया है कि आज का हिन्दू समाज जिसे धर्म समझकर उससे चिपका हुआ है, वह धर्म नहीं धर्म का शव है। हिन्दू धर्म को सर्वश्रेष्ठ बता कर उसके नाम पर मनमानी करनेवाले धर्म के सेनापतियों से वह विद्रोही विजय की जबानी प्रश्न पूछता है कि,"क्या हिन्दू होना परम सौभाग्य की बात है? जब उस समाज का अधिकांश पददलित और दुर्दशाग्रस्त है, जब उसके अभिमान और गौरव की वस्तु धरा-पृष्ठ पर नहीं बची—उसकी संस्कृति विडम्बना, उसकी संस्था सारहीन और राष्ट्र—बौद्धों के शून्य के सदृश बन गई है, जब संसार की अन्य जातियाँ सार्वजनीन भ्रातृ-भाव और साम्यवाद को लेकर खड़ी हैं, तब आप के इन खिलौनों (देवविग्रह की ओर संकेत) से भला उसकी संतुष्टि होगी ?"[१]

पर प्रसाद जी 'कंकाल' में नास्तिक हो गये हों ऐसी बात नहीं। उन्हें आस्तिकता, प्रतिमा-पूजन और धर्म के सच्चे स्वरूप से द्रोह नहीं है। उन्हें द्रोह है धर्म के प्रश्रय में पनपने वाली कुरीतियों और धर्म के नाम पर प्रचलित रूढ़ियों से—जिनसे कितने ही घर बर्बाद हो रहे हैं, जिसके थपेड़े खाकर समाज के कितने ही उज्ज्वल रत्न, बलात् पाखंड-पूजा की वेदी पर बलि के बकरे बनाये जा रहे हैं। 'कंकाल का लेखक इन कुरीतियों से उत्पन्न, घुन की भाँति भीतर ही भीतर समाज-व्यवस्था को जर्जर बनाने वाले उन धर्मगुरुओं के पापाचारों का विरोध करता है, जो दैवात् एक बार पतित हुए प्रायश्चित्त की अग्नि में जलते हृदय को क्षमा न कर, उसे बार-बार पतित होने को विवश करते हैं। उन्हें चिढ़ है समाज की उस पक्षपातपूर्ण नीति से जो सक्षम-अक्षम का भेद रखकर न्याय की तराजू उठाती है। उन्हें साध्वी यमुना के शब्दों में पश्चाताप

१—'कंकाल'—पृ० ७८।

होता है, "हिन्दू-समाज की अकारण निष्ठुरता पर—जो भौतिक वस्तुओं में तो बंटा लगा ही चुका है, भगवान पर भी स्वतंत्र भाग का साहस रखता है।"[१] जहाँ तक धर्म के उज्ज्वल पक्ष का प्रश्न है, लेखक ने उसे स्वीकार करते हुए उसकी महनीयता की सर्वत्र सराहना की है। सरला और गोस्वामी कृष्णशरण हिन्दू-धर्म के आडम्बररहित उज्ज्वल पक्ष का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्र हैं।

यद्यपि प्रसाद जी ने 'कंकाल' में किसी मत-विशेष के प्रचार अथवा किसी प्रकार के आदर्श की स्थापना का आग्रह नहीं रखा है, पर गोस्वामी कृष्णशरण के व्यक्तित्व में उनका आदर्श किन्हीं रूपों में रूपायित हुआ लगता है और उनके शब्दों में यत्र-तत्र उनके अपने विचार ध्वनित होते जान पड़ते है। गोस्वामी जी 'आर्य संस्कृति के शुद्ध भारतीय संस्करण' भगवान कृष्ण को अपना आदर्श मानते हैं, जिन्होंने जंगल के कोने में बैठकर, काषाय ओढ़कर धर्म का उपदेश नहीं दिया, वरन् जीवन-युद्ध का सारथ्य संपादित करते हुए सच्चे कर्मयोग का पाठ पढ़ाया। उन्होंने रूढ़ियों के धर्म को पाप कहा था, और आत्मा की स्वतन्त्रता का, साम्य का, कर्मयोग एवं बुद्धिवाद का उपदेश दिया था। आज के रूढ़िग्रस्त धर्म पर सबल आघात करते हुए जैसे गोस्वामीजी के शब्दों में पुरुषोत्तम-धर्म का स्वच्छ रूप सामने रखकर लेखक समाज से प्रश्न करता है, "क्या यह पथ सरल नहीं? क्या यह हमारे वर्तमान दुःखों में अवलम्ब न हो सकेगा? सब प्राणियों से निर्वैर रखनेवाला शान्तिपूर्ण शक्ति-संवलित मानवता का ऋजु पथ क्या हम लोगों के चलने योग्य नहीं है?"[२] उन्हीं के शब्दों में जैसे लेखक अपना विश्वास भी प्रकट करता है कि, "आर्य-संस्कृति अपना तामस त्याग, झूठा विराग छोड़कर जागेगी। भूपृष्ठ के

१—'कंकाल', पृ० ७७।

२— ,, , पृ० १५६।

भौतिक देहात्मवादी चौंक उठेंगे। यांत्रिक सभ्यता के पतन काल में वही मानव जाति का अवलम्ब होगी।"[1]

प्रसाद का यह संकेत उन्हें यथार्थवाद से दूर ले जाता हो, वस्तुतः ऐसी बात नहीं। यथार्थवाद के प्रयोक्ता कहे जानेवाले ज़ोला का भी यह मत है कि उपन्यासकार निरीक्षक (Observer) होने के साथ-साथ प्रयोक्ता (Experimentalist) भी होता है। उसका अन्तःस्थित निरीक्षक अपने द्वारा दृश्य तथ्य को उपस्थित करता है एवं उसका अन्तःस्थित प्रयोक्ता प्रयोग उपस्थित करता चलता है। जोला के मतानुसार, उपन्यासकार सत्य के संधानार्थ ही उपन्यास-रचना में प्रवृत्त होता है। शब्दान्तर से यही गोर्की का 'सक्रिय कल्पनावाद' (Active Realism) या समाजवादी यथार्थवाद' (Social Realism) भी है, जो कठोर वास्तविकता का डटकर विरोध करता हुआ, उससे पराजय न मानता हुआ भी, मानव को जीवनेच्छा शक्ति देने के लिए यत्र-तत्र संकेत रूप में संदेश भी देता चलता है। अतएव प्रसाद के मूलतः आक्रमणात्मक दृष्टिकोण वाले 'कंकाल' में यदि कहीं-कहीं किसी सर्जनात्मक पक्ष का भी संकेत मिलता है, तो वह असंगत और यथार्थवाद का विरोधी न समझा जाना चाहिए। साथ ही यह भी स्मरणीय है कि 'कंकाल' का यथार्थवाद कतिपय अंशों में उग्र, ऋषभचरण एवं यशपाल आदि बाद के लेखकों द्वारा गृहीत यथार्थवाद से भिन्न है। 'कंकाल' के लेखक के यथार्थवादी दृष्टिकोण को समझने में स्वयं लेखक का यथार्थवाद सम्बन्धी अपना मत भी बड़ी सहायता देगा, जिसमें लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात को यथार्थवाद की प्रधान विशेषता मानता हुआ वह स्वीकार करता है कि, "जति में जो धार्मिक और साम्प्रदायिक परिवर्तनों के स्तर आवरणस्वरूप बन जाते हैं, उन्हें हटा कर अपनी प्राचीन वास्तविकता को खोजने की चेष्टा भी साहित्य

१—'कंकाल', पृ० १६०।

में तथ्यवाद की सहायता करती है।"[1]

'कंकाल' एक व्यंगपूर्ण उपन्यास है। इसका व्यंग अपने उद्देश्य एवं स्वरूप दोनों में चतुर्विध है। उद्देश्य में यह मूलतः (क) धर्म के ढोंग पर, (ख) समाज की रूढ़ियों, विकृतियों और आभिजात्य के दम्भ पर, (ग) मनुष्य की दुर्बलताओं तथा प्रवृत्तियों पर और (घ) शासनतन्त्र तथा उसकी छद्मपूर्ण व्यवस्था पर व्यंग करता है। स्वरूप की दृष्टि से ये व्यंग (अ) नियति के अलक्ष्य संकेतों एवं घटना-चक्र के संघटन के रूप में, (आ) संस्थाओं के निर्माण एवं उनकी विफलता के रूप में, (इ) व्यक्तियों को उठने की इच्छा करते हुए भी बार-बार उनके गिर जाने के रूप में तथा (ई) विदग्ध संवादों के रूप में चित्रित हुए हैं।

(क)—धर्म का ढोंग और खोखलापन दिखाकर उस पर हँसना ही तो जैसे उपन्यास की मूल कथा है। देवनिरंजन जो प्रयाग-मेले का सबसे बड़ा महात्मा माना जाता है, अपने पापाचार से जहाँ किशोरी के संसर्ग से विजय को और रामा के संसर्ग से तारा को उत्पन्न करता है, वहीं स्वयं उसके जीवन-प्रवाह को बदलने के मूल में भी इसी धर्माडम्बर का हाथ है। जिस महात्मा की कृपा और आशीर्वाद से उसका जन्म हुआ था, उन्हीं के चरणों में उसे बलात् चढ़ना पड़ा। पादरी, बाथम और लतिका की कथा भी धर्म के ढोंग पर क्रूर व्यंग है। परितप्त निरंजन के शब्द पाखंड-पूजा के विरुद्ध कितने जोरदार हैं, "पुण्य का सैकड़ों मन का धातु-निर्मित घंटा बजाकर जो लोग अपनी ओर संसार का ध्यान आकर्षित कर सकते हैं, वे यह नहीं जानते कि बहुत समीप अपने हृदय तक (भी) वह भीषण शब्द नहीं पहुँचता।"[2]

१—"काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध" में 'यथार्थवाद और छायावाद' शीर्षक निबन्ध।

२—'कंकाल', पृ० २८६।

(ख)—तारा का, 'गुलेनार' के रूप में रूप के बाजार में बीता हुआ जीवन, बाल-विधवा उल्लासमयी घंटी की समूची कथा, तारा की माँ का लांछन लगा कर मेले में छोड़ी जाना और अवान्तर रूप से आई हुई गाला की पितामही वेश्याकुलोत्पन्ना शबनम की कहानी सामाजिक रूढ़ियों पर प्रकाश डालती हुई उनका खोखलापन दिखाती हैं। ये रूढ़ियाँ सदाचारपूर्ण जीवन बिताने वाले व्यक्ति को भी पतन के गर्त में गिरने को विवश करती हैं। दूसरी ओर समाज का जर्जर असन्तुलित आर्थिक ढाँचा भी दर्शनीय है। कोई अतिशय वैभव-विलास में डूब रहा है, किसी को दुर्वह जीवन को चलाते रहने के लिए सूखी रोटियाँ भी नहीं मिलतीं। किशोरी के भंडारे के उपरांत फेंके हुए जूठे पत्तलों के लिए कुत्तों से मनुष्यों का युद्ध एवं दशाश्वमेध घाट पर बिलबिलाते भिखारियों के चित्र समाज के इस वर्ग-वैषम्य को नग्न रूप में सामने उपस्थित कर देते हैं—"दासियाँ जूठी पत्तलें बाहर फेंक रही थीं। ऊपर की छत से पूरी और मिठाइयों के टुकड़ों से लदी हुई पत्तलें उछाल दी जाती थीं। नीचे कुछ अछूत डोम और डोमिनियाँ खड़ी थीं, जिनके सिर पर टोकरियाँ थीं, हाथ में डंडे थे—जिनसे वे कुत्तों को हटाते थे और आपस में मार-पीट गाली-गलौज करते हुए उस उच्छिष्ट की लूट मचा रहे थे—वे पुश्त दर पुश्त के भूखे!"[१] वाक्य के अन्तिम अंश की व्यञ्जना समाज की असंतुलित अर्थ-व्यवस्था के साथ उन नर-कंकालों का चित्र सामने खड़ा कर देती है। साथ ही दूसरा चित्र भी है—'मालकिन झरोखे से अपने पुण्य का यह उत्सव देख रही थीं।'[२] समाज की तह में संकरत्व की कितनी लम्बी परंपरा चली आ रही है, मंगल के वंश-परिचय और गाला की माँ की कथा से इसका ऐतिहासिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। विजय और यमुना का जन्म, मोहन की उत्पत्ति, मंगल

१-२—'कंकाल', पृ० ६६।

और गाला का विवाह दिखाकर लेखक वर्तमान जीवन में भी उस परम्परा का विकास दिखलाते हुए समाज से प्रश्न करता है कि ऐसी अवस्था में भी उसका आभिजात्य का दंभ कितना युक्त और औचित्यपूर्ण है।

(ग)—समाज की विकृतियों के मूल में वस्तुतः व्यक्ति की दुर्बलताएँ ही प्रेरक रूप में वर्तमान रहती हैं, क्योंकि समाज और कुछ नहीं व्यष्टि का समष्टिभूत रूप ही तो है; और उसकी रूढ़ परंपराएँ भी कालक्रम से प्रस्तरीभूत हो गई व्यष्टि मानव की ही दुर्बलताएँ हैं। 'कंकाल' में व्यक्ति की इन दुर्बलताओं पर भी प्रखर व्यंग किया गया है—"मनुष्य बड़ा ढोंगी है, वह दूसरों को वही सिखाने का उद्योग करता है, जिसे स्वयं कभी भी नहीं समझता"।[1] 'कंकाल' का यह व्यंग देवनिरंजन और उससे भी बढ़कर मंगल के व्यक्तित्व के माध्यम से व्यक्त हुआ है। मंगल उद्धार करने के प्रयत्न में तारा के जीवन को घोर यंत्रणा में बदल देता है। तारा-जैसी सती-साध्वी स्त्री को तो वह उसके नहीं उसकी माँ के अपराध के कारण गर्भिणी अवस्था में निःसहाय छोड़ कर चम्पत हो जाता है, परन्तु राम द्वारा कर्तव्य की गुरु विवशतावश दिये गये सीता-बनवास को वह एक 'इतिहास-विश्रुत महान सामाजिक अत्याचार' सिद्ध करता है।[2]

(घ)—शासनतन्त्र या उसकी व्यवस्था 'कंकाल' के मूल लक्ष्य के अन्तर्गत नहीं आती, फिर भी प्रासंगिक रूप से इन पर व्यंग के करारे छींटे पड़े हैं। नवाब के हत्या-कांड में यमुना पर अभियोग चलता है, लेखक वर्तमान न्याय-व्यवस्था की जर्जरता पर, विशेष प्रसंग न होने पर भी, लगे हाथ एक छींटा छोड़ देता है, "यद्यपि उसने स्पष्ट स्वीकार नहीं किया, परन्तु शासन को तो एक हत्या के बदले दूसरी हत्या करनी ही है।

१—'कंकाल' पृ० २१६।

२—'कंकाल' पृ० २८४।

न्याय को वही समीप मिली, उसी पर अभियोग चल रहा है।"[1]वृन्दावन में नवाब और पुलिस इन्स्पेक्टर का वार्तालाप तथा दशाश्वमेध घाट पर भिखारी रूप में विजय एवं वृन्दावन के सजाप्राप्त दारोगा का झगड़ा पुलिस की घूसखोरी पर मधुर किन्तु तीखे व्यंग है।

(अ)—व्यंग के स्वरूप की दृष्टि से स्पष्ट ही दर्शनीय है कि 'कंकाल' में नियति का अप्रतिहत झंझावात सारे घटना-चक्र एवं सभी पात्रों को निर्ममतापूर्वक झकझोर कर अपने संकेत पर नचा रहा है। तारा का यह कथन—"मैं कभी-कभी विचारती हूँ कि छायाचित्र-सदृश जनस्रोत में नियति के पवन की थपेड़ें लग रही हैं, वह तरंग-संकुल होकर झूम रहा है, और मैं एक तिनके के सदृश उसी में इधर-उधर बह रही हूँ। कभी भँवरों में चक्कर खाती हूँ, कभी लहरों में नीचे-ऊपर होती हूँ। कहीं कूल किनारा नहीं।"[2]—केवल तारा के जीवन का कटु सत्य नहीं, पूरे 'कंकाल' और उसके सभी पात्रों के जीवन का कटु अनुभव है। किशोरी पति के साथ सच्चे मातृत्व से प्रेरित होकर पुत्र-लालसा से प्रयाग मेले में जाती है, पर नियति उसे वहाँ बाल-सहचर निरंजन से मिला देती है। उसका पूरा जीवन-क्रम ही बदल जाता है। निरंजन पतन से बचने का प्रयत्न करता है, मेले से भाग जाता है, पर नियति किशोरी को वहाँ भी भेजकर उसे गिरा ही देती है। बेचारा उत्साही मंगल 'गुलेनार' को रूप के बाजार से निकालने की सत्प्रेरणा से संचालित होकर कार्य-क्षेत्र में प्रवृत्त होता है पर दैवात् कुछ और ही हो जाता है, और वह बार-बार उठना चाह कर भी उठ नहीं पाता। बेचारी यमुना का तो पूरा जीवन ही नियति की क्रूर कहानी है। वह बार-बार मरने का प्रयत्न करके भी मर नहीं पाती। यह नियति 'कंकाल' के पात्रों (प्रायः

१—'कंकाल' पृ० २४३।

२—'कंकाल' पृ० ४४।

सभी) का एक बार सम्बन्ध तोड़कर पुनः सब को एक झटके में ला मिलाती है। मंगल का सरला से, घंटी का नंदो चाची से, और यमुना का अपने पुत्र मोहन से मिलना तथा प्रायः सब पात्रों का किसी न किसी रूप में गोस्वामी जी के मठ में जा पहुँचना नियति की प्रेरणा से ही संचालित है। एक प्रकार से सम्पूर्ण घटना-चक्र को यह दुस्तर नियति कन्दुक-क्रीड़ा करती हुई नचा रही है।[1]

(आ) 'कंकाल' में सामाजिक सुधार तथा जन-कल्याण का उद्देश्य लेकर बनाई गई विभिन्न संस्थाओं के प्रति प्रसाद जी ने घोर अनास्था व्यक्त की है। गोस्वामी कृष्णशरण जी देवनिरंजन के बार-बार अनुरोध करने पर भी पहले समाज सुधारार्थ किसी संस्था को स्थापना के लिए तैयार नहीं होते। उनका विश्वास है कि, "संस्थाएँ विकृत हो जाती हैं। व्यक्तियों के स्वार्थ उसे कलुषित कर देते हैं।"[2] धर्म और समाज की कुरीतियों को मिटाने का व्रत लेकर स्थापित 'भारतसंघ', जो बड़े-बड़े विज्ञापनों द्वारा अपनी नीति और लक्ष्य का ढिंढोरा पीटता था, अंततः बुरी तरह असफल दिखाया गया है। उसके कार्यकर्ता स्वयं अपना तक सुधार नहीं कर पाते। लम्बे-चौड़े भाषणों में ही उनका सारा कार्य-क्षेत्र समाप्त हो जाता है।

कुछ विद्वानों ने 'भारतसंघ' को 'कंकाल' के रचनात्मक कार्यक्रम का प्रतीक माना है। उनकी दृष्टि में 'भारतसंघ' लेखक की सेवा-कार्य और शिक्षण-क्रम-योजना का निर्देश देता है और उनका कथन है कि, "उपन्यास के अन्त में सेवा-कार्य के शुभ फल फलित होते देख पड़ते हैं।"[3]

१—नचती है नियति नटी-सी कन्दुक-क्रीड़ा-सी करती।
(अपने खारे आँसू से करुणा-सागर को भरती ॥)—'आँसू'

२—'कंकाल', पृष्ठ १८२।

३—'जयशंकर प्रसाद' : पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० १०४, (प्र० सं०)

..."अन्तिम समय में यमुना और घंटी रूपी सौभाग्य देवियाँ विजय की अन्त्येष्टि का सुप्रबन्ध करती हैं; इस प्रकार उपन्यास के अन्त में यद्यपि विजय का विकृत कंकाल ही नजर आता है, किन्तु आशा और शान्ति के वातावरण में ही उपन्यास का परदा गिरता है।"[1] परन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। निरञ्जन का किशोरी को लिखा हुआ परितापभरा पत्र भारतसंघ की विफलता का पूरा भंडाफोड़ करता है—"इसमें मैंने बड़ा ढोंग पाया। गंभीर मुद्रा का अभिनय करके अनेक रूपों में उन्हीं व्यक्तिगत दुराचारों को छिपाना पड़ता है, सामूहिक रूप से वही मनोवृत्ति कार्य करती दिखाई पड़ती हैं। संघों में, समाज में, मेरी श्रद्धा न रही।"[2] नारी-यंत्रणा को दूर करना ही भारत-संघ का सबसे बड़ा लक्ष्य है और एक निरपराध साध्वी नारी के जीवन को नष्ट करके गाला से विवाह कर सुख की गृहस्थी बसानेवाला ढोंगी मंगल उसका नेता बनता है। बाद में इस रहस्य को जानकर संघ के दूसरे उत्साही कार्यकर्ता निरञ्जन को घोर कष्ट होता है और वह समझ नहीं पाता कि, "अनिच्छापूर्वक भी भारत-संघ की स्थापना में सहायक बन कर मैंने क्या किया है—पुण्य या पाप? प्राचीन काल के इतने बड़े-बड़े संगठनों में जड़ता की दुर्बलता घुस गई। फिर यह प्रयास कितने बल पर है!—वाह रे मनुष्य! तेरे विचार कितने निस्सम्बल हैं—कितने दुर्बल हैं!"[3] जहाँ तक 'कंकाल' के अन्त का प्रश्न है, वह अपनी घोरतम निराशा के साथ समाज की जर्जरता के सम्मुख दोहरा-तिहरा प्रश्नचिह्न बन कर रह गया है। एक ओर भारत संघ का प्रदर्शन निकला है, घंटी का गरम-गरम भाषण चल रहा है, दूसरी ओर समाज की कुरीतियों से जन्म भर टक्कर लेने

१—'जयशंकर प्रसाद': पं० नंददुलारे वाजपेयी, पृ० १०४, (प्र०सं०)
२—'कंकाल' पृष्ठ २६०।
३—वही, पृ० २६२।

वाले विद्रोही विजय का कंकाल असहाय अवस्था में पड़ा है। समाज की बहुविध यन्त्रणाओं को मूक भाव से सहन करनेवाली यमुना अपने उस अभागे दीन भाई की अन्तेष्टि क्रिया के लिये दस रुपए उधार लेती है। कितना हृदय-विदारक विद्रूपभरा व्यंग है—सपत्नीक धर्मध्वजी पाखंडी मंगल धर्माडम्बर, पाखण्ड-पूजा और हर प्रकार की रूढ़ियों के विरुद्ध आजीवन अकुण्ठ भाव से लड़ने वाले विजय के कंकाल के क्रिया कर्म में लगी घंटी को सम्बोधित करता हुआ कहता है, "अच्छा अब चलो, अभी बहुत सा काम बाकी है।" और उसके संकेत पर देखता है—"एक स्त्री पास ही मलिन वसन में बैठी है। उसका घूँघट आँसुओं से भींग गया है और निराश्रय पड़ा है एक कंकाल!" क्या उस कंकाल की दीन अवस्था ही उस मलिनवसना के घूँघट को भिगोने वाले उमड़ते आँसुओं का एकमात्र कारण रहा होगा?

(इ) 'कंकाल' में इस प्रकार के व्यंग बड़े ही निर्मम रूप से चित्रांकित किए गए हैं। बेचारे मंगल के जीवन की पूरी कहानी ही इस प्रकार का एक क्रूर व्यंग है। सत्प्रेरणा से प्रेरित होकर, सत्यकार्य करने जाकर, वह प्रथम बार स्खलित होता है और यहीं से वस्तुतः उसके पतन का श्रीगणेश-सा होता है। इस बार के पतन से उठने के लिए वह ऋषिकुल-ब्रह्मचर्याश्रम की स्थापना करता है, गूजरों के बालकों के शिक्षणार्थ पाठशाला खोलता है, फिर भारत-संघ की स्थापना करता है, परन्तु बार-बार चाह कर भी वह स्वयं अपना परिष्कार नहीं कर पाता। उसकी वाणी कुछ कहती है, उसके कार्य कुछ दिखलाते हैं। प्रथम दो खंडों में निरञ्जन का व्यक्तित्व भी इसी प्रकार का है।

(ई) विदग्ध संवादों के रूप में व्यक्त हुए व्यंगों के अवसर ऊपर उल्लिखित चार उद्देश्यों में लगभग सबके लिए अनेकानेक स्थलों पर आये हैं। इनके अतिरिक्त संवादों द्वारा अन्य भी कितने ही पहलुओं पर मार्मिक और हृदयस्पर्शी व्यंग के छींटे उछाले गए हैं। विजय द्वारा

प्रणय-निवेदन किये जाने पर दुखिया यमुना जो उत्तर देती है, उससे समाज द्वारा सताई हुई अनाथ दोना नारी के हृदय का कितना दारुण हाहाकार व्यक्त होता है—"किसी के हृदय की शीतलता और किसी के यौवन की उष्णता—मैं सब कुछ झेल चुकी हूँ। उसमें सफल नहीं हुई, उसकी साध भी नहीं रही। विजय बाबू! मैं दया की पात्री एक बहन होना चाहती हूँ—है किसी के पास इतनी निःस्वार्थ स्नेह-सम्पत्ति जो मुझे दे सके?"[१]

ये, तथा विभिन्न रूपों में अन्य प्रकार से व्यक्त हुए व्यंग ही वस्तुतः 'कंकाल' के प्राण हैं। किन्तु एक बात यह भी ध्यान देने की है कि प्रसाद ने जीवन, परिस्थिति, समाज और धर्म पर जो व्यंग किये हैं, वे खरे और कचोटने वाले होकर भी निष्करुण एवं निर्मम नहीं हैं। वस्तुतः "उन्होंने व्यक्ति को नियति के हाथों की पुतली मान कर ही उसके प्रति व्यंग किया है, जिसमें चोट करने की भावना उतनी नहीं है, जितनी संवेदना और सुधार की।"[२]

इस प्रकार युग-जीवन के नाना क्षेत्रों में व्याप्त अनेकरूप कुरूपताओं, विषमताओं एवं विकारों का कच्चा-चिट्ठा खोलकर, साथ ही उनको दूर करने का उद्देश्य लेकर अग्रसर होनेवाली संस्थाओं की प्रयास-व्यर्थता दिखला कर, 'कंकाल' समस्या को और भी गुरुतर बना कर छोड़ देता है। यदि प्रसाद जी को किसी भी प्रकार के सुधार की सफलता में विश्वास की किरण दिखाई पड़ी, तो वह व्यक्तिगत-साधना को लेकर चलने वाला सुधार-पथ ही था। सभी अपने-अपने को सुधारें, समाज स्वतः सुधर जायगा। गोस्वामी जी के ये शब्द, "मुझे व्यक्तिगत पवित्रता के उद्योग में विश्वास है", जैसे लेखक के निष्कर्षभूत अपने विचारों को व्यक्त करते

१—कंकाल', पृ० १११।

२—'हिन्दी उपन्यास' : शिवनारायण लाल श्रीवातव, पृ० १४६।

हैं। निरञ्जन की सारी पाप-कथा को सुनकर भी वे यही उपदेश देते हैं कि, "मनुष्य भूलें करता है, इसका रहस्य है उसका परिमित ज्ञानाभास। सत्य इतना विराट है कि हम क्षुद्र जीव व्यवहारिक रूप में उसे सम्पूर्ण ग्रहण करने में प्रायः असमर्थ प्रमाणित होते हैं। जिसे हम परम्परागत संस्कारों के प्रकाश में कलंकमय देखते हैं, वे ही शुद्ध ज्ञान में यदि सत्य ठहरें तो मुझे आश्चर्य न होगा।"[1] और वस्तुतः उपन्यास की सम्पूर्ण घटना यही प्रमाणित भी करती है कि जिस यमुना को सबसे बड़ी अपराधिनी और अपावन समझा गया था, वही सबसे अधिक महान और पवित्र है। व्यक्तिगत रूप से घंटी का लतिका से और चाची का यमुना से क्षमा-निवेदन, और धर्म के ठेकेदार निरञ्जन का अन्ततः आत्मधिक्कार की अग्नि में जलते हुए भगवान की क्षमा का विश्वास लेकर आत्म-शोधन में लीन होना—सब इसी व्यक्तिगत-साधना की ओर संकेत करते हैं। ईश्वर, धर्म, समाज-व्यवस्था और हर प्रकार की परम्पराओं का घोर विरोधी, विद्रोही विजय भी अन्त समय में भगवान के चरणों में अपना समर्पण करता है, "भगवान मैं तुमको स्मरण करता हूँ, आज तक कभी नहीं किया था तब भी तुमने मुझे कितना बचाया—कितनी रक्षा की! हे मेरे देव, मेरा नमस्कार ग्रहण करो, इस नास्तिक का समर्पण स्वीकार करो।"[2]

वस्तुतः हिन्दी साहित्य में 'कंकाल' विचार-प्रधान प्रथम उपन्यास है, जिसने मध्यवर्गीय समाज के नित्यप्रति के जीवन को, उसकी विकृतियों के मूल कारण को, उसके यथार्थ रूप में देखने-परखने का प्रयास किया। इसमें समाज और जीवन में व्याप्त संघर्षों के केवल बाह्य रूप को ही न अपना कर, समाज के अंतःप्रदेश में हलचलों की सृष्टि करने वाले मौलिक

१—'कंकाल', पृ० २६१।

२—'कंकाल', पृ० २६७।

कारणों की ओर भी लेखक ने दृष्टिपात किया। प्रसाद की यह व्यापक और सूक्ष्म दृष्टि इस दिशा में उन्हें हिन्दी के उपन्यास-सम्राट प्रेमचन्द से भी बहुत ऊँचे उठा देती है। प्रेमचन्द व्यावहारिक दृष्टि से ही जीवन और जगत का अध्ययन कर सके और उन्होंने उसी दृष्टि से उसकी समस्याओं के समाधानों की खोज भी की। दार्शनिक और आध्यात्मिक धरातल की ओर उनकी चेतना न बढ़ सकी। इसीलिए उनके साहित्य में आत्मा का पीड़न तथा जीवन की गंभीर और शाश्वत समस्याओं के चित्रण का अभाव है। प्रसाद ने जीवन के दोनों पक्षों को ग्रहण किया। व्यावहारिक जीवन की सामाजिक और आर्थिक समस्याओं को अपना कर भी उन्होंने इनको ही जीवन का पूर्णांश नहीं मान लिया; जीवन के शाश्वत पक्षों और उनके प्रति उपेक्षा भाव के कारण उत्पन्न होकर समाज में विकार फैलाने वाले नाना अनाचारों को भी उन्होंने साथ-साथ चित्रित किया। "प्रसाद के विवेचन जहाँ दार्शनिक चिन्तन पर आश्रित हैं वहाँ प्रेमचन्द के विवेचन नैतिक-व्यावहारिक विवेक पर।"[१] जीवन को समग्र रूप में लेकर देखने की यह प्रवृत्ति ही प्रसाद को महान और प्रथम श्रेणी का कलाकार बनाती है। 'कंकाल' भले ही उपन्यास-कला की दृष्टि से प्रेमचन्द के 'गबन', 'रंगभूमि' और 'गोदान' की कोटि में न रखा जा सके, पर इसका बुद्धि-पक्ष निश्चय ही उनसे समृद्ध है, और इसमें मानव-जीवन की जिन समस्याओं को उठाया गया है, वे उन उपन्यासों द्वारा गृहीत समस्याओं से गूढ़ तथा महत्तर हैं।

'कंकाल' पर यह भी एक आक्षेप लगाया जाता है कि इसकी दृष्टि एकांगी है, लेखक ने इसमें मानव की दुर्बलताओं और सामाजिक भ्रष्टाचारों का ही सजीव चित्र खींचना चाहा है। कुछ अंशों में यह कथन सत्य भी हो सकता है, पर जिस उपन्यास में अपनी अपावनता में भी

१—'विचार और विवेचन' : डा० नगेन्द्र, पृ० १०० ।

परम पूत यमुना-सी नारी और अपनी दुर्बलता में भी अनुपम महिमाशील विजय जैसे मुख्यपात्र हों तथा जिसनें जीवन के सात्विक रूपों का प्रतिनिधित्व करने वाले गोस्वामी कृष्णशरण एवं सरला जैसे पात्रों का अंकन हो, उसके लिए सर्वथा यह नहीं कहा जा सकता कि उसने मात्र मानव की दुर्बलताओं को ही ग्रहण किया। जहाँ तक सामाजिक भ्रष्टाचारों के चित्रण का प्रश्न है, उसमें लेखक की अपनी ओर से कुछ अतिरंजना नहीं है, इसे सामान्यतया देखा जा सकता है। यद्यपि पाप और पुण्य का विवेचन 'कंकाल' का मूल प्रश्न नहीं है, पर वास्तव में 'चित्रलेखा' के कुमारगिरि और बीजगुप्त के द्वन्द्वमय व्यक्तित्व-चित्रण एवं जीवन से उसकी मूल समस्या—पाप-पुण्य—का जितना उद्घाटन हो पाता है, इसके मंगल और विजय के जीवन-चित्र उस समस्या का उससे कहीं अधिक स्पष्ट तथा स्वाभाविक रूप से उत्तर देते हैं। मंगल बार-बार उठना चाहकर भी गिर-गिर जाता है, कदाचित अन्त तक भी नहीं उठ पाता; विजय उठने की कोई अभिलाषा न रखता हुआ भी, गिर कर भी उठ जाता है—बहुत ऊपर। जहाँ पुरानी नैतिकता के विरुद्ध विद्रोह का स्वर उठाकर नैतिकता को नया मनोवैज्ञानिक आधार देने के लेखक के प्रयास में, उसकी "चित्रलेखा दो पुरुष पात्रों के बीच घूमती हुई, केवल कौतूहल की सृष्टि कर पाती है",[1] 'कंकाल' की यमुना नई नैतिकता के निर्माण का स्पष्ट लक्ष्य न रखती हुई भी, परम्परा-प्राप्त नैतिकता के सम्मुख अपने मूक और अतिशय सहिष्णु व्यक्तित्व से एक समस्या रख जाती है, और अंततः परम्पराओं के धर्मगुरु निरंजन को स्वीकार करना पड़ता है कि वह पतिता नहीं, अपितु सर्वाधिक पवित्र चरित्र है।

इस प्रकार 'कंकाल' का विचार-पक्ष बहुत ही गंभीर, तलस्पर्शी, सूक्ष्म और व्यापक है।

१—'आलोचना' : उपन्यास-विशेषाङ्क—पं० नन्ददुलारे वाजपेयी का लेख, पृ० ५६।

उक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि 'कंकाल' में देश-काल के चित्रण की ओर भी यथेष्ट ध्यान दिया गया है। विभिन्न स्थितियों का—चाहे वे प्रकृति से संबद्ध हों या व्यावहारिक जीवन के कार्य-कलापों से—परिदृश उपस्थित करके ही लेखक ने उस पर घटना, चरित्र अथवा विचारों की अवतारणा की है। इस बात का भी उसने बराबर ध्यान रखा है कि वातावरण स्थूल औा भौतिक भी होता है, सूक्ष्म तथा मानसिक भी। विभिन्न तीर्थ, मेला-बाज़ार, मध्यवर्ग के लोगों का रहन-सहन, गूजरों का जंगली जीवन और मठों-मंदिरों का लघु या विस्तृत चित्रण स्थूल वातावरण का निर्माण करता है। साथ ही स्थान-स्थान पर मानव-भाव-रञ्जित प्रकृति के चित्रण से मानसिक वातावरण-निर्माण की संघटना भी होती चलती है। प्रसाद जी का अनेक रूपों में यह दृश्य-चित्रण-कौशल, देश-काल और परिस्थिति को सजीव रूप में अंकित कर उनके वर्णनों को बहुत ही परिचित और मनोहारी बना देता है। जहाँ कहीं बाह्य वातावरण के साथ मनःस्थिति का अङ्कन एकरूप होकर व्यक्त हुआ है, वहाँ चित्रण में काव्यात्मकता के साथ अद्भुत मार्मिकता का समावेश हो गया है। तारा कुलवधू बनते-बनते 'गुलेनार' वेश्या बनने को विवश हुई, वहाँ से किसी प्रकार उद्धार होने पर बाप ने लांछिता कहकर ठुकरा दिया! गाड़ी में मंगल के साथ बैठी हुई वही विषण्णमना तारा अपने विचारों में डूबी हुई बाह्य दृश्य देख रही है—"गाड़ी बीच के छोटे स्टेशन पर रुकी। स्टेशन की लालटेन जल रही थी। तारा ने देखा एक सजा-सजाया घर भागकर छिप गया...। तारा क्रोध और ग्लानि से फूल रही थी। निराशा और अंधकार में विलीन हो रही थी।"[1]

इन चित्रणों के साथ-साथ समाज के विभिन्न स्तरों के रहन-सहन,

१—'कंकाल', पृ० ३६।

उनके आचार-विचार, प्रचलित रीति-रिवाज, समाज और जन-जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली विभिन्न संस्थाओं का लेखक ने यथातथ वर्णन प्रस्तुत किया है। समाज के विभिन्न वर्गों को लेखक ने किस सूक्ष्मता से देखा है, उन वर्गों के लोगों के रहन-सहन, आचार-विचार आदि का कितने निकट से अध्ययन किया है, इसका निर्देश आर्यसमाज के एक प्रीति-भोज के दृश्य का उदाहरण भली प्रकार दे देगा—"एक दिन कई मित्रों के अनुरोध से उसने अपने यहाँ प्रीतिभोज दिया। श्रीमती प्रकाश देवी, सुभद्रा, अम्बपालिका, पौलामी आदि नामाङ्कित कई देवियाँ, अभिमन्यु, वेदस्वरूप, ज्ञानदत्त, वरुणप्रिय और भीष्मव्रत आदि कई आर्यसभ्य एकत्रित हुए। वृक्ष के नीचे कुर्सियाँ पड़ी थीं, बातचीत हो रही थी...। ज्ञानदत्त ने कहा अभी ब्रह्मचारीजी नहीं आए।... परन्तु लीजिए, वह ब्रह्मचारी जी आ रहे हैं। एक घुटनों से नीचा लम्बा कुर्ता डाले, लम्बे बाल और छोटी दाढ़ी वाले गौरवर्ण युवक को देखते ही नमस्ते की धूम मच गई। ब्रह्मचारी जी बैठे। मंगलदेव का परिचय देते हुए देवस्वरूप ने कहा—आपका ही शुभ नाम मंगलदेव है। इन्होंने ही इन देवी का यवनों के चंगुल से उद्धार किया है।...ब्रह्मचारी ने हँस कर कहा—सो तो होना चाहिए। ऐसे ही नवयुवकों से भारतवर्ष को आशा है। आप समाज में कब से प्रविष्ट हुए?"[1]

'कङ्काल' : शिल्पगत विवेचन

वस्तु-संगठन—मिस एलिजाबेथ बावेन ने उपन्यास के सात तत्वों की चर्चा की है[2]—(१) कथावस्तु, (२) चरित्र, (३) दृश्य, (४) कथोपकथन, (५) दृष्टिकोण, (६) विकास, (७) औचित्य या प्रसंगानुरूपता (relevence)। विलियम हेनरी हडसन ने उक्त

१—'कंकाल', पृ० ३६–४०।

२—'Notes On Writing a Novel'

तत्वों को केवल छः वर्गों में रखा है—(क) कथावस्तु, (ख) चरित्र, (ग) कथोपकथन, (घ) दृश्य, (ङ) शैली, (च) उपन्यासकार की व्याख्या, प्रतिपाद्य या जीवन-दर्शन।

इनमें से आधारभूत जीवन-दर्शन, देश-काल चित्रण या दृश्य, और प्रासंगिक रूप से कथा-वस्तु का विवेचन हो जाने के पश्चात् मुख्यतया कथावस्तु के कलात्मक संगठन, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन और शैली की दृष्टि से 'कंकाल' का अध्ययन अवशिष्ट रह जाता है।

उपन्यास में कार्यों और घटनाओं के विवरण का ही सम्मिलित नाम कथावस्तु है। 'कंकाल' की कथावस्तु चार खंडों में विभाजित है। प्रथम खंड की संक्षिप्त कथा इस प्रकार चलती है: किशोरी अपने पति श्रीचन्द के साथ प्रयाग मेले में तीर्थ-यात्रा करने जाती है। पुत्र-प्राप्ति की लालसा उसे मेले के प्रसिद्ध महात्मा देवनिरञ्जन के दर्शनार्थ उनके निकट ले जाती है। वह महात्मा और कोई नहीं उसके बाल-सखा रञ्जन ही थे। हरिद्वार में दोनों का पतन होता है। इसी बीच रामा नाम की विधवा ब्राह्मणी भी अपने परिवार से त्यागी जाकर किशोरी के संपर्क में आ जाती है। आगे चलकर निरंजन का उससे भी गुप्त सम्बन्ध होता है और प्रत्यक्ष रूप से वह भंडारी की स्त्री बन जाती है। किशोरी से विजय और रामा से तारा का जन्म होता है। बीच में १५ वर्षों के काल की घटनाओं को छोड़कर घटना-चक्र काशी के चंद्र-ग्रहण से फिर दूसरा मोड़ लेता है। तारा इस मेले में माँ-बाप से छूटकर कुटनियों के दल में फँस जाती है और लखनऊ के अमीनाबाद में 'गुलेनार' के रूप में दिखाई पड़ती है। मंगल नाम का उत्साही युवक वहाँ से उसका उद्धार करता है, पर बाद में उसी के संसर्ग से तारा गर्भवती हो जाती है। किन्तु जब इस गुप्त प्रणय-लीला को दोनों परिणय के रूप में सामाजिक मान्यता देने जा ही रहे थे तभी चाची की कुटिलता से तारा के मातृपक्ष की अकुलीनता का समाचार पाकर मंगल चुपके से भाग जाता है। आगे, किशोरी के

यहाँ दोनों फिर एकत्र होते हैं—मंगल गरीब विद्यार्थी और विजय के मित्र के रूप में, तथा जीवन से ऊबी हुई तारा दो बार मरने का प्रयास करके भी विफलमनोरथ होकर, और अपने सात दिन के शिशु को अस्पताल में छोड़कर, दासी युमुना के रूप में। यहाँ से घटना-चक्र को फिर तीसरा मोड़ मिलता है। पूजा-पाठ को ढोंग और रूढ़ियों को जंजीर समझने वाला विजय सहज भाव से यमुना की ओर आकृष्ट होता है, पर प्रसंगवश यमुना और मंगल को एक दिन बातचीत करते हुए देखकर वह जल उठता है और मानसिक आघात से बीमार पड़ जाता है। विजय की बीमारी में यमुना की तत्पर सेवा देख मंगल को ईर्ष्या होती है और एक दिन यहाँ से भी वह चुपचाप भाग जाता है। दूसरी ओर, निरंजन तथा किशोरी बाहर से पूजा-पाठ का ढोंग करते हुए सामान्यतः पति-पत्नी के रूप में काशी में जीवन-यापन करते हैं। श्रीचंद अमृतसर में अपना व्यापार सँभालता रहता है।

द्वितीय खंड में कथावस्तु का परिवेश और विस्तृत हो जाता है। किशोरी और निरंजन के साथ विजय भी वृन्दावन तीर्थ-यात्रा को जाता है। यहीं घटनाचक्र में घंटी नामक नये चरित्र का आगमन होता है। घंटी बाल-विधवा है। यमुना की ओर से निराश होकर विजय की उन्मुक्त प्रणयाकांक्षा अप्रतिहत वेग से घंटी की ओर बढ़ती है। अल्हड़ घंटी भी उसका स्वागत करती है। प्रथम खंड में भागा हुआ मंगल 'नये' रूप में, समाजोत्थान की प्रेरणा से स्थापित की गई अपनी ऋषि-कुल-ब्रह्मचर्याश्रम संस्था के साथ सामने आता है। विजय के विवाद से रूठकर निरंजन काशी लौट आता है, किशोरी भी उसका साथ देती है। यमुना भी भीख माँगकर अपना दुखी जीवन शांतिपूर्वक बिता देने की लालसा से किशोरी के रोकते रहने पर भी चली जाती है। विजय घंटी के साथ मथुरा चला जाता है। यहीं पर घटनाचक्र में फिर नया मोड़ आता है और उस पर वह बड़ी क्षिप्र गति से दौड़कर आगे बढ़ता है। पादरी,

बाथम, लतिका और सरला नामक नये पात्र कथा-सूत्र से संबद्ध होकर आते हैं और एक अंधा भिखारी आकर मंगल तथा घंटी के अतीत जीवन के रहस्यों पर प्रकाश डालता है, जिसके फलस्वरूप सरला का मंगला से एवं नंदो का घंटी से मातृत्व-सम्बन्ध उद्घाटित होता है। स्वामी कृष्णशरण और उनके आश्रम का भी यहीं पर घटना-प्रवाह से सम्बन्ध होता है। यमुना और मंगल यहीं फिर मिलते हैं। विजय और घंटी, तथा लतिका और सरला आदि भी इस आश्रम के सम्पर्क में आते हैं।

तीसरे खंड में घटना-प्रवाह और भी वेगवान तथा प्रसारगामी होकर सामने आता है। विजय घंटी को गुंडों से बचाने के प्रयास में एक खून कर डालता है और यमुना के बहुत आग्रह करने पर प्राण-रक्षार्थ वहाँ से भाग जाता है। यमुना अभियुक्त समझी जाकर गिरफ्तार कर ली जाती है। उधर किशोरी से रूठकर विजय को खोजने आये हुए निरंजन का भी गोस्वामी जी के आश्रम से सम्पर्क होता है। उसकी चित्तवृत्तियों में सुधार होने लगता है। किशोरी का अपने विवाहित पति श्रीचन्द से पुनर्मिलन होता है। दाम्पत्य जीवन में घंटी के प्रवेश से बाथम और लतिका का सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। अपनी घोर मानसिक यंत्रणा में घंटी पागल होकर भाग जाती है। कथानक फिर नया मोड़ लेता है और गूजर जाति के बर्बर डाकू बदन, उसकी युवती पुत्री गाला तथा 'नये' रूप में खूनी विजय से परिचय होता है। अवान्तर रूप से गाला की माँ और उसकी पितामही शबनम की कथा भी आती है। गाला 'नये' की ओर आकृष्ट होती है, समीप ही पाठशाला खोलकर जंगली जातियों को शिक्षा देने वाले मंगल से भी उसका परिचय हो जाता है। बदन द्वारा रखे गये गाला के विवाह-प्रस्ताव को 'नये' अस्वीकार कर देता है।

चौथे खंड में घटना-प्रवाह मंथर हो जाता है, एक-एक कर घटना-चक्र के बिखरे हुए सूत्र मिलने लगते हैं और संगठित होकर कथानक को

विश्राम की ओर अग्रसर करते हैं। यमुना द्वारा परित्यक्त चाची के पालित पुत्र मोहन को किशोरी और श्रीचन्द अपना दत्तक पुत्र बनाते हैं। पगली रूप में घंटी अपनी माँ नन्दो चाची से मिलकर पुनः स्वस्थ हो जाती है। गाला मंगल की पाठशाला में आ जाती है और दोनों परस्पर एक दूसरे की ओर आकृष्ट होते हैं। घंटी और नन्दो भी गोस्वामी जी के आश्रम में आ जाती हैं। मंगल और निरंजन के आग्रह से गोस्वामी जी 'भारतसंघ' नामक समाज-सुधारक संस्था की स्थापना करते हैं। खून के मुकदमें में यमुना के अभियुक्ता ठहराये जाने का समाचार पाकर विजय विक्षिप्त-सा खुली अदालत में जाकर अपना अपराध स्वीकार करता है, परन्तु उसे पागल समझ कोई उसकी बात पर ध्यान नहीं देता और सबूत के अभाव में यमुना भी मुक्त कर दी जाती है। गाला के साथ आश्रम में मंगल का विवाह होता है, मंगल के इस ढोंग से क्षुब्ध हुए विजय को लेकर यमुना वहाँ से चली जाती है। किशोरी को निरंजन आत्म-धिक्कार भरा पत्र लिखता है। विद्रोही विजय दशाश्वमेध घाट पर बैटकर भीख माँगता दिखाई पड़ता है और यमुना दासी रूप में पुनः किशोरी की सेवा में जाकर, अपने ही पुत्र मोहन की दाई बन जाती है। वहीं से रूखी रोटियाँ ले जाकर वह भूखे विजय को समय-समय पर खिलाती है तथा जीवन से हारे दोनों समानधर्मा साथी, परस्पर भाई-बहन का पवित्र स्नेह-सम्बन्ध जोड़ते हैं। यमुना के प्रयत्न से मरणासन्न किशोरी का दर्शन कर विजय अन्तिम बार उसके आँसू पोंछता है और निरञ्जन के पत्र से यह रहस्य जानकर कि व्यवहार में ही नहीं, वरन् वास्तविकता में भी तारा (या यमुना) से उसका भाई-बहन का सम्बन्ध है, वह जन्म का नास्तिक विजय उसके साथ पतन से बचाने वाले भगवान् के प्रति श्रद्धा-भाव से समर्पण कर जीवन-लीला समाप्त करता है। यमुना मोहन की सिफारिश पर श्रीचन्द से दस रुपया उधार लेकर उसके कंकाल का अंतिम संस्कार कराती है। संघ के प्रदर्शन की तैयारी में सपत्नीक

आकर मंगल भी उस निराश्रित कंकाल और उसके पास बैठी रोती हुई यमुना को देखता है और बिना पहचाने आगे बढ़ जाता है।

कथावस्तु के इस संक्षिप्त परिचय से ज्ञात होता है कि 'कंकाल' में अनेक कथाएँ-उपकथाएँ आई हैं। मूल कथा का प्रवाह दो उपधाराओं में बहता दिखाई पड़ता है—एक देवनिरंजन और किशोरी के कार्य-कलापों को लेकर और दूसरा यमुना, विजय तथा मंगल के कार्य-व्यापारों को लेकर। घंटी, बाथम और लतिका तथा बदन और गाला की प्रासंगिक कथाएँ बीच-बीच में आकर इन धाराओं से मिलती जाती हैं। इन कथाओं-उपकथाओं में प्रायः सभी पात्रों की अपनी-अपनी स्वतन्त्र कहानियाँ हैं। किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि लेखक ने भरसक उन कहानियों के प्रेरक घटना-चक्रों को परदे के पीछे रखकर, पात्रों के चरित्र-विकास पर पड़ने वाले उनके प्रभाव को ही प्रकाश में ला कर चित्रित किया है। इसीलिए उपन्यास की कथावस्तु मूलतः घटना-चक्र द्वारा न संचालित होकर विभिन्न पात्रों के व्यक्तित्वों द्वारा संचालित होती है। इन पात्रों के परस्पर-सम्बन्ध बड़े रहस्यमय ढङ्गसे एक दूसरे से गुँथते चलते हैं, कथा-प्रवाह अबाधित रूप से अग्रसर होता चलता है और उसके साथ कुतूहल की वृद्धि भी होती जाती है।

एक बात यह भी स्मरणीय है कि 'कंकाल' में लेखक का उद्देश्य मूल रूप से चरित्र-विकास और मध्यवर्गीय जीवन के मूल में छिपी कमजोरियों का उद्घाटन रहा है, अतः परदे के भीतर छिपे रहस्य को प्रकाश में लाने के लिए कथानक की शाखाओं-प्रशाखाओं को अनेकशः बार विकास का राजमार्ग छोड़कर घुमावदार गलियों का चक्कर लगाते हुए आगे बढ़ना पड़ा है। फलस्वरूप अनेक मोड़, और मूल कथा में अनेक जोड़ों की स्थिति उत्पन्न हो गई है। नंदो चाची, चन्दा, सरला, लतिका और बाथम, गोस्वामी जी, बदन गूजर, उसकी स्त्री और शबनम आदि की कथाएँ कुछ इसी प्रकार की हैं। किन्तु ये जोड़ कहीं उभरे

रहकर कथानक में पैबन्द रूप में नहीं रहने पाये हैं, अपितु मणिसूत्रवत मूल कथा से सम्बद्ध होकर तद्रूप हो गये हैं। सम्पूर्ण कथानक में लतिका और बाथम की कथा ही ऐसी है, जिसके निकाल देने पर भी मूल कथा पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। किन्तु उपन्यास के मूल लक्ष्य—विभिन्न धर्मों में बढ़े हुए मिथ्याचार और उनमें नारी की स्थिति का चित्रण—के लिए इस उपकथा की अत्यन्त आवश्यकता थी। मूल कथा से इसका अन्तरङ्ग सम्बन्ध-सूत्र जोड़ने के लिए लेखक ने इस कथा के साथ ही सरला को सामने ला रखा है, जिसका मंगल से मातृ-सम्बन्ध है। गाला की कथा का तीसरे खंड में आकर कथानक से संयोजित होना तो और भी आवश्यक और कलापूर्ण जान पड़ता है। उसकी अवतारणा से मंगल और विजय की चरित्रगत विशेषताएँ जैसे फिरसे नई कसौटी पर परखी गई हैं। यह कथा कुछ अनपेक्षित रूप से विस्तृत अवश्य हो गई है, परन्तु गाला की माँ और शबनम की लम्बी कहानी सुनाकर लेखक द्विविध रूप से अपना इष्ट-साधन करता है—शबनम की कहानी से तो वह वेश्या-समस्या पर प्रकाश डालता है, और गूजरों द्वारा गाला की माँ के अपहरण की कथा से गूजरों के रक्त में भी संकरत्व की दीर्घ काल से चली आती परंपरा का निर्देश देता है। किशोरी-निरञ्जन और यमुना, विजय तथा मङ्गल को लेकर चलनेवाली मूल कथा की दो धाराएँ यद्यपि बराबर समानान्तर बहती रहती हैं, पर बीच-बीच में अनेक बार इनका परस्पर संगम भी होता चलता है, और फिर से विलग होकर भी ये दूर नहीं जा पातीं। गोस्वामी जी की कथा से तो मूल और प्रासंगिक सब कथाएँ पूर्ण रूप से एक दूसरी के साथ गूँथ दी गई हैं।

तात्पर्य यह कि कंकाल की कथावस्तु में अनावश्यक रूप से आया हुआ, प्रवाह को अवरोध देनेवाला कोई भी स्थल नहीं है। वस्तु-चयन, उसकी संघटना और क्रम-विन्यास आदि अत्यन्त कलात्मकता से सुनियोजित हैं। प्रेमचन्द के अधिकांश उपन्यासों की कथावस्तु-जैसा ढीलापन,

अनावश्यक विस्तार और मूल एवं अवान्तर कथाओं के बीच पड़ी हुई चौड़ी दरार, 'कंकाल' में नहीं दिखाई पड़ती। जो कुछ भी है, सुसंगठित है।

'कंकाल' की कथावस्तु में यदि खटकने वाली कोई वस्तु है तो यही कि इसके संयोजन में आकस्मिकता और संयोगों का अत्यधिक सहारा लिया गया है। समस्त कथावस्तु का सेतु मूलतः इन्हीं दो स्तम्भों पर आधृत है। किशोरी का निरंजन से संयोग, घंटी और मंगल का वर्षों से खोई अपनी माताओं से मिलना, तारा के जहाँ कहीं भी जाने पर मंगल का वहाँ जा पहुँचना, यमुना का अपने त्यक्त पुत्र से पुनः संयोग आदि, किंवा प्रायः सभी कथाएँ उदाहरणस्वरूप ली जा सकती हैं। लेखक की कला-कुशलता से ये तत्व खटकने वाले दोष के रूप में न प्रकट होकर भले ही रोचकता की अभिवृद्धि में सहायक होते हों, पर इनसे उपन्यास की स्वाविकता पर आँच आती है।

चरित्र—चरित्र-चित्रण उपन्यास का एक अत्यधिक महत्वपूर्ण अङ्ग है। पर चरित्र विवेचन में सर्वप्रथम यह प्रश्न उठता है कि क्या उपन्यासकार अपने पात्रों के निर्माण में सर्वथा स्वतन्त्र होता है? अथवा वह 'निर्माण' करता भी है या नहीं? एलिजाबेथ बावेन का कथन है कि लेखक चरित्रों का 'निर्माण' नहीं करता वरन् उनका 'संचालन' करता है।[1] किन्तु वास्तव में उनके संचालन में भी उसे पूर्ण स्वतंत्रता नहीं रहती। "कुशल कलाकार के चरित्र स्वयं शतरंज के मुहरे न होकर सप्राण व्यक्ति की तरह होते हैं।...यह संभव है कि लेखक किसी चरित्र के सहारे जीवन के किसी आदर्श का संकेत दे दे, परन्तु प्रूफरीडर की तरह वह चरित्रों

1—'Notes on Writing a Novel'—"One can not make characters, only marionettes."

के स्वाधीन जीवन को संशोधित करते चलने का अधिकार नहीं रखता।"[१] इसीलिए एलेक्सी ताल्सताय कहा करते थे कि अगले ही परिच्छेद में उनके पात्रों की परिस्थिति कैसी, कितनी बदल जायगी यह वे स्वयं नहीं जानते।

वास्तव में लेखक का किसी पूर्वनिश्चित योजना से स्वतन्त्र रहकर पात्रों को इस प्रकार के स्वाभाविक विकास का अवसर देना कृति को अत्यन्त महत्वपूर्ण बना देता है, किन्तु जीवन के यथार्थ अंकन के साथ-साथ किसी समस्या या जीवन के प्रति किसी मौलिक दृष्टिकोण-विशेष को लेकर चलनेवाला कलाकार, अपने पात्रों को स्वेच्छाचार के लिए इतनी स्वतंत्रता नहीं दे सकता। वह यह दावा नहीं कर सकता कि वह अपने चरित्रों का नियामक नहीं, उनका अनुकरणकर्त्ता है। इसके बदले स्थान-स्थान पर वह उन्हें नियंत्रित करता है और विकास-मार्ग में चौराहों की स्थिति आने पर अपने इच्छित मोड़ पर मोड़ता भी चलता है। अधिक से अधिक उसका इतना ही दावा हो सकता है कि नियंत्रण में रखकर भी उसने अपने पात्रों को मशीन का पुर्जा नहीं बना दिया है, उनकी जीवनी-शक्ति को कुंठित नहीं किया है और उनके ऊपर उसका अनुशासन-अनुशासन होकर भी पिता के नियन्त्रण के समान स्नेह-संवलित तथा उदार रहा है। 'कंकाल' भी एक विचार प्रधान यथार्थवादी उपन्यास है, अतः इसके लेखक का भी अधिक से अधिक अपने चरित्रों के बारे में यही दावा हो सकता है। उन्हें इच्छित स्वतन्त्रता न देकर भी, वह कहीं उनके प्रति निर्मम नहीं हुआ है। उनके जीवन और व्यक्तित्व के विकास का उसने सर्वत्र ध्यान रखा है।

'कंकाल' में विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व करनेवाले पात्र भी हैं,

---

१—इल्या एहरेन्बर्ग–'ज्ञानोदय' (कलकत्ता), जुलाई सन् १९५५, से उद्धृत।

अपना व्यक्तिगत वैलक्षण्य रखनेवाले पात्र भी हैं। स्त्री और पुरुष दोनों प्रकार के पात्रों में यह विभाग किया जा सकता है। यह भी स्मरणीय है कि कुछ पात्र केवल अपने वर्ग के प्रतिनिधि मात्र हैं, कुछ में वर्गगत विशेषताओं के स्थान पर उनका अपना व्यक्तित्व ही सब कुछ है और कुछ में दोनों का समावेश है—वे अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हुए भी अपनी निज की विशिष्टताओं से युक्त हैं। उदाहरणार्थ पुरुष पात्रों में देवनिरञ्जन, पादरी जान, श्रीचन्द, बदन और बहुत अंशों में गोस्वामी जी भी अपने-अपने वर्ग के प्रतीक रूप में चित्रित हैं। निरञ्जन ढोंगी मठाधीशों का, पादरी जान अंधविश्वासी ईसाई पादरी-वर्ग का, श्रीचंद अर्थदास व्यापारी-वर्ग का, बदन क्रूर और दुस्साहसी डाकुओं का और कृष्णशरण गोस्वामी सनातन धर्म के सच्चे स्वरूप का प्रतिनिधित्व करनेवाले पात्र हैं। ऐसे पात्रों के अंकन में कला से अधिक लेखक के व्यापक अनुभव एवं उसकी सूक्ष्मदर्शिता की अपेक्षा होती है। प्रसाद में इनकी कमी नहीं रही है, इन पात्रों का सफल चित्रण इस बात का पूरा साक्ष्य देता है। निरञ्जन और बदन में वर्गगत गुणों के साथ-साथ कुछ अपनी विशेषताएँ भी हैं।

मंगल और विजय अपनी वैयक्तिक विशिष्टताएँ रखने वाले पुरुष पात्र हैं। विलक्षणता प्राप्त पात्रों के चित्रांकन में लेखक के व्यापक अनुभव और सूक्ष्मदर्शिता के साथ-साथ, उसकी महती संवेदनशीलता एवं कलाकुशलता की अपेक्षा होती है। दो पात्रों को एक ही अथवा भिन्न-भिन्न दिशाओं में अग्रसर करके साम्य और विरोध के आधार पर उनका चित्रांकन करने से चित्रण में कुछ विशेष भास्वरता आ जाती है। प्रसाद ने अपने सम्पूर्ण साहित्य में चरित्रांकन की इस पद्धति को अपनाया है। उनके नाटकों में प्राय: एक पुरुष पात्र जीवन के सत् पक्ष को लेकर आगे बढ़ता है, दूसरा अपनी सम्पूर्ण सत्ता के साथ उसका प्रतिरोध करता है। स्त्री पात्रों में एक नारी के त्यागपूर्ण गरिमामय रूप

का प्रतिनिधित्व करती हुई अपने व्यक्तित्व का विकास करती दिखाई पड़ती है, और कोई दूसरी उसके भोग-पक्ष को लेकर अपना निर्माण करती है। 'कंकाल' के मंगल और विजय का चरित्र-चित्रण भी बहुत कुछ उसी परम्परा पर हुआ है। किन्तु स्मरणीय है कि यहाँ दोनों के चित्रण का आधार, सत्-असत रूप में भिन्न-भिन्न न होकर लगभग एक ही है।

विजय अपने पूर्णांश में विद्रोही है। वह समाज की रूढ़ियों, धर्म के आडम्बरों और व्यक्ति को बाँधने वाले दोनों के कठोर विधानों का उग्र प्रतिरोध करता है। इसके विरुद्ध मङ्गल की नीति समझौते की है। प्रारम्भ में वह आर्यसमाज का इसलिए समर्थन नहीं करता कि उसकी नीति हिन्दू धर्म में आवश्यकता से अधिक काट-छाँट करने की है, पर वह उसमें कुछ थोड़े-से संशोधनों की ही आवश्यकता समझता है। दूसरी ओर, विजय का प्रथम तो धर्म-कर्म और ईश्वर में विश्वास ही नहीं, किन्तु समाज और धर्म की वर्तमान स्थिति को देखते हुए वह आमूल-चूड़ परिवर्तन का पक्षपाती है। सत्प्रेरणा से तारा का उद्धार करने जाकर जब मंगल का पतन हो जाता है, और तारा को गर्भिणी अवस्था में छोड़कर भागने पर अपने समाजोद्धार के प्रयत्न में भी जब वह विफल-मनोरथ ही होता है, तो उसका ध्यान नियति और दुर्भाग्य की ओर जाता है—"क्या मेरी नियति इतनी कठोर है कि मुझे कभी चैन न लेने देगी...यह किसकी अज्ञात प्रेरणा है? मेरे दुर्भाग्य की?"[१] वह एक बार परिताप और वेदना से तड़प उठता है। दूसरी ओर विजय, घंटी के साथ अनुचित व्यवहार करने पर किशोरी की फटकार का उत्तर देते हुए कहता है, "मैं अपने कर्मों पर हँसता हूँ, लज्जित नहीं होता।"[२] आरंभ

१—'कंकाल', पृ० २१६।

२—वही, पृ० ११८।

में दोनों ही सदाचारी और निश्छलहृदय के रूप में सामने आते हैं। पर आगे चलकर मंगल अपनी वैयक्तिक दुर्बलताओं को आदर्श की ओट में छिपा लेता है, आत्म-सुधार में अन्त तक असफल रहकर भी वह समाज-सुधार का नेता बन जाता है। दूसरी ओर स्वयं अनावृत रहकर समाज को अनावृत रूप में देखने की अपनी आदत, और किसी भी परिस्थिति में घुटने टेककर रूढ़ियों और परंपराओं के सम्मुख समर्पण न करने की अपनी टेक के कारण विजय सदैव असफल ही होता जाता है। मंगल एक मूक नारी के जीवन को सर्वांशतः मिटाकर भी, गाला के साथ अपनी सुख की गृहस्थी बसा लेता है। पर विजय यमुना द्वारा प्रेम-प्रस्ताव करने पर ठुकराया जाकर, यद्यपि अधिकांश में यौवनान्माद तथा कुछ कर्तव्येच्छा से प्रेरित होकर, घंटी को कुछ काल के लिए अपनाता है पर वह यमुना को फिर भी भूल नहीं पाता। यमुना के कहने पर घंटी के साथ विवाह-सम्बन्ध जोड़ते-जोड़ते वह रुक जाता है। उसी के आग्रह पर खून करके भागना न चाहकर भी भाग जाता है। यमुना के ही प्रेमवश बदन के गाला के साथ विवाह कर सुख पूर्वक रहने के प्रस्ताव को ठुकरा देता है, अदालत में जाकर खून का अभियोग स्वीकार करता है और अन्त में उसकी 'बहिन का स्नेह' पाने की चिर लालसा को पूर्ण कर उसे भाई का स्नेह पदान करते हुए, 'बहिन' कहकर पुकारता है। उसे भीख तक माँगनी पड़ती है।

उपन्यास के अन्त तक मङ्गल के बारे में यमुना की सङ्कल्प-विकल्प भरी जिज्ञासा का समाधान नहीं मिल पाता कि, "मङ्गल पवित्रता और आलोक से घिरा हुआ पाप है कि दुर्बलताओं में लिपटा हुआ एक दृढ़ सत्य?"[१] उसकी सदिच्छाएँ और उच्चादर्श उसे देवत्व की ओर खींचते हैं, पर उसकी सहज दुर्बलताएँ उसे सामान्य मानव से भी नीचे ठेल

१—'कंकाल', पृ० १०८।

देती है। विजय की दुर्बलता में भी दृढ़ इच्छा-शक्ति है। भूखों मरते हुए भी समाज के कोढ़ श्रीचन्द की रोटी खाने से वह हाथ खींच लेता है। तारा के साथ अपना भाई होने का सम्बन्ध जानकर उसे हार्दिक परिताप होता है और नास्तिक एवं विद्रोही विजय, उसके साथ पतित होने से बचाने वाले भगवान के प्रति सर्वात्मना समर्पण करके दम तोड़ देता है। समाज, धर्म और मङ्गल की छद्‌मभरी सफलता के सम्मुख उसकी जीवनव्यापी विफलता, तथा अंततः उसका निराश्रित 'कंकाल' एक प्रश्न बनकर लटकता रह जाता है कि, क्या उच्छृङ्खल विजय की विफलता वास्तव में विजय की ही विफलता है?

स्त्री पात्रों में प्रसाद को पुरुष पात्रों की अपेक्षा सर्वत्र अधिक सफलता मिली है—नाटकों में भी, कहानियों में भी, उपन्यासों में भी। उनकी नारी-विषयक अपनी कुछ आदर्श मान्यताएँ थीं और उनके साहित्य में भिन्न-भिन्न चरित्रों में वे मोहक रूप में व्यक्त हुई हैं। 'कंकाल' में किशोरी, रामा, नन्दो, लतिका आदि नारी-जीवन के विविध पक्षों का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्र हैं। किशोरी में कभी नारी का मातृपक्ष प्रबल हो उठता है, कभी उसका भोग-पक्ष मातृत्व को आक्रांत कर लेता है। किशोरी के व्यक्तित्व में नारी-जीवन के इन दो पक्षों का चित्रांकन बड़े मोहक और सजीव रूप में हुआ है। सरला में मातृत्व का बड़ा सुकोमल पक्ष व्यञ्जित हुआ है। विजय को समझाते हुए कहे गये उसके शब्द—"कलेजा रोने लगता है, हृदय कचौटने लगता है, आँखें छटपटा कर उसे देखने के लिए बाहर निकलने लगती हैं, उत्कंठा साँस बन कर दौड़ने लगती है। पुत्र का स्नेह बड़ा पागल स्नेह है, विजय! स्त्रियाँ ही स्नेह की विचारक हैं, पति के प्रेम और पुत्र के स्नेह में क्या अन्तर है यह उनको ही विदित है।"—उसके क्षुधित मातृत्व का परिचय देते हैं। गाला सरला किन्तु मानवती युवती है। उसमें मानवीयता का सहज रूप दिखाई पड़ता है। एक बार 'नये' की ओर आकृष्ट होती है पर उसके

विवाह-सम्बन्ध अस्वीकार करने पर मङ्गल को स्वीकार लेती है। उसके व्यक्तित्व में सरलता, आत्मसम्मान और उत्कट कर्तव्यपरायण प्रेम आदि आकर्षक गुण हैं।

उपन्यास में घंटी और तारा का व्यक्तित्व नारी पात्रों में अत्यन्त निपुणता से चित्रांकित हुआ है। अपने वर्ग की सामान्य विशेषताओं से युक्त होते हुए भी, इनमें अपना व्यक्तिगत वैशिष्ट्य प्रभूत मात्रा में विद्यमान है। व्यक्तित्व की महत्ता और गरिमा की दृष्टि से तो तारा घंटी से बहुत ही सशक्त और महिमावती है, पर जहाँ तक दोनों के व्यक्तित्व के कलात्मक चित्रण का प्रश्न है, घंटी के चित्रांकन में लेखक की कला का विशेष कौशल व्यक्त हुआ है। जीवन के प्रभात में ही प्रवंचित हो तारा से गुलोनार रूप में लांछिता बनकर सामने आने पर भी, तारा अनाघ्रात कुसुम के समान पवित्र रहती है और जीवन के संघर्षों में बार-बार पराजित तथा लांछित होकर भी अन्त तक "पवित्र देवमंदिर की दीप-शिखा-सी ज्योतिर्मयी"[1] बनी रहती है। पर बालविधवा होकर भी वृन्दावन की गलियों में उन्मुक्त विचरण करके कान्ह की वंशी का नाद सुनती हुई, स्वयं हँस-हँस कर औरों को हँसाने वाली उल्लासमयी घंटी के जीवन का उतार-चढ़ाव भी कम मार्मिक नहीं। ऊपर से हँसोड़ और विलासवती दिखाई पड़नेवाली घंटी की आन्तरिक मनस्विता ही उसके व्यक्तित्व का मोहक गुण है और इसी गुण के कारण दूसरे खंड में आकर और उपन्यास का साधारण चरित्र होकर भी, वह 'कंकाल' का एक सजीव आकर्षण बन गई है। इसके विरुद्ध तारा, गुलेनार, या यमुना बाहर-भीतर सर्वत्र एकरूप है—कोमल, विश्वासमयी, अश्रु-छलछल, त्यागशीला, अतिशय सहिष्णु और पावन। वह देवी नहीं मानवी ही है, पर अपनी मानवीयता में पूर्ण विकसित और उद्दीप्त। अपने उद्धारकर्ता मंगल के त्याग और उसकी

१—'कंकाल'—पृ० १५०।

कर्मठता पर मुग्ध हो सहज मानवीय भाव से प्रेरित होकर वह स्वयं आत्मसमर्पण करती है. उसके द्वारा अकुलीना की सन्तान होने के अपराध से गर्भिणी अवस्था में ठुकराई जाती है, बार-बार मरना चाहकर भी मर नहीं पाती. पर मंगल और समाज दोनों की कृतघ्नता देखकर भी वह उनके अत्याचारों को मूक भाव से सहन करती है और जीवन भर दोनों के प्रति सद्भाव रखकर दोनों से प्रेम करती रहती है. वह इतनी सरला है कि विद्रोह की बात भी नहीं सोच सकती। उसमें स्नेह-शीला माँ का मातृत्व, पतिपरायणा कुलवधू का सतीत्व, साध्वी बहन की निश्छल सेवा और स्वामिभक्त दासी की कर्तव्यपरायणता का अद्भुत योग है। वस्तुतः प्रसाद-साहित्य की सुरमा, मल्लिका, देवसेना, विजया, अलका, कल्याणी, मालविका, कोमा, चम्पा, मधूलिका, मालवती और तितली आदि सुकुमार, सुन्दर, महिमावती नारी-कृतियों में घंटी और तारा का स्थान अत्युच्च है, दोनों ही अपने-अपने रूप में अनुपम हैं।

संवाद—संवाद के मुख्यतः दो ही काम होते हैं, कथानक को गति देना और चरित्रों की छिपी हुई विशेषताओं एवं भंगिमाओं का उद्घाटन करना। इनसे दूर रहकर विशुद्ध विचार-विवेचन के लिए आये हुए संवाद कलापूर्ण नहीं कहे जा सकते। विचार-विवेचन बुरा नहीं, पर इसके लिए आयोजित संवादों में भी, सम्बन्धित पात्रों की चरित्रगत विशिष्टताओं को अभिव्यंजित करने की क्षमता होनी चाहिए। स्वरूप की दृष्टि से संभाषण जितने ही छोटे, स्वाभाविक, गतिपूर्ण और सुष्ठु हों उतने ही कलापूर्ण माने जायँगे। अनावश्यक भाषा या भाव का अलंकरण भूषण नहीं दूषण बन जाता है। 'कंकाल' में यत्र-तत्र लेखक की कवि-प्रकृति और चिन्तनशीलता के कारण कथोपकथन भाव या विचार से बोझिल हो गये हैं, पर प्रायः लेखक ने अपनी इन प्रवृत्तियों को संयमित रखने का प्रयास किया है। ध्यान देने की बात है कि 'कंकाल' में अनावश्यक रूप से विस्तृत संवादों के स्थल बहुत कम आये हैं। गोस्वामी, मङ्गल या

निरंजन के भाषणों को लम्बा संवाद नहीं कहा जा सकता। इस दोष से बचने के लिए ही लेखक ने उन्हें भाषण का रूप दे दिया है। 'गोदान' के मेहता और मालती के-से लम्बे, विचारात्मक, नीरस संवादों की अवतारणा 'कंकाल' में कहीं नहीं है।

शैली—सैमुएल बटलर के अनुसार शैली कैसी हो, इस विषय पर सोचना ही अपने भावों को उलझाना है।[1] एच० जी० वेल्स का भी अपनी शैली के विषय में कहना है कि मैं उतने ही सहज और स्वाभाविक ढंग से लिखता हूँ जितने सहज और स्वाभाविक ढंग से चलता हूँ, क्योंकि दोनों ही अवस्थाओं में मेरा कुछ गंतव्य होता है और उस तक पहुँचने का यही सरलतम उपाय है।[2] वास्तव में उपन्यास के विभिन्न तत्वों—कथावस्तु, चरित्र और संवाद आदि के जैसे-तैसे मिश्रित रूप को ही उपन्यास नहीं कहा जा सकता। ये तत्व तो प्राचीन कथा-आख्यायिकाओं में भी रहते ही थे। इनको एक विशिष्ट ढंग से नियोजित करने की कला ही उपन्यास की अपनी विभेदक कला है। उक्त कथाओं में लेखक या उसके विचार ही मुख्य होते थे, पात्र और उनका व्यक्तित्व अथवा कथा के अन्य तत्व उनके द्वारा कठपुतली के समान नचाये जाते थे। उनमें पाठक का साधरणीकरण सीधे पात्र से न होकर लेखक के माध्यम से तथा उससे भी परोक्ष उनके कथित व्यापारों से होता था। किन्तु हिन्दी उपन्यासों में प्रेमचन्द और प्रसाद के अवतरण से उक्त स्थिति में परिवर्तन हुआ। अपने उपन्यासों मे ये लोग उतने ओझल और तटस्थ तो न हो सके, जैसा कि लेखक के तटस्थ दृष्टिकोण के बारे में फ्लावेअर का कहना था कि, "कलाकार की स्थिति अपनी कृति में उसी प्रकार होनी चाहिए, जैसी ईश्वर की उसकी सृष्टि में है—सर्वत्र उपस्थित, किन्तु

१—'Note-books'

२—'Experiment in Autobiography.'

सर्वत्र ओझल",[1] परन्तु इन दोनों कलाकारों ने इतना अवश्य किया कि उपन्यास को चमत्कार, कौतूहल और प्रेमाख्यानक से, जीवन और जीवन के संघर्षों का चित्र बनाया।

हिन्दी उपन्यासों में शैली के क्षेत्र में उक्त सम्मिलित योगदान के अतिरिक्त प्रसाद का दूसरा जो महत्वपूर्ण कर्तृत्व है, वह है उनका रूप-चित्रण, परिस्थिति-अंकन और बाह्य प्रकृति के साथ मनोवैज्ञानिक ढंग से आन्तर भावों को संग्रथित कर निरूपित करने की उनकी अपनी कला। 'कंकाल' में ऐसे स्थल बहुत अधिक हैं। इनकी अवतारणा से वर्णन में वास्तविकता और यथावतता आती जाती है। उदाहरणार्थ उद्विग्न-मना यमुना की प्रकृति के परिपार्श्व में चित्रित मनःस्थिति का कितना सजीव अंकन है—"रजनी के रत्नों से खेलने बटोरने के लिए प्राची के प्रांगण में उषा आई और इधर यमुना उपवन में फूल चुनने के लिए पहुँची। प्रभात की फीकी चाँदनी में बचे हुए एक-दो नक्षत्र अपने को दक्षिण पवन के झोंकों में विलीन कर देना चाहते हैं।...गङ्गा के मुक्त वक्षस्थल पर घूमती हुई मन्दिरों के खुलने की घंटों की प्रतिध्वनि, प्रभात की शांत निस्तब्धता में एक संगीत को झनकार उत्पन्न कर रही थी। अन्धकार और आलोक की सीमा बनी हुई युवती के रूप को अस्त होने वाला पीला चन्द्रमा और लाली फेंकने वाली उषा अभी स्पष्ट न दिखला सकी थी कि वह अपनी डाली फूलों से भर चुकी और उस कड़ी सरदी में भी यमुना मालती कुंज की पत्थर की चौकी पर बैठी हुई दूर से आते हुए शहनाई के मधुर स्वर में अपनी हृदय-तंत्री मिला रही थी।"[2]

घंटी का रूप-चित्र भी कितना यथार्थमूलक तथा स्वाभाविक है—

१—वाटर एलेन द्वारा संपादित 'Writers On Writing' से उद्धृत।

२—'कंकाल', पृ० ८५–८६।

"घंटी के कपोलों में हँसते समय गढ़े पड़ जाते थे। भोली मतवाली आँखें गोपियों के छाया-चित्र उतारतीं, और उभरती हुई वयस-संधि से उसकी चञ्चलता सदैव छेड़-छाड़ करती रहती। वह एक क्षण के लिए भी स्थिर न रहती—कभी अँगड़ाई लेती तो कभी अपनी उँगलियाँ चटकाती। आँखें लज्जा का अभिनय करके जब पलकों की आड़ में छिप जातीं, तब भी भौंहें चला करतीं।"[1]

इस प्रकार के बिम्बात्मक रूप-चित्रों और मानसिक उहापोहों से युक्त परिस्थितियों के समावेश से वर्णन, चित्रण, संकेत और वातावरण-निर्माण में अत्यन्त मार्मिकता आ गई है।

भाषा की सजावट के मोह को भी लेखक ने 'कंकाल' में बहुत कुछ छोड़ दिया है। भावों के अनुसार यद्यपि उसका स्वरूप परिस्थिति और पात्र के भेद से बदलता गया है, उसमें एकरूपता नहीं आ सकी है, फिर भी वह व्यावहारिक है। कहीं-कहीं भाषा में गीतात्मकता आ गई है। ऐसे स्थल वहीं आये हैं जहाँ भावोच्छ्वास के साथ ही भाषा भी उच्छ्वसित हो गई है। उदाहरणार्थ—"हाड़-माँस के वास्तविक जीवन का सत्य, यौवन, आने पर उसका आना न जानकर बुलाने की धुन रहती है। जो चले जाने पर अनुभूत होता है—वह यौवन, धीवर के लहरीले जाल में फँसे हुए स्निग्ध मत्स्य-सा तड़फड़ाने वाला यौवन, आसन से दबा हुआ पंचवर्षीय चपल तुरङ्ग के समान पृथ्वी को कुरेदने वाला त्वरापूर्ण यौवन अधिक न संभाल सका, विजय ने घंटी को अपनी मांसल भुजाओं में लपेट लिया...।"[2] सामान्यतः भाषा का यह रूप नहीं व्यवहृत हुआ है। 'कंकाल' में सामान्य रूप से व्यवहृत भाषा का उदाहरण यह है—"नहीं चाची, अब वह दिन चाहे लौट आयें, पर वह हृदय कहाँ

१—'कंकाल', पृ० १०२।
२—'कंकाल', पृ० २७७।

से आवेगा ! मंगल को दुख पहुँचा कर आघात दे सकूँगी, पर अपने लिए सुख कहाँ से लाऊँगी ? चाची, तुम मेरी दुखों की साक्षी हो, मैंने केवल एक अपराध किया है—वह यही कि प्रेम करते समय साक्षी नहीं इकट्ठा कर लिया था और कुछ मन्त्रों से कुछ लोगों की जीभ पर उसका उल्लेख नहीं करा लिया था।"[1] इस प्रकार की भाषा में अपनापन, सहज प्रवाह और ऐसी ऋजुता है जो 'कंकाल' के यथार्थ-चित्रण को यथातथ् बनाने में मदद देती है।

❀

२—'कंकाल', पृ० ११६ ।

आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की परंपरा और 'तितली'

प्रेमचन्द और आदर्शोन्मुख यथार्थवाद

सामान्य रूप से साहित्य में यथार्थवाद लेखक के उस दृष्टिकोण को कहते हैं, जिसमें वह अपने व्यक्तित्व को तटस्थ रखकर वस्तुगत रूप में जीवन और जगत का दर्शन करता है। मोपासाँ के शब्दों में यथार्थवादी कलाकार का सारा आदर्श और लक्ष्य एक वाक्य में समेटने पर यही है—'पूर्ण सत्य और केवल सत्य।'[1] ज़ोला के अनुसार तो कल्पना का बहिष्कार ही यथार्थवाद है। साथ ही, उनके मत से रोमांस, भावुकता, प्रच्छन्न आध्यात्मिक सत्य आदि सब तत्व यथार्थवाद की सीमा के बाहर के हैं। किन्तु यथार्थवाद के इस दृष्टिकोण को लेकर सदैव ही आदर्शवादियों और यथार्थवादियों में संघर्ष होता आया है। हावेल्स का कथन है कि ईश्वर की बनाई कोई चीज भी उपेक्ष्य नहीं। यथार्थवादी मानव जीवन की किसी वस्तु को अपने जीवन से बाहर की कह नहीं सकता।[2] और वास्तव में प्रथम तो जीवन को पूर्णतः निरपेक्ष दृष्टि से देखने का यथार्थवादियों का आदर्श आकाश-कुसुमवत् है, दूसरे उनके द्वारा गृहीत जीवन, पूर्ण जीवन नहीं, जीवन का एक अंश मात्र है। यदि थोड़ी देर के लिए उनकी निरपेक्षता को स्वीकार कर जीवन के वस्तुगत चित्रण को

१—'पियरे एट जीन' की भूमिका—"The whole truth and nothing but the truth"

२—हावेल्स : 'Criticism And Fiction'

शक्य मान भी लिया जाय, तो उसकी उपयोगिता क्या होगी ? "यह मानव स्वभाव है कि वह जिन छल-छद्मों तथा कुरुचिपूर्ण परिस्थितियों से स्वयं घिरा रहता है, उनका बार-बार विवरण नहीं सुनना चाहता। वह थोड़ी देर के लिए ऐसे संसार में उड़कर पहुँच जाना चाहता है, जहाँ उसके चित्त को कुत्सित भावों से नजात मिले, वह भूल जाये कि मैं चिन्ताओं के बन्धन में पड़ा हुआ हूँ, जहाँ उसे सज्जन, सहृदय, उदार प्राणियों के दर्शन हों, जहाँ छल और कपट, विरोध और वैमनस्य का ऐसा प्राधान्य न हो।"[1] आदर्शोन्मुख यथार्थवादी मानव की इसी प्रवृत्ति को दृष्टिगत रख, जीवन के प्रति यथाशक्य वस्तुगत दृष्टि रखते हुए भी उसके दूसरे पक्ष को, जो पूर्णतः श्याम नहीं उज्ज्वल भी है, भूल नहीं पाता। वह आदर्श और यथार्थ को संग्रथित करके ग्रहण करता है।

प्रेमचन्द जीवन और जगत के प्रति यही स्वस्थ दृष्टिकोण लेकर आये। पर उन्होंने 'यथार्थ' और 'आदर्श' दोनों के संतुलित रूप को ही ग्रहण किया। न तो यथार्थवाद के नाम पर उन्होंने समाज का कूड़ा-करकट, नग्न, विकृत और गलित जीवन-चित्र ही उतारा और न कोरे आदर्शवाद के अतिरेक में आकर 'युटोपिया' की ही रचना की। उन्होंने अपने सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति सावधान रहते हुए, सामाजिक चेतना के साथ अपनी कला का सम्बन्ध जोड़ने और उसके अच्छे-बुरे प्रभाव का ध्यान रखते हुए, अपने उपन्यासों में समाज को एक (या अनेक) सत्सन्देश देने का प्रयास किया। 'गोदान' के पूर्व के अपने सभी उपन्यासों में, समाज के उत्पीड़न और व्यक्ति के पतन का चित्र उपस्थित करके ही वह नहीं रुक गये हैं, वरन् दोनों की विकृतियों के निवारणार्थ अपनी सामर्थ्यानुसार कहीं 'सेवासदन' कहीं 'प्रेमाश्रम' और कहीं 'रंगभूमि' का आदर्श भी प्रस्तुत करते गये हैं।

१—प्रेमचन्द : 'कुछ विचार'—'उपन्यास' शीर्षक लेख से।

अपनी यथार्थप्रियता के नाते तो उन्होंने अपने समाज और जीवन के तल में प्रवेश कर उसके विभिन्न वर्गों और स्तरों की व्यावहारिक समस्याओं, प्रवृत्तियों एवं परम्पराओं को चित्रांकित किया। साथ ही अपनी आदर्शोन्मुखता के नाते उन समस्याओं को उभार कर यों ही नहीं छोड़ दिया, अपितु अपनी दृष्टि से संगत समाधानों को सामने रखकर प्रायोगिक रूप में उनकी सफलता भी चित्रित की। ईश्वर है या नहीं इस विवाद से तटस्थ रह कर पूर्ण मानवतावादी विचारक की दृष्टि से उन्होंने समकालीन जीवन को देखा। तत्कालीन समाज में व्याप्त विधवा-समस्या, नारी-उत्थान की समस्या, वेश्या-समस्या, हिन्दू-मुसलिम साम्प्रदायिकता की समस्या, अछूतोद्धार की समस्या, दलित किसान और उत्पीड़क सामन्तशाही-ज़मींदारशाही की समस्या, तथा राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य-संग्राम की समस्या—आदि उनके उपन्यासों की मुख्य समस्याएँ रही हैं। 'सेवासदन' में युगों से ठुकराई जाने वाली वेश्याओं के उद्धारार्थ उन्होंने 'सेवासदन' का आदर्श सामने रखा। 'प्रेमाश्रम' में किसानों की दुरवस्था, जमींदारों के अत्याचार, पुलिस के घिनौने हथकंडे और वकीलों की लूट का वास्तविक रूप सामने रख, सबके समाधान रूप में उन्होंने प्रेमशङ्कर द्वारा 'प्रेमाश्रम' की स्थापना कराई। 'रंगभूमि' में भारतीय ग्रामीणों की स्थिति का और स्पष्ट चित्रण कर, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में आदर्श उपस्थित करनेवाले सूरदास, विनय तथा सोफिया जैसे धीरोदात्त चरित्रों की अवतारणा की। 'कायाकल्प' में तत्कालीन युग-जीवन की प्रमुख समस्या हिन्दू-मुसलिम-संघर्ष को सुलझाने की दृष्टि विशेष रही और 'निर्मला' में अनमेल विवाह के दुष्परिणामों को दिखाकर लेखक ने इसके निवारण का उपदेश दिया। 'गबन' में व्यक्ति-मानव की सहज दुर्बलताओं के चित्रण के साथ-साथ उसके भीतर छिपी हुई महती शक्ति का भी परिचय देते हुए, उन्होंने जालपा जैसी गरिमामयी नारी का निर्माण किया। 'कर्मभूमि' में राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य-युद्ध का जीवन्त चित्र उप-

स्थित करके सत्याग्रह में पुरुषों की अपेक्षा अधिक सफल संचालन करने वाली सुखदा, मुन्नी, रेणुकला, नैना और सकीना आदि नारियों को सामने रख, नारी-जागरण को आदर्श रूप में चित्रित किया। 'गोदान' में अपने सुधारों और समझौतावादी नीति से बहुत कुछ निराश हो जाने पर भी, पश्चिम की स्वच्छन्द नारी की प्रतीक मालती को त्यागमयी, सेवापरायण भारतीय नारी के रूप में ढालकर, उन्होंने अपने नारी-विषयक आदर्श की स्थापना की ही।

तात्पर्य यह कि यथार्थ और आदर्श के युगपत् चित्रण को ही प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों का लक्ष्य बनाया। वे मानवतावादी कलाकार थे और उनका विश्वास था कि मनुष्य की बुराई परिस्थितिजन्य होती है, दुर्बल और पतनशील होने पर भी दीर्घ काल की साधना के बाद अर्जित अपने मानवीय त्याग, तपस्या और आत्म संयम आदि सद्गुणों से वह सर्वथा खाली नहीं होता। अपने इन्हीं गुणों के कारण मनुष्य संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। इस मर्त्यलोक को वही सुखमय और शान्तिपूर्ण बना सकता है। अपने इसी विश्वास से प्रेरित हो, अपर लोक और ईश्वर की चिन्ता से मुक्त रहकर, इसी जगत म मानव को सुखी बनाने के लिए न्याय और शासन की उचित व्यवस्था एवं समुन्नत सामाजिक जीवन के प्रचार को उन्होंने अपना लक्ष्य बनाया। 'गोदान' के मेहता अपने जीवन का आदर्श बतलाते हुए जो शब्द कहते हैं, उनसे प्रेमचन्द का जीवन-सम्बन्धी अपना दृष्टिकोण भी बहुत-कुछ स्पष्ट हो जाता है—"मैं प्रकृति का पुजारी हूँ और मनुष्य को उसके प्राकृतिक रूप में देखना चाहता हूँ ... जीवन मेरे लिए आनन्दमय क्रीड़ा है, सरल, स्वच्छन्द, जहाँ कुत्सा, ईर्ष्या और जलन के लिए स्थान नहीं। मैं भूत की चिन्ता नहीं करता, भविष्य की परवा नहीं करता। मेरे लिए वर्तमान ही सब कुछ है। भविष्य की चिन्ता हमें कायर बना देती है। भूत का भार हमारी कमर तोड़ देता है। हममें जीवन की शक्ति इतनी कम है कि भूत और भविष्य में फैला

देने से वह और भी क्षीण हो जाती है। ... और जो यह ईश्वर और मोक्ष का चक्कर है, इस पर तो मुझे हँसी आती है। यह मोक्ष और उपासना अहंकार की पराकाष्ठा है जो हमारी मानवता को नष्ट किये डालती है। जहाँ जीवन है, क्रीड़ा है, चहक है, प्रेम है, वहीं ईश्वर है; और जीवन को सुखी बनाना ही उपासना है, मोक्ष है।"[1]

प्रेमचन्द के इस आदर्शोन्मुख यथार्थवाद से उनके युग (१६१६ ई० –१६३६ ई०) के प्रायः सभी लेखक प्रभावित हुए। 'कौशिक' और वृंदावनलाल वर्मा ने जीवन के प्रति इसी दृष्टिकोण को अपनाकर अपनी-अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कीं। जयशंकर प्रसाद भी अपने युग की इस महत्त्वपूर्ण धारा से अप्रभावित न रह सके। परन्तु उन्होंने इसे 'अपना' बनाकर स्वीकार किया। जिस प्रकार इतिहास और अतीतोन्मुखता के बारे में प्रेमचन्द से उनका बराबर मतभेद बना रहा, उसी प्रकार जीवन और जगत के प्रति, उनकी समस्याओं और समाधान के प्रति, प्रेमचन्द के समान केवल व्यावहारिक और वस्तुवादी दृष्टिकोण रखकर चलने से भी उनकी चिन्तनशील दार्शनिकता ने इनकार कर दिया।

'तितली' : विचारपक्ष एवं सामाजिक दृष्टिकोण

विद्वानों ने 'कंकाल' की अपेक्षा 'तितली' को प्रसाद की अधिक कलात्मक कृति स्वीकार किया है। वास्तव में 'कंकाल' का कार्य-क्षेत्र मध्यवर्ग के नागरिक जीवन—और उसमें भी धर्म और मठों से सम्बद्ध जीवन—तक ही सीमित था। इसी को धुरी बनाकर प्रसाद ने समाज में प्रवेश पानेवाली विकृतियों, रूढ़ संस्कारों और व्यक्ति-मानव पर अभिशाप रूप में पड़ने वाले इनके दुष्परिणामों को चित्रित किया। इसमें उनका ध्येय अपने समाज और संस्कृति पर छाये हुए मोटे आवरण को उघाड़कर उसके अन्तःनिविष्ट कल्मषों और कुसंस्कारों का उद्घाटन करना मात्र ही था।

१—'गोदान', पृ० ३०८-३०६।

ये कुसंस्कार, विकृतियाँ और समस्याएँ कालक्रम से कितनी दुर्निवार और असाध्य हो गई हैं, इसे सुस्पष्ट करने के उद्देश्य से उन्होंने इनके उन्मूलनार्थ प्रवृत्त कतिपय व्यक्तियों एवं संस्थाओं की विफलता भी चित्रित की।

किन्तु प्रसाद जी साहित्यकार के कर्तव्यों की इतिश्री समाज और जीवन की समस्याओं के यथातथ अंकन मात्र को ही नहीं समझते थे। उनकी दृष्टि में साहित्यकार का यह दृष्टिकोण उसे इतिहासकार बना देता है, क्योंकि यथार्थवाद इतिहास की सम्पत्ति है—ठीक उसी प्रकार जैसे अपनी सुधारवादी दृष्टि के कारण आदर्शवादी साहित्यकार धार्मिक प्रवचनकर्ता बन जाता है।[1] स्पष्ट है कि अपने उक्त प्रकार के कथन में 'यथार्थवाद' और 'आदर्शवाद' से उनका तात्पर्य दोनों वादों की अतिशयता से ही था। परन्तु सच्चे साहित्यकार के उत्तरदायित्व को वह इन वादों के घेरे से ऊँचा मानते थे। उनके मत से साहित्यकार न तो इतिहासकर्ता है और न धर्मशास्त्र-प्रणेता। इन दोनों के कर्तव्य स्वतन्त्र हैं। साहित्य इन दोनों की कमी को पूरा करने का काम करता है। साहित्य, समाज की वास्तविक स्थिति क्या है, इसको दिखाते हुए भी उसमें आदर्शवाद का सामञ्जस्य स्थिर करता है। दुःख-दग्ध जगत और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है।[2]

साहित्य-विषयक अपने इस महत्तर आदर्श के कारण 'कंकाल' के बाद कई कदम और चलकर 'तितली' के साथ वे नये रूप में सामने आये। विस्तार की दृष्टि से इसमें उन्होंने मध्यवर्ग के नगर-जीवन और मठों की दुनियाँ के साथ-साथ, निम्नवर्ग और ग्राम-जीवन की विभिन्न समस्याओं को भी अपनाया। दूसरी ओर, उद्देश्य की दृष्टि से समस्याओं तक ही अपने को सीमित न रखकर अपनी ओर से उनका समाधान भी

१—'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' (प्र० सं०), पृ० १४२।

२—वही, पृ० १४२।

उपस्थित किया। इस प्रकार, 'कंकाल' में यथार्थांकन करते हुए जहाँ अपने व्यक्तित्व को उन्होंने भरसक ओझल रखने का प्रयास किया था, 'तितली' में समस्या-चित्रण के उपरान्त समाधान-रूप में वह बार-बार उभर कर सामने आता गया है।

प्रेमचन्द युग में "उपन्यासों की सामाजिक चिन्ता का एक बहुत बड़ा भाग नारी-जीवन की विषमताओं और उसके विभिन्न प्रतिबन्धों से सम्बन्धित रहा है।"[१] 'तितली' में प्रसाद जी ने मूलरूप से नारी-समस्या को ही उठाया, किन्तु इसे विधवा-विवाह, अनमेल विवाह, दहेज और पर्दा-प्रथा आदि अत्यन्त स्थूल समस्याओं का रूप न देकर व्यापक एवं गम्भीर धरातल पर रखकर ही परखने का प्रयास किया। शैला और तितली दो नारी-पात्रों के माध्यम से उन्होंने एक नई किन्तु चिरपरिचित समस्या उपस्थित की कि, नारी-जीवन की सार्थकता अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व को बनाये रखकर पारिवारिक बन्धन को ठुकराते हुए, समाज-सेवा का व्रत धारण करने में है या गृहस्थी के भीतर रह कर प्रेम और श्रद्धा के केन्द्र पति के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का सम्यक निर्वाह करते हुए, समाज के रक्षण, निर्माण और विकास में योग देने में।[२] शैला भारतीय वातावरण से प्रभावित होकर भी अपने पाश्चात्य आदर्श के अनुसार पारिवारिक जीवन में पति से पृथक अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखते हुए चलना चाहती है, और गृहस्थी से दूर रह कर समाज-सेवा को अपना आदर्श बनाती है। इन्द्रदेव से विवाह करके भी वह इस सम्बन्ध को बन्धन समझती हुई कामना करती है कि, "किसी तरह मैं अपने को मुक्त

१—'आलोचना' : उपन्यास विशेषांक, डा० रामरतन भटनागर का लेख—'प्रेमचन्द युग : आदर्शोन्मुख यथार्थवाद'।

२—' 'तितली' : एक दृष्टि'—प्रो० विजयशंकर मल्ल ('आज', फरवरी १९५१ ई०)।

करके उनका भी (इन्द्रदेव का) छुटकारा करा सकता !'[1] दूसरी ओर तितली पारिवारिक जीवन में अपने को खोकर पतिप्राणा बन जाती है। वह श्रद्धामयी होकर गृहस्थी के प्रति अपने तथा अपने पति के युगपत् उत्तरदायित्वों का निर्वाह करती हुई, 'वियुक्त पति की प्रतीक्षा' में इस विश्वास से जीवित रहती है कि, यदि मेरा सत्य अविचल होगा तो वे अवश्य आवेंगे और तब 'मैं उनकी थाती उन्हें सौंपकर अपने दुख-पूर्ण जीवन से विश्राम लूँगी।' भारतीय नारी के इसी अटल विश्वास और उज्ज्वल आशा के भरोसे संसार के समस्त अत्याचारों से वह अनवरत संघर्ष करती रहती है, और अंततः अपने व्यक्तित्व से एक ऐसा उदात्त आदर्श उपस्थित करती है कि शैला भी उससे प्रभावित होकर अपना जीवन-क्रम बदल देती है। 'तितली' के व्यक्तित्व के माध्यम से नारी-जीवन का यह आदर्श उपस्थित कर जैसे लेखक मुकुन्दलाल के शब्दों में स्वयं बोल उठता है कि, "मैं तो गृहस्थ-नारी की मङ्गलमयी कृति का भक्त हूँ। वह इस साधारण सन्यास (समाज-सेवा के लिए सर्वस्व अर्पण) से भी दुष्कर और दम्भविहीन उपासना है।"[2]

नारी-विषयक उक्त मूल प्रश्न को सामाजिक जीवन के विस्तृत धरातल पर यथेष्ट फैलाव देकर उसी के प्रकाश में लेखक ने युग-जीवन की अन्य प्रमुख समस्याओं को भी परखा है। साथ ही उसके स्वचिन्तित समाधान कहीं व्यक्ति-जीवन की भूमिका पर व्यक्तित्व-निर्माण के रूप में, कहीं सामाजिक धरातल पर प्रायोगिक समाज-सुधार के रूप में, और कहीं-कहीं दार्शनिक चिन्ता एवं सैद्धान्तिक विचारोंके रूप में व्यक्त होते गये हैं।

१. सामाजिक जीवन की सबसे छोटी इकाई कुटुम्ब है। नवयुग के आर्थिक थपेड़ों से स्नेह और सहानुभूति के नीड़ कुटुम्ब में भी किस

१—'तितली', पृ० २५० ।

२—'तितली', १६८ ।

प्रकार धीरे-धीरे विदेशी कूटनीति प्रवेश पाती जा रही है, इन्द्रदेव के परिवार के चित्रण के द्वारा लेखक ने इस तथ्य को अत्यन्त कलात्मक ढंग से अंकित किया है। प्राचीन सम्मिलित कुटुम्ब का वह आर्थिक संगठन, जिसमें कुल का एक प्रमुख सबके मस्तिष्क का संचालन करता हुआ रुचि की समता का भार ठीक रखता था, क्यों धीरे-धीरे टूटता जा रहा है, इसके मूल में लेखक को हिन्दू समाज का 'खिचड़ी कानून' सर्व-प्रमुख कारण दिखाई पड़ता है। वह अनुभव करता है कि, "प्रत्येक प्राणी अपनी व्यक्तिगत चेतना का उदय होने पर एक कुटुम्ब में रहने के कारण अपने को प्रतिकूल परिस्थिति में देखता है।"[1] इस प्रकार की जर्जर कुटुम्ब-व्यवस्था में सबसे अधिक भयावह स्थिति नारियों की है। प्राचीन काल में जिस स्त्री-धन की कल्पना की गई थी, आज उसकी कैसी दुर्दशा हो रही है, प्रत्येक सम्मिलित कुटुम्ब किस प्रकार नारियों के लिए कारा-गार बन रहे हैं, इसका विशद रूप से चित्रण करते हुए लेखक कहता है, "स्त्रियों को जब उनकी आर्थिक पराधीनता के कारण हम स्नेह करने के लिए विवश करते हैं, तब उनके मन में विद्रोह की सृष्टि भी स्वाभाविक है। आज प्रत्येक कुटुम्ब उनके इस स्नेह और विद्रोह के द्वन्द्व से जर्जर और असंगठित है। हमारा सम्मिलित कुटुम्ब उनकी इस आर्थिक परा-धीनता की अनिवार्य सफलता है। उन्हें चिर काल से वंचित एक कुटुम्ब के आर्थिक संगठन को ध्वस्त करने के लिए दिन-रात चुनौती मिलती रहती है। जिस कुल से वे आती हैं उस पर से ममता हटती नहीं, यहाँ भी अधिकार की कोई संभावना न देखकर, वे सदा घूमने वाले गृहहीन अपराधी जाति की तरह प्रत्येक कौटुम्बिक शासन को अव्यवस्थित करने में लग जाती है।"[2] घर-घर में छाये हुए नारी-विक्षोभ का यह कच्चा-चिट्ठा

१—'तितली', १०६।

२—'तितली', पृ० १४८।

सामने रखकर वह पूछता है—यह किसका अपराध है? अपराध किसी का भी हो, किन्तु ऐसी स्थिति में जब कि स्त्री को स्वावलम्ब से हटाकर उसके भाव और अभाव का दायित्व पुरुष ने अपने हाथ में ले लिया है, नारी की कौटुम्बिक शांति का केवल एक उपाय है, जिसे मुकुन्दलाल के शब्दों में लेखक सामने रखता है—"स्त्री के लिए सुरक्षित धन की व्यवस्था होनी चाहिए।" भले ही लेखक का यह सुझाव सर्वग्राह्य न हो—मुकुन्दलाल की पत्नी नन्दरानी ने ही परिवार के आर्थिक स्रोत को पति के हाथ से खींचकर अपने हाथ में लेने से इनकार कर दिया, किन्तु इसका विकल्प एक ही हो सकता है कि कुटुम्ब का आर्थिक संचालन पति-पत्नी की सम्मिलित इच्छा से हो, नारी आर्थिक दृष्टि से पति की दासी बन कर न रहे।

सम्मिलित कुटुम्ब-व्यवस्था की जर्जरता दिखाकर भी लेखक उसके विघटन का पक्षपाती नहीं। वह केवल उसके स्वरूप में कुछ सुधार करना चाहता है, समाज के आर्थिक संगठन के बदलते हुए ढांचे के अनुसार पारिवारिक संगठन को भी कुछ अंशों में बदल देना चाहता है। 'तितली' की सहयोगभरी गृहस्थी का चित्रण करके, जिसमें बिना किसी रक्त-सम्बन्ध के भी रामजस, मलिया, रामदीन तथा अन्य भी कितने सदस्य सुखपूर्वक रहते हैं, वह अपने इसी उद्देश्य की घोषणा करता है। सम्मिलित कुटुम्ब-व्यवस्था से अत्यधिक उदासीन, उपन्यास का प्रमुख पात्र इन्द्रदेव भी अन्त में तितली के इस नवीन कौटुम्बिक संगठन को देखकर प्रभावित होता है[1] और यह अनुभव करता है कि परस्पर प्रेम तथा सौहार्द्र-भाव ही कौटुम्बिक जीवन की सफलताके अनिवार्य साधन हैं।

लेखक, इन्द्रदेव के शब्दों में, कुछेक स्थलों पर अपने धर्म और संस्कृति की वर्तमान विशृङ्खल अवस्था के प्रति निराशा व्यक्त करता है।

१—'तितली', पृ० २४२

वह सोचता है कि 'हमारा सामाजिक बन्धन इतना ढीला है कि उसमें मनुष्य केवल ढोंगी बन सकता है।' अपने यहाँ सिद्धान्त की दृष्टि से तो प्राणिमात्र को एक ही समझने का आदर्श है, पर व्यवहार में घोर विषमता व्याप्त है। प्रेम का अभाव, धन का अभाव, शरीर-रक्षा की साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनों का अभाव, दुख और पीड़ा तथा चतुर्दिक के हाहाकार को देखकर इन्द्रदेव अनुभव करता है कि जिसको हम धर्म या सदाचार कहते हैं, उससे भी शान्ति की प्राप्ति सम्भव नहीं। आज धर्म की इतनी विपन्न दशा हो गई है कि किसानों से अधिक से अधिक धन चूस कर मोटा होनेवाला एक धनिक कुछ थोड़ा-सा दान और छोटा-मोटा परोपकार करके ही पक्का धर्मात्मा बन जाता है। इन्द्रदेव सिद्धान्त और व्यवहार की इस विषमता से खीझकर यहाँ तक कह देता है कि, "इससे तो अच्छी है पश्चिम की आर्थिक या भौतिक समता, जिसमें ईश्वर के न रहने पर भी मनुष्य की सब तरह की सुविधाओं की योजना है।"[१]

किन्तु प्रसाद को इस व्यावहारिक समता के सिद्धान्त में विश्वास नहीं था। व्यावहारिक समता का लक्ष्य भी वास्तव में है तो जनता की सुख-समृद्धि ही, पर वह जनता की आस्था-भावना एवं आत्मशक्ति का हनन कर, उसे अर्थ-प्रेम की शिक्षा देकर, पशु बना देती है। उनका विश्वास है कि यदि मनुष्य में ईश्वर-भाव या आत्मा का निवास न होगा तो सब लोग उस दया, सहानुभूति और प्रेम के उद्गम से परिचित कैसे होंगे जिस पर जीवन का व्यवहार टिकाऊ होगा? प्रकृति-प्राप्त विषमता को स्वीकार कर वह नियन्त्रण द्वारा लादी जानेवाली व्यावहारिक समता को असम्भव बतलाते हैं; और बाबा रामनाथ द्वारा इन्द्रदेव के उक्त कथन का प्रत्याख्यान कराकर, भारतीय संस्कृति एवं मनीषा के प्रति अपनी दृढ़ आस्था

१—'तितली', पृ० १३०।

व्यक्त करते हैं—"भारतीय आत्मवाद की मानसिक समता ही उसे (व्यावहारिक समता को) स्थायी बना सकेगा। यान्त्रिक सभ्यता पुरानी होते ही ढीली होकर बेकार हो जायगी। उसमें प्राण बनाये रखने के लिए व्यावहारिक समता के ढाँचे या शरीर में भारतीय आत्मिक साम्य की आवश्यकता कब मानव-समाज समझ लेगा, यही विचारने की बात है।"[1] किन्तु पश्चिम की व्यावहारिक समता का नारा भी सर्वथा उपेक्षणीय नहीं और न तो भारत के अध्यात्मवादियों की आत्मिक समता ही अपने में पूर्ण है, अतएव वह पूर्व और पश्चिम को इन दोनों विचारधाराओं के समन्वित जीवन-दर्शन को ही मानव-विकास के लिए कल्याणकारी समझते हैं—दोनों के समन्वय में ही "पूर्व और पश्चिम का वास्तविक संगम होगा जिसमें मानवता का स्रोत प्रसन्न धार में बहा करेगा।"[2]

प्रसाद जी जीवन को युद्ध नहीं समझौता मानते थे। इसी विचार-धारा से प्रेरित होकर उन्होंने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अतिवाद छोड़कर समझौते की नीति पसन्द की। पूर्व और पश्चिम की दार्शनिक चिन्ता का रामनाथ के शब्दों में उन्होंने जो समन्वय कराया, सम्भव है वह सर्वग्राह्य न हो, इसी प्रकार तितली के व्यक्तित्व में पश्चिम के व्यावहारिक जीवन और स्वतन्त्र नारी की आत्मनिर्भरता तथा भारतीय कुलवधू के आदर्श का सामंजस्य भी साधारणतया व्यवहार्य न प्रतीत हो, पर इनसे प्रसाद जी की मौलिक सूझ का पता चलता है और आभास मिलता है कि युग-जीवन के धरातल पर बिखरी हुई स्थूल समस्याओं के साथ ही उन्होंने उसके तल-प्रदेश में उभरती हुई नई सांस्कृतिक समस्या पर भी गम्भीरता-पूर्वक सोचा था। इसमें संदेह नहीं कि उस समय तक हिंदी-साहित्य के

१—'तितली', पृ० १३०।

२—'तितली', पृ० १३०।

अन्य किसी लेखक की दृष्टि इस ओर नहीं गई थी। यद्यपि उनके सांस्कृतिक समन्वय के विचार स्वामी विवेकानन्द द्वारा विदेशों में दिये गये भारतीय धर्म और संस्कृति-विषयक भाषणों से बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं और उनकी विचारधारा पर दयानन्द तथा गांधीजी का भी कुछ प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है, परन्तु उन्होंने उन सबका पाचन कर साहित्य के माध्यम से प्रेषणीय बना कर उन्हें नये रूप में सामने रखा, यही उनका वैशिष्ट्य है।

व्यक्ति और समाज के बीच क्या सम्बन्ध हो, इस विषय पर भी प्रसादजी के कुछ अपने निज के विचार थे। व्यक्तिवादियों के समान न तो वे व्यक्ति की अतिशय स्वतन्त्रता के हिमायती थे और न समाज-वादियों के समान उसे समाज का एक क्षुद्र अङ्ग मानते थे। सामूहिक उन्नति में उन्हें विश्वास था, पर उनकी यह भी धारणा थी कि व्यक्ति-व्यक्ति का प्रयत्न ही उसे सम्भव बना सकता है। धामपुर का साधारण-सा जमींदार द्वारा शोषित गाँव आदर्श गाँव बन सका, उसके प्रत्येक प्राणी को सुख एवं सौभाग्य का जीवन नसीब हुआ, इसके मूल में कितने ही व्यक्तियों के आत्म-सुधार तथा सक्रिय सहयोग को कारण-रूप में उन्होंने चित्रित किया है। जमींदार इन्द्रदेव का आत्मत्याग, शैला की निःस्वार्थ समाज-सेवा तथा तितली की आत्मविश्वासपूर्ण दृढ़ कर्मठता—सब का ही उसके पीछे प्रत्यक्ष और सक्रिय सहयोग रहा है।

'तितली' में श्रम की महत्ता का लेखक ने जिस रूप में निरूपण किया है, उससे भी समाज की बदलती हुई गतिविधि के उसके सूक्ष्म निरीक्षण का पता चलता है। 'कंकाल' में आभिजात्य के दावे का खोखलापन रक्तमिश्रण के आधार पर वह दिखा ही चुका था, 'तितली' में एक कदम और आगे बढ़ कर उसने यह दिखाया कि व्यावहारिक जीवन में भी आर्थिक कारण उच्चवर्गीयता की भावना को धीरे-धीरे समाप्त करते जा रहे हैं। अभिजातवंशीय मधुबन निम्नवर्ग के मजदूरों के साथ

लोको आफिस में कोयला ढोता है और सगर्व कहता है कि, "समय पड़ने पर मेहनत-मजदूरी करके खाने से जनऊ नीचा नहीं हो जाता।"[1] श्रम की महत्ता को दृष्टिगत रखते हुए ही प्रसाद जी ने तितली जैसे श्रमशील, घोर अध्यवसायी और गौरवमय नारी-चरित्र का निर्माण किया। निश्चय ही 'तितली' के पूर्व हिन्दी उपन्यास-साहित्य में ऐसा पूर्ण नारी-व्यक्तित्व नहीं आया था। प्रेमचन्द जी के 'गबन' की जालपा में भी कर्मठता और आत्मशक्ति का दर्शन मिलता है, पर तितली जालपा से अगला कदम और महत्तर निर्मिति है, उससे विशिष्ट, व्यापक और मानवीय। मधुवन और तितली दोनों ही वास्तव में श्रमिक वर्ग के प्रतिनिधि हैं। पं० नन्द-दुलारे वाजपेयी के शब्दों में 'तितली' के ये नायक-नायिका "यद्यपि कम्युनिस्ट लेखकों के इस श्रेणी के चरित्रों की भाँति कर्कश, संवर्धनय और घृणाभिभूत नहीं हैं, फिर भी अपनी वर्ग-चेतना से रिक्त नहीं हैं और भारतीय श्रमिक की संस्कारी परंपराओं से युक्त हैं।"[2]

युग-जीवन की स्थूल समस्याओं की दृष्टि से 'तितली' ग्रामीण-क्षेत्र को ही विशेष रूप से अपनाती है। नागरिक जीवन के पात्र इन्द्रदेव, शैला, श्यामदुलारी, माधुरी, अनवरी और श्यामलाल विस्तार से आये हैं, पर उनके चित्रण में मुख्यतः लेखक का दो ही उद्देश्य प्रकट होता है—(क) ग्रामीण जीवन से नागरिक जीवन की तुलना कर गाँवों की गिरी हुई दशा को स्पष्ट करना, और (ख) उन्हें नये सुधारवादी दृष्टिकोण का प्रतिनिधि बनाकर उनके द्वारा ग्राम-जीवन को सुधारने के लिए निर्देश दिलाना। अलग से नागरिक जीवन की गहराई में पैठकर उसकी सामयिक समस्याओं को, ग्राम-चित्रण और उसकी समस्याओं के

१—'तितली', पृ० २२१।

२—'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी पृ० १२६।

समानान्तर दिखाते चलने का लेखक का प्रयास नहीं जान पड़ता। हाँ, नगर-जीवन के एक पहलू, गिरहकटों की चालों, आपस में मिल-जुलकर जनता को फँसाने के लिए कभी-कभी सर-फौड़ौवल तक कर लेने-वाले उनके गिरोहों, और धर्म के नाम पर निठल्लों का दल बनाकर जनता को ठगनेवाले बीरू बाबू जैसे शहरी जीवन के धोखेबाजों का उसने बड़ा ही जीवन्त चित्रण किया है। नागर-जीवन के चित्रण की दिशा में प्रवृत्त होनेवाले उपन्यासकारों में और किसी की दृष्टि उसके इस पक्ष की ओर 'तितली' से पहले नहीं गयी थी। निश्चय ही यह वर्ग नागरिक जीवन का एक आवश्यक अंग बना हुआ है, और उसके चित्रण में प्रसाद का प्रयास प्रथम होने पर भी बहुत सफल है।

जहाँ तक ग्राम-जीवन की समस्याओं और उनके यथार्थांकन का प्रश्न है, इस क्षेत्र में निस्सन्देह लेखक को यथेष्ट सफलता मिली है। कुछ विद्वानों का यह कथन कि 'तितली' का लेखक प्रेमचन्द के सदृश हमें गाँवों की तस्वीर नहीं दे सका, बहुत अंशों में औचित्यपूर्ण नहीं है। 'तितली' के ग्राम-चित्रण में 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'गबन' और 'गोदान' के चित्रण-सी व्यापकता भले न हो, पर उसमें ग्रामों की कतिपय मूलभूत समस्याओं का मार्मिक निदर्शन है। यह नहीं कहा जा सकता कि उसका लेखक गाँवों और उनके निवासियों से परिचित नहीं था अथवा कम परिचित था। ग्राम-जीवन के विभिन्न पक्ष—ग्रामीणों का रहन-सहन, उनके दुख-सुख, शादी-ब्याह, लेन-देन और मार-झगड़े का उसने सफलतापूर्वक चित्रण किया है। यह अवश्य है कि जहाँ प्रेमचंद उक्त पक्षों को व्याख्यात्मक दृष्टि से देखते थे, प्रसादजी ने उन पर संकेतात्मक दृष्टि ही डाली है, पर देखा है उन्होंने सभी पक्षों को। 'गोदान' में होरी और अन्य किसानों की ईख की नीलामी का जो विस्तृत वर्णन आया है, उसी विषय पर 'तितली' का यह छोटा-सा अंश कुछ कम प्रकाश नहीं डालता और न तो इसकी मार्मिकता ही किसी अंश

में हलकी कही जा सकती है—"महाराज, मुनुवाँ गुलौर झोंक रहा था, जब उसने सुना कि जमींदार का तगादा आ गया है, वह लोग गुड़ उठा कर ले जा रहे हैं तो घबरा गया। जलता हुआ गुड़ उसके हाथ पर पड़ गया। फिर भी हत्यारों ने उसके पानी पीने के लिए भी एक भेली न छोड़ी। यहीं बाजार में खड़े-खड़े बिकवाकर पाई-पाई ले ली। पानी के दाम मेरा गुड़ चला गया...।[१]

'तितली' का मधुबन भारतीय किसान की उस पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करता है जो विचारशील है, पर-सेवापरायण है, फिर भी जो अपने और किसी अन्य अपरिचित तक के ऊपर अन्याय होते देखकर लाठी उठाने को तैयार हो जाता है। मधुबन और तितली-स्वाभिमान और अपनी भूमि के लिए दृढ़ता से लड़नेवाले हिन्द-प्रदेश के वीर किसान हैं।[२] जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, 'तितली' में प्रसादजी ने जमींदार और किसान का स्पष्ट संघर्ष नहीं चित्रित किया है, किन्तु उन्होंने यह संकेत दे दिया है कि जब तक जमीन पर किसान का अधिकार नहीं होता, गाँवों और किसानों की हालत में सच्चा सुधार संभव नहीं। जमींदार की आंशिक उदारता या अपने अधिकारों के प्रति वैराग्य-भाव से स्थिति में कुछ सुधार न होगा। किसान और सरकार के बीच के इस जमींदार-वर्ग को खत्म कर देने से ही गाँवों का वास्तविक कल्याण हो सकेगा। ग्रामसुधार-योजनावालों से यही बात स्पष्ट करती हुई तितली कहती है, "जमींदार साहब के रहते वह सब कुछ नहीं हो सकेगा... यदि आप लोग वास्तविक सुधार करना चाहते हों तो खेतों के टुकड़ों

१—'तितली', पृ० १८१।

२—'प्रसाद का जीवन-दर्शन कला और कृतित्व' में डा० राम-विलास शर्मा का लेख—'प्रसाद और हिंदी साहित्य में नया यथार्थवाद', पृ० ३८०।

को निश्चित रूपमें बाँट दीजिए और सरकार उन पर मालगुजारी लिया करे।" वह समझती है कि यह बात उतनी सरल नहीं, जमींदार इतने शीघ्र मिटाये नहीं जा सकते—ग्राम-सुधारक के शब्दों में वह ऐसा स्वप्न देख रही है जिसमें आँखें खुलने की देर है, किन्तु उसका मत है कि, "मरनेवालों को कोई जिला नहीं सकता, पर उसे जिलाना हो तो कहीं अमृत खोजने के लिए जाना पड़ेगा।" निश्चय ही सन् १६३४ में भूमि-समस्या के विषय में इतनी विचारशील टिप्पणी एक नई और चौंकाने-वाली चीज थी। किसान-जमींदार संघर्ष को चटकीला करके न दिखाने के पीछे प्रसाद का लक्ष्य भी दिखाई पड़ता है—वह जमींदार और किसानों के पारस्परिक सहयोग से, गाँवों के नव-निर्माणार्थ तात्कालिक उपचार के रूप में सहकारिता का आदर्श सामने रखना चाहते थे।

तात्पर्य यह कि, बीसवीं सदी के प्रथम चरण के भारत की सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थिति ही 'तितली' की पृष्ठभूमि है, और तब तक के सांस्कृतिक एवं सामाजिक पुनर्जागरण के प्रतीक रामनाथ के जीवन-दर्शन को ही उस पृष्ठभूमि पर चित्रित कर लेखक ने तितली, शैला मधुबन और इन्द्रदेव के व्यक्तित्व का निर्माण किया है। तत्कालीन युग की पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से भारतीय जन-जीवन में प्रवेश पानेवाली विचार-धारा का दर्शन इन्द्रदेव और शैला के प्रारंभिक जीवन में दिखाई पड़ता है। सम्मिलित कुटुम्ब-प्रणाली के प्रति इन्द्रदेव का विक्षोभ और कुटुम्ब में नारी की स्वतंत्र आत्मनिर्भर सत्ता का शैला द्वारा उपस्थित किया गया पाश्चात्य नारी का आदर्श—दोनों ही विचारधाराएँ तत्कालीन भारत के नव शिक्षित समाज में व्यापक रूप से फैल रही थीं। धार्मिक सुधारों के रूप में प्राचीन भारतीय संस्कृति का समयोचित संस्कार भी हो रहा था और ग्रामोत्थान की ओर भी सभ्य समाज का ध्यान जा चुका था। रामजस की जमींदार और उसके कर्मचारियों के प्रति विद्रोहोन्मुख भावना भी वर्ग-चेतना के उदय से धीरे-धीरे समाज में उभड़ रही थी, किन्तु

अहिंसा के पुजारी गाँधीजी का भी राजनीति में प्रवेश हो चुका था, देश के एक कोने से दूसरे कोने तक उनके असहयोग आंदोलन की आवाज गूँज चुकी थी और सन् १६३०-'३४ तक वे भारतीय जनता के श्रद्धास्पद भी बन चुके थे। युग-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में व्याप्त इन्हीं विविध विचारधाराओं, नव-चेतना के प्रभाव से उत्पन्न समस्याओं, उनके समाधानों तथा देश-काल के यथार्थ रूप को लेकर १६३४ ई० में 'तितली' हिन्दी-जगत में आई। लेखक ने इसके प्रथम दो खंडों में यथार्थांकन के साथ-साथ बाबा रामनाथ के व्यक्तित्व के द्वारा एक समयोचित, सर्वग्राही और प्रयोगशील जीवन-दर्शन का प्रारूप सामने रखा है और बाद के दोनों खंडों में तितली के संघर्षशील जीवन में उसके औचित्यानौचित्य की परीक्षा लेकर अंततः उसे ग्राह्य एवं समीचीन घोषित किया है। इस प्रकार, यद्यपि इसमें प्रारंभ से लेकर अंत तक यथार्थ और आदर्श का चोली-दामन का साथ बना रहता है, पर लेखक का व्यक्तित्व कहीं पूर्वाग्रह से पीड़ित उपदेष्टा के रूप में उपन्यास की कला पर भार बनकर नहीं गिरता—यही 'तितली' की सफलता का रहस्य है।

'तितली': शिल्पगत विवेचन

वस्तु-संगठन—'कंकाल' के समान 'तितली' की कथावस्तु भी चार खंडों में विभाजित है। किन्तु इसमें घटना-चक्र और कार्य-व्यापारों का विकास-विस्तार 'कंकाल' के ढंग पर न होकर कुछ और प्रकार से हुआ है। जान पड़ता है कि इसके वस्तु-संगठन और कार्य-व्यापारों के संचालन में लेखक ने उपन्यास-शिल्प में एक नया प्रयोग करते हुए भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्य-शिल्प की कार्यावस्थाओं को सदैव दृष्टिगत रखा था। प्रथम खंड की कथा पूर्ण रूप से भारतीय नाट्यशास्त्र की 'आरंभ' नामक कार्यावस्था और पाश्चात्य नाट्य-शास्त्र की 'एक्सपोज़ीशन' नामक कार्यावस्था के रूप में आई है। परिचयात्मक रूप से इसमें उपन्यास के प्रमुख पात्रों और उनकी मौलिक विशिष्टताओं का निर्देश मिल जाता

है। तितली और मधुबन का तथा शैला और इन्द्रदेव का परस्पर आकर्षण दिखाकर स्फुट रूप से रामनाथ के विचारो और कार्यों का यत्र-तत्र परिचय तथा शैला की समाज-सुधार की इच्छा का निर्देश देकर, उपन्यास की मूल फल-समस्या का भी सामान्य परिचय लेखक ने संकेतात्मक ढंग से दे दिया है। इस खंड का संक्षिप्त कथांश यह है : उपन्यास की मुख्य कथा के दोनो स्रोतों—नगर जीवन से संबद्ध शैला और इन्द्रदेव तथा ग्राम-जीवन से संबद्ध तितली, मधुबन और रामनाथ—का प्रथम अनुच्छेद में ही परस्पर परिचय हो जाता है। इन्द्रदेव धामपुर के जमींदार हैं, रामनाथ बनजरिया गाँव का एक शिक्षित ब्राह्मण, तितली उसकी पालित पुत्री और मधुबन उसके यहाँ पढ़नेवाला एक उच्चवर्गीय नवयुवक। शैला का जीवनवृत्त भी कुछ और आगे चल कर ज्ञात होता है—वह इङ्गलैंड की एक अनाश्रित लड़की थी, भीख माँगकर जीवन-यापन करती थी, वहाँ बैरिस्टरी पढ़ने गये हुए इन्द्रदेव को उस पर करुणा आई और वे उसे अपने साथ भारत लेते आये। अब दोनों परस्पर बहुत निकट आ चुके हैं। और आगे बढ़ने पर इन्द्रदेव के ऊपर से भरे-पूरे, पर भीतर-भीतर कलह से जर्जर कुटुम्ब का चित्र सामने आता है—शैला और इन्द्रदेव परिस्थितियों से खिन्न दिखाई पड़ते हैं। मधुबन और तितली में भी आकर्षण प्रेम का रूप धारण करता जाता है। आगे मधुबन की बहिन राजकुमारी और उनके कुल के वैभव-विनाश की सूक्ष्म झाँकी देकर सातवें परिच्छेद में तितली के जीवन का पूर्ववृत्त सामने रखा जाता है—दुर्भिक्ष में मरणासन्न पिता द्वारा रामनाथ को उसका सौंपी जाना आदि-आदि। इन मूल कथा-सूत्रों के साथ-साथ धामपुर के बनजरिया और शेरकोट में फैले विस्तृत ग्रामीण जीवन और वहाँ के रहन-सहन का भी इसी खंड में सजीव चित्रण हो जाता है। आगे के घटना-चक्र के लिए पृष्ठभूमि का निर्माण-कार्य खंड के अंत में सम्पन्न होता है।

चरित्रों के विकास-क्रम की दृष्टि से भी कथानक का एक पड़ाव यहीं

पूरा हो जाता है। सबके पूर्व जीवन का आभास और उनके चरित्र की मूल वृत्तियों का पता प्रथम खंड में चल जाता है।

'तितली' के दूसरे खंड के कथा-प्रवाह में भारतीय 'प्रयत्नावस्था' तथा पाश्चात्य 'आरंभिक संघर्ष' नामक दोनों कार्यावस्थाओं का मिला-जुला रूप दिखाई पड़ता है। किन्तु संघर्ष और कथा का चरमसीमा की ओर झुकाव ही अधिक स्पष्ट हो सका है। खंड के आरंभिक अनुच्छेद से ही घटना-व्यापार में संघर्ष का प्रवेश होता है और अनेक रूपों में अन्त तक वह चलता ही जाता है। प्रथम अनुच्छेद में एक ओर तो आभास मिलता है कि मधुबन का शेरकोट ही ग्रामसुधार-योजना के अनुसार बैंक बनाने के लिए अच्छा स्थान चुना गया है, वह मधुबन से छिन जायगा। दूसरी ओर, शैला को नीलकोठी के साथ अपनी माँ का संबंध ज्ञात हो जाता है और उसके आन्तरिक-द्वन्द्व का यहीं से सूत्रपात होता है। अनवरी के षड़यन्त्र और माधुरी की महत्वाकांक्षा से इन्द्रदेव का कौटुम्बिक जीवन भी राष्ट्रनीति के गुप्त दाव-पेंचों से भरा हुआ दिखाई पड़ता है। फलतः विवश होकर शैला ग्रामसुधार में दत्तचित्त होकर लगती है और गृह-कलह से बचने के लिए इन्द्रदेव शहर चला जाता है। दूसरी ओर राजकुमारी, तहसीलदार आदि के प्रतिरोध के बावजूद मधुबन और तितली का विवाह-कार्य सम्पन्न होता है—दोनों संघर्ष-भरे संसार में अपनी शान्तिपूर्ण गृहस्थी बसाने में प्रयत्नशील दिखाई पड़ते हैं। इसके साथ ही राजकुमारी के प्रौढ़ वय में उसके 'व्यय-विहीन पवित्र यौवन' के सहसा चंचल होने और सुखदेव चौबे से उसका संबंध-सूत्र जुड़ने की घटना भी उपन्यास में आगे चलकर एक नये संघर्ष का सूत्रपात करती है, जो सारे घटना-चक्र को वेग से चरमसीमा की ओर फेंक देता है।

वैचारिक दृष्टि से भी दूसरे खंड की समाप्ति के साथ उपन्यास में एक विराम की स्थिति दिखाई पड़ती है। मधुबन और तितली को

जीवन-संग्राम में प्रवृत कर रामनाथ सन्यास लेते हैं और अगले खंड से उनके जीवन-दर्शन का व्यावहारिक जीवन में परीक्षण प्रारम्भ होता है। शैला-इन्द्रदेव एवं तितली-मधुवन की मूल कथा के साथ इस खंड में राजकुमारी और चौबे की, रामजस की, रामदीन की एवं श्यामदुलारी-माधुरी-अनवरी आदि की प्रासंगिक कथाओं का भी विकास होता गया है। इन सब के साथ भी संघर्ष का चक्र बड़े वेग से चल रहा है और फलस्वरूप किसी की स्थिति स्थिर नहीं होने पा रही है।

भारतीय नाट्य-शास्त्र के नियमानुसार कथावस्तु की तीसरी कार्यावस्था को 'प्राप्त्याशा' कहते हैं, जिसमें नायक-नायिका का प्रयत्न सफल होता दिखाई देता है और वे अभीष्ट फल-प्राप्ति के निकट पहुँचते जान पड़ते हैं। दूसरी ओर, पाश्चात्य नाटकों में संघर्ष के साथ चरमसीमा की ओर अग्रसर होता हुआ कार्य-व्यापार चरमसीमा पर पहुँचता है। संघर्षों का सूत्र यहाँ इतना घना हो जाता है कि नायक-नायिका के लिए चारों ओर आशंका, विरोध और विपत्ति ही विपत्ति दिखाई पड़ती है। 'तितली' के तीसरे खंड के प्राम्भिक अनुच्छेदों में तो तितली और मधुबन अनेक विघ्न-व्यापारों के होते हुए भी अपनी छोटी-सी गृहस्थी में कुछ प्रकृतिस्थ-से दिखाई पड़ते हैं, पर दंगल में शहरी पहलवान को मधुबन द्वारा पराजित होते देखकर उसके विरोधियों के कान खड़े हो जाते हैं और वे उसके विरुद्ध कल-बल-छल सब प्रकार से लग जाते हैं। इसी बीच दो-तीन आकस्मिक घटनाएँ घटित होती हैं, जिनसे उपन्यास का कार्य-व्यापार अत्यधिक प्रभावित होता है। गाँव में आई हुई बारात का हाथी बिगड़ जाता है, मधुबन वीरतापूर्वक वेश्या मैना को उसके आक्रमण से बचाता है। राजकुमारी के साथ चौबे के अनुचित सम्बन्ध का पता पाकर उसी रात वह चौबे की भी मरम्मत करता है। मैनावाली बात को लेकर मधुबन के विरोधी उसकी वीरता को भी उसके विरुद्ध प्रवाद रूप में ही फैलाते हैं और चौबे के कुचक्र से तितली के मन में भी कुछ-

कुछ यह बात बैठ जाती है कि मधुबन मैना की ओर आकृष्ट है। अपने साथी रामजस को बचाने जाकर मधुबन एक अन्य संघर्ष में भी फँस जाता है, उसके हाथों जमींदार के कई कर्मचारी घायल होते हैं, मुकदमें की नई समस्या आ जाती है। एक दिन मठ के महन्त के यहाँ राजकुमारी रुपया उधार लेने जाती है और विषयी महन्त के उसके साथ छेड़छाड़ करने पर वहीं छिपा हुआ मधुबन क्रोध में आकर उसका गला घोंट देता है और बेचारी तितली के लिए चतुर्दिक विपत्तियों का जंजाल छोड़कर चुपचाप भाग जाता है।

दूसरी ओर शैला और इन्द्रदेव को लेकर चलनेवाला कथा-स्रोत भी गतिशील दिखाई पड़ता है। इन्द्रदेव शैला के निकट आने के लिए जमींदारी का मोह छोड़कर बनारस में बैरिस्टरी की अपनी प्रैक्टिस चालू करते हैं। उनके कुटुम्ब का कलह पूर्ववत् चलता है। खंड के अन्त में शैला से उनका विवाह भी हो जाता है। माधुरी, श्यामदुलारी, अनवरी, रामजस, रामदीन आदि की अवान्तर कथाएँ तो चलती ही रहती हैं, इस खंड में मुकुन्दलाल और उनकी पत्नी नंदरानी की एक नई प्रासंगिक कथा भी प्रकरी रूप में आ जाती है, जो उपन्यास के विचार-पक्ष को कुछ सामग्री प्रदान करती है।

इस प्रकार, मुख्य रूप से इस खंड के कार्य-व्यापार में लेखक ने पाश्चात्य नाटकों की चरमसीमा नामक कार्यावस्था की स्थिति दिखाने की विशेष चेष्टा की है।

इसी खंड के अन्तिम अनुच्छेद में लेखक ने परिस्थितियों से लड़ती हुई तितली के अदम्य उत्साह का जैसा चित्रण किया है, उसी से भारतीय नाट्यविधान की चौथी कार्यावस्था नियताप्ति की कुछ धुंधली-सी झलक मिल जाती है। संघर्षों से लड़ने के लिए अपने को सन्नद्ध करती हुई वह कहती है, "मुझे तो उनके लौटने तक जीना पड़ेगा और जो कुछ वे छोड़ गये है उसे सँभालकर उनके सामने रख देना होगा।" चतुर्थ

खंड में उसके इस संकल्प का क्रियात्मक रूप दिखाई पड़ता है और निश्चय हो जाता है कि इसकी साधना से खिंचकर मधुबन अवश्य आयेगा।

चौथे खंड में पाश्चात्य नाटकों को 'निगति' नामक कार्यावस्था दिखाई पड़ती है। कार्य-व्यापार चरमसीमा से उतर कर मंथर प्रवाह के साथ आगे बढ़ता है। एक ओर तो तितली अपने संघर्षों के उलझे सूत्रों को अपनी महती कार्य-क्षमता से सुलझाकर अपने लिए एक निश्चित आधार बना लेती है, दूसरी ओर मधुबन के कलकत्ते का संघर्ष-संकुल जीवन और भी उलझता ही जाता है। इधर शैला की चित्तवृत्ति में भी कुछ परिवर्तन होता है और वह वाट्सन की तरफ आकृष्ट होकर एक बार मन ही मन इन्द्रदेव से मुक्ति की कामना करने लगती है, परन्तु तितली के प्रभाव से वह फिर संभल जाती है। उसका ग्रामोत्थान का कार्य सफल होता है, धामपुर आदर्श ग्राम बन जाता है। इस खंड में मधुबन के कलकत्ते के यातनापूर्ण जीवन और तितली के अध्यवसाय की सफलता को साथ-साथ देखते हुए तीसरे अनुच्छेद तक पाठक के सम्मुख समस्या बनी रहती है कि उपन्यास दुखान्त होगा या सुखान्त। चौथे अनुच्छेद में मधुबन जेल से छूट तो जाता है, पर हरिहरक्षेत्र के मेले में सूच्य रूप से उसे तितली और उसके बच्चे का समाचार ज्ञात हो जाता है। उसके लिए एक नई मानसिक उलझन तैयार हो जाती है—तितली और उसका लड़का? उपन्यास के अंतिम अनुच्छेद का अंत के पूर्व की कुछ पंक्तियों तक का अंश तो पाठक की समस्या को और भी जटिल बना देता है। जो तितली जीवन में व्याप्त अनवरत संघर्षों से लड़ती हुई भी कभी हिम्मत न हारी थी, अपने चरित्र पर लांछन लगते देख तिलमिला उठती है और गंगा की गोद में पहुँचकर अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देने की इच्छा से चल पड़ती है। किन्तु बाहर विगत-संदेह, विगतविकार, जीवन-युद्ध का थका हुआ सैनिक उसका चिर

प्रतीक्षित उदास्य मधुवन उसके विज्ञान-कुटीर के सम्मुख खड़ा हुआ मिल जाता है। यहीं नाटकीय ढंग से उपन्यास समाप्त हो जाता है।

स्पष्ट है कि 'तितली' का वस्तु-संगठन नाट्यशास्त्र के विधान पर आधृत है और उसमें मुख्य तथा प्रासंगिक कथाओं का कलापूर्ण ढंग से संयोजन किया गया है। 'कंकाल' की अपेक्षा इसका कथानक स्पष्ट और सुसंगठित है। न तो इसमें उतनी अवान्तर कथाएँ आई हैं और न मूल कथा को अनेक बार चक्कर देकर घूमना पड़ा है। कथानक का प्रवाह सर्वत्र एकमुख होकर बहता है। यद्यपि आधिकारिक कथा के तितली-मधुवन एवं शैला-इन्द्रदेव को लेकर चलने वाले दो रूप हैं, पर वे परस्पर दूध-पानी की तरह इतने घुले-मिले चलते हैं कि उससे कथा-प्रवाह में कोई अवरोध नहीं उपस्थित होता।

'कंकाल' की तुलना में विद्वानों ने एक और दृष्टि से 'तितली' के वस्तु-संगठन की भिन्नता निर्देशित की है। श्री गंगाप्रसाद पांडेय का कथन है कि, "कंकाल का कथानक घटनाओं से बना है, तितली की घटनाएँ कथानक से बनी हैं।"[1] किन्तु यह कथन कुछ गोलमटोल-सा और अत्युक्ति-पूर्ण है। 'कंकाल' और 'तितली' के वस्तु-तत्त्व में ऐसा कोई मौलिक अन्तर नहीं है। यह अवश्य है कि 'तितली' के कार्य-व्यापारों के संचालन में घटनाओं के साथ-साथ पात्रों का चारित्रिक वैशिष्ट्य भी योग देता रहा है, पर कितनी ही घटनाएँ ऐसी हैं जिन्हें कथानक की निर्मिति नहीं कहा जा सकता। उदाहरणार्थ राजकुमारी के प्रौढ़ यौवन की आकस्मिक चंचलता एक ऐसी घटना है जो उपन्यास के समस्त कथानक को एक बार झकझोर कर विशृङ्खल कर देती है। किन्तु इस घटना को कथानक का परिणाम नहीं कहा जा सकता। वर्षों पूर्व का सुखदेव से उसका सामान्य-सा परिचय, फिर समय की मोटी परत के नीचे उसका

१—'आधुनिक कथा साहित्य' : गंगाप्रसाद पांडेय।

भी विस्मृत हो जाना, और फिर असंभावित रूप से उससे भेंट होते ही सोई भूख का पुनः जाग जाना—सब एक रहस्यमय ढंग से घटित होता है और स्वयं राजकुमारी भी इसे समझ नहीं पाती। शैला का इन्द्रदेव से परिचय और भारत में अपनी माँ से संबद्ध कोठो के पास अकल्पनीय ढंग से जा पहुँचना भी कथानक की निर्मिति नहीं एक स्वतन्त्र घटना है।

वास्तव में प्रसाद का नियतिवाद में दृढ़ विश्वास उनके नाटकों, कहानियों और उपन्यासों के कथानकों और घटनाओं को समभाव से प्रभावित करता रहा है। सर्वत्र ही कुछ ऐसी अघटित, असामान्य और अकल्पनीय घटनाएँ घट जाया करती हैं, जिनसे समस्त वस्तु-व्यापार देखते-देखते कुछ का कुछ हो जाता है। नियति या अदृष्ट का यह गुप्त संचालन 'कंकाल' के घटना-चक्र और कथानक के पीछे भी है, 'तितली' के पीछे भी। 'कंकाल' की यमुना के समान 'तितली' की शैला भी अपने जीवन के उतार-चढ़ाव के पीछे इस प्रबल शक्ति का संचालन अनुभव करती हुई सोचती है, "नियति दुस्तर समुद्र को पार कराती है, चिर काल के अतीत को वर्तमान से क्षण भर में जोड़ देती है और अपरिचित मानवता-सिन्धु में से उसी एक से परिचय करा देती है जिससे जीवन की अग्रगामिनी धारा अपना पथ निर्दिष्ट करती है। कहाँ भारत, कहाँ मैं और कहाँ इन्द्रदेव!"[१] शैला के ही नहीं तितली, मधुबन, इन्द्रदेव सभी के जीवन-क्रम को बदलने और संचालित करने में इस अदृष्ट-शक्ति का हाथ दिखाई पड़ता है।

नियति में विश्वास करके सारे घटना-चक्र को आकस्मिकता और संयोग की असामान्य भित्ति पर खड़ा करना कला की दृष्टि से एक दोष हो सकता है, है भी; परन्तु यह प्रसाद का दार्शनिक सिद्धान्त है, और उनके कथानकों के विवेचन में इसे स्वीकार करके चलना ही न्यायसंगत होगा।

१—'तितली', पृ० ७०।

इस एक पक्ष को छोड़ कर कला की दृष्टि से 'तितली' के वस्तु-चयन, उसकी संघटना एवं क्रम-निर्वाह में अन्य कोई दोष नहीं है। जो कुछ भी है, सुसंगठित, सुसंबद्ध तथा आवश्यक है।

चरित्र—'तितली' भी 'कंकाल' के समान विचारप्रधान उपन्यास है। साथ ही इसमें एक निश्चित आदर्श की स्थापना का भी लक्ष्य रहा है। अतएव, अपने पात्रों में विचार-वहन की क्षमता उत्पन्न करने के लिए और समय आने पर उनके माध्यम से समुपस्थित विचार-निर्देशों की व्यावहारिक उपादेयता दिखाने के लिए लेखक को अपने अनुशासन में रखकर ही पात्रों का चारित्रिक विकास करना पड़ा है। 'कंकाल' के समान ही यहाँ भी वह यह दावा करने में असमर्थ है कि मैं अपने पात्रों का नियामक नहीं हूँ। कुछ अंशों में राजकुमारी को छोड़कर और किसी भी पात्र का जीवन इतना स्वच्छंद होकर आगे नहीं बढ़ने पाता कि वह लेखक के लिए समस्या बन सके। इस प्रकार पात्रों को इच्छित विकास का अवसर न देने से, जहाँ चरित्र-चित्रण में किसी सीमा तक साँचे के ढलाव की-सी स्थिति आ गई है, वहीं लेखक एक भारी दोष से बच भी गया है—कोई भी पात्र अपने स्वेच्छित विकास से उसके सम्मुख ऐसी विकट स्थिति नहीं उत्पन्न कर पाता कि कथानक को संतुलन देने के लिए लेखक को बलात् उसे मार्ग से हटाना पड़े, उसे आत्महत्या के लिए विवश करना पड़े, या अस्वाभाविक ढंग से उसके जीवन में बिलकुल नया मोड़ लाना पड़ जाय। आरम्भ के विद्रोही मधुबन को कार्यक्षेत्र से भगा देना कुछ खटकता अवश्य है, पर उसमें अस्वाभाविकता नहीं आने पाई है। उसे भागने के लिए विवश करनेवाली परिस्थितियों का निर्माण इतने स्वाभाविक ढंग से हुआ है कि उससे मधुबन के व्यक्तित्व के प्रति लेखक का अन्याय नहीं सिद्ध होता। प्रेमचन्द के 'प्रेमाश्रम' के ज्ञानशंकर और 'गबन' की जोहरा ने उनके सम्मुख यही स्थिति उत्पन्न की थी, और उनको रंगमंच से हटाने के लिए लेखक को आत्महत्या का

द्वार खोलकर स्पष्ट दोषभागी बनना पड़ा। 'कंकाल' की घंटी के व्यक्तित्व ने भी प्रसादजी के सम्मुख कुछ ऐसी ही स्थिति उत्पन्न की थी और आगे चलकर उसे नियन्त्रण में लाने के लिए उसके जीवन-पथ में उन्होंने जो मोड़ पैदा किया—थोड़ी देर के लिए पगली बनाकर फिर समाज-सेविका के नये चोले में सामने रखा—उसमें व्रजांगना अल्हड़ घंटी का समूचा व्यक्तित्व समा नहीं सका। लेखक की कलाकुशलता ने दोष को स्पष्ट रूप से उभरने नहीं दिया है फिर भी घंटी के उक्त दोनों रूपों के बीच जोड़ की एक अस्वाभाविक स्थिति तो है ही।

इसलिए 'तितली' के चरित्र-चित्रण में प्रारम्भ से ही प्रसाद जी बहुत सजग दिखाई पड़ते हैं। प्रत्येक पात्र के चित्रण में नई भंगिमा उत्पन्न करते समय वे बराबर यह ध्यान रखकर चले हैं कि इससे चित्र को कैसा स्वरूप प्राप्त होगा, व्यक्तित्व का कौन-सा अंग उभार पा सकेगा। किन्तु लेखक की इस अत्यधिक सजगता का कोई गलत अर्थ नहीं लेना चाहिए। पात्रों के ऊपर उसका अनुशासन देश-कालानुसार और परिस्थिति-सापेक्ष ढंग से ही कार्य करता दिखाई पड़ता है। लेखक ने किसी भी पात्र के साथ निष्करुण होकर उसकी स्वाभाविक जीवनेच्छा को कुचला नहीं है। राजकुमारी, मैना, अनवरी और श्यामलाल के चरित्र इस बात के साक्षी हैं। हर बुरे पात्र को आगे चलकर सुधार लेने की अपनी प्रवृत्ति को भी लेखक ने 'तितली' में वशीभूत कर लिया है। उनका अन्त भी बुरा और दुखपूर्ण ही हो, यह दिखाने की लेखक की कोई इच्छा नहीं जान पड़ती। कुलटा अनवरी का जीवन कैसे बीता, यह बताने की लेखक ने आवश्यकता नहीं समझी। हाँ, आदर्शवाद की स्थापना के उद्देश्य से 'तितली' में उस साहित्यिक न्याय की स्थापना अवश्य की गई है, जिसमें राम की तरह आचरण करने के लिए कहा जाता है, रावण की तरह नहीं। सत्-असत् के संघर्ष में सत्पक्षी राम की ही विजय होती है, असत्-पक्षी रावण हारता है, यह आदर्श निभाने

के लिए लेखक ने अपने समाज-सहित महन्त के विनाश को सूक्ष्य रूप में बता दिया है।

'तितली' और 'कंकाल' के चरित्र-चित्रण में इस दृष्टि से महान अन्तर दिखाई पड़ता है कि जहाँ 'कंकाल' में अधिकांश पात्रों का चित्रांकन व्यक्ति-वैशिष्ट्य के आधार पर हुआ है, 'तितली' के अधिकांश पात्र विभिन्न वर्गों के प्रतीक के रूप में आये हैं। फिर भी मुख्य पात्रों के चरित्रांकन में यह ध्यान रखा गया है कि वे अपने वर्ग के निर्जीव प्रतीक मात्र न बन जायँ। उनके अपने व्यक्तित्व को विभिन्न भंगिमाओं के भी कुशलतापूर्वक निर्देशित किया गया है। तितली, मधुबन, इन्द्रदेव और शैला का द्विमुख चरित्रांकन 'तितली' की बहुत बड़ी विशेषता है।

उपन्यास में पुरुष पात्र वैसे तो कई आये हैं पर मुख्य रूप से मधुबन, इन्द्रदेव और रामनाथ के व्यक्तित्व ही विकसित रूप में सामने आ सके हैं। रामजस, सखुदेव, रामदीन, महँगू, श्यामलाल, वाट्सन, कलकत्ते के वीरू बाबू और ननी तथा बनारस के मुकुन्दलाल विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधि-पात्र के रूप में चित्रित हुए हैं। अज्ञातनाम महंत और तहसीलदार क्रमशः सूदखोर और जमींदारों के कर्मचारी-वर्ग के प्रतीक पात्र हैं। स्त्री पात्रों में भी श्यामदुलारी, माधुरी, राजकुमारी, मलिया, मैना, अनवरी और नन्दरानी नारी-समाज के विभिन्न पक्षों का प्रतिनिधित्व करती हैं। सामान्य पुरुष पात्रों की अपेक्षा इन सबके व्यक्तित्व का सम्यक् विकास हुआ है और इनके जीवन-सूत्र का अन्त तक संधान मिलता चलता है। पुरुष पात्रों की अपेक्षा इनका चरित्रांकन कला की दृष्टि से भी अधिक सफल है। नारी पात्रों में तितली, शैला और राजकुमारी का चरित्र-चित्रण अधिक विस्तार से किया गया है।

मधुबन उपन्यास का नायक है। वह उच्चवर्गीय सम्पन्न जमींदार कुल का वंशधर है और अपने पूर्वजों के वैभव-कंकाल शेरकोट में सामान्य किसान के रूप में रहता है। प्रारम्भ में ही वह उच्च संस्कारसम्पन्न,

विवेकशील, परिश्रमी किन्तु शीघ्र ही कुपित होकर संघर्ष में कूद पड़ने वाले साहसी युवक के रूप में सामने आता है, और अंत तक उसके ये सभी गुण कुछ न्यूनाधिक होकर बने रहते हैं। तितली से उसका साहचर्य-जनित प्रेम-सम्बन्ध है, आरंभ में वह उससे नाम के लिए झगड़ता दिखाई पड़ता है, तितली उसे 'मधुवा' न कह कर 'मधुबन' कह देती है, इस पर वह रूठने का अभिनय करता है। अपनी बड़ी बहन राजो या राजकुमारी से उसका स्वभाव भिन्न है—राजो में बीते हुए सोने के दिन की गौरवगाथाएँ और अभिमान-भाव शेष है, पर मधुबन अतीत को भूल कर पक्का श्रमिक बन जाता है। बाबा रामनाथ की शिक्षा के प्रभाव से वह बदलते हुए जीवन-क्रम से परिचित है। अपनी विवेक-शीलता के ऊपर छा जाने वाली स्वभाव की उग्रता और कुछ निश्छल कर्तव्य-प्रेरणा के कारण प्रारंभ से लेकर अंत तक उसका जीवन संघर्षों में ही व्यतीत होता है। बहन के अपमान को न सहन कर सकने के कारण वह चौबे से उलझ जाता है, मित्र रामजस के लिए जमींदार के कर्मचारियों से लड़ाई मोल लेता है। राजो के लिए ही महन्त का गला घोंटने तक की नौबत आती है। इसी स्वभाव के कारण कलकत्ते में भी वह एक बार मैदान में आ उतरता है। किन्तु घटना-चक्र में अनेक मोड़ उत्पन्न कर लेखक उसके इस स्वभाव को बदल देता है—आरंभ का विद्रोही मधुबन अन्त में अत्यन्त शांत भाव से, जीवन-युद्ध के हारे-थके सैनिक के रूप में तितली के विश्राम-शिविर के पास जा खड़ा होता है। सब मिलाकर वह एक सामान्य मानव के रूप में चित्रित हुआ है, जिसमें अच्छाइयाँ भी हैं, बुराइयाँ भी। तितली जैसी सर्वगुणसम्पन्ना नारी को पाकर भी मैना की ओर उसका स्वाभाविक झुकाव हो जाता है, विपत्ति के दिनों में उसके यहाँ वह शरण लेने जाता है और कलकत्ते में उसे अन्य पुरुष के साथ देखकर उसकी प्रतिशोध की पशु-प्रवृत्ति जाग उठती है। किन्तु उसके जीवन के विभिन्न उतार-चढ़ावों को देखने से ऐसा लगता है कि

यदि लेखक ने उसके विकास को कुछ और स्वतन्त्रता दी होती, उसे कलकत्ते न भगाकर उसके प्रारंभिक विद्रोही स्वरूप के अनुरूप ही घटना-चक्र का निर्माण किया होता, तो मधुबन का व्यक्तित्व और निखर सकता था।

इन्द्रदेव धामपुर के जमींदार हैं। पर जितना वे जमींदार वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं, उससे अधिक नवीन शिक्षा-सम्पन्न कुलीन और उदारचेता 'व्यक्ति' के रूप में सामने आते हैं। सम्मिलित कुटुम्ब-व्यवस्था, हिन्दू-गृहस्थी और सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन की विकृतियों के प्रति उनके हृदय में विक्षोभ भरा है, पर प्रकट रूप से उनका विरोध करने के लिए वे तैयार नहीं। यह जानते हुए भी कि रामदीन निर्दोष है, गृह-कलह से बचने के लिए वे उसे पुलिस के हवाले कर देते हैं। अनवरी की कुटिलता से परिचित होते हुए भी वे उसके प्रतिकार का कोई प्रयत्न नहीं करते। शैला के प्रति उनका प्रेम निश्छल और निःस्वार्थ है। अत्यन्त निम्न सामाजिक स्तर से उसका उद्धार करके भी वह उसे अपने हृदय का कोमल प्यार समर्पित करते हैं और उसकी प्रसन्नता के लिए, उसके और समीप पहुँचने के लिए, अपने समस्त अधिकारों का विसर्जन कर देते हैं। इतना होने पर भी वह यह नहीं चाहते कि शैला उपकृत अनुभव करती हुई उन्हें प्रेम करे। वाट्सन की ओर शैला का कुछ-कुछ झुकाव देखकर वह कहते हैं, 'मैं स्वार्थी नहीं हूँ शैला। तुम जिसमें सुखी रह सको।' सामाजिक सुधारों में उन्हें विश्वास है। शैला से विवाह करके भी उसे सामाजिक कार्यों को सम्पन्न करने से वह रोकते नहीं। किन्तु उनके व्यक्तित्व का मूल प्रेरक भाव शैला के प्रति प्रगाढ़ अनुराग ही है। उनके त्याग के मूल में भी यही प्रेम है। अपने अधिकारों से त्यागपत्र देकर और नीलकोठी को एक विशेष निधि के साथ ग्रामसुधार एवं अन्य सार्वजनिक कार्यों के लिए दान करके वे शैला से कहते हैं "...तुम्हारी जो आज्ञा थी वही तो मैंने किया...क्या

यह सब करके भी मैं तुम्हारे समीप नहीं होने पाऊँगा ?"[1]

बाबा रामनाथ के व्यक्तित्व के माध्यम से लेखक ने 'तितली' के जीवन-दर्शन को सामने रखा है। 'कंकाल' के गोस्वामी कृष्णशरण के सदृश ये 'तितली' के बौद्धिक नेता हैं। आरंभ में तो वे एक सामान्य-से दीन-हीन, रुग्ण किसान के रूप में चित्रित किये गये हैं, पर ज्यों-ज्यों कथानक का विकास होता गया है, उनके व्यक्तित्व में निखार आता गया है। शैला को पढ़ाते समय वे पाश्चात्य और भारतीय जीवन-दृष्टि की तुलनात्मक समीक्षा करते हैं और इसाइयों की सामूहिक प्रार्थना-पद्धति की तुलना में व्यक्तिगत साधना पर जोर देनेवाले भारतीय आत्मवात की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हैं। इन्द्रदेव से वे पश्चिम की भौतिक समता के आदर्श का प्रत्याख्यान कर भारतीय मनीषियों द्वारा प्रतिपादिद आत्मिक समता की श्रेष्ठता सिद्ध करते हैं और व्यावहारिक दृष्टि से दोनों के समन्वय को ही कल्याण का मार्ग बताते हैं। व्यावहारिक जीवन में भी वे अत्यन्त निर्भीक हैं। मधुबन हैंऔर तितली के विवाह को, सब ओर से विरोध होने पर भी, वे शांतिपूर्वक संपन्न कराते। प्रथम दो खंडों के बाद वे सन्यास लेकर काशी चले आते हैं पर उनकी विचारधारा उनकी वास्तविक उत्तराधिकारिणी तितली द्वारा उपन्यास के अंत तक क्रियात्मक रूप में चरितार्थ होती दिखाई पड़ती है और अंततः उसी की विजय होती है।

तितली का व्यक्तित्व तो उपन्यास का प्राण ही है। वह रामनाम की औरस नहीं पोषित पुत्री है, पर उनके आदर्शों और बौद्धिक विचारों को अपने जीवन में उतार कर अपने को उनकी सच्ची उत्तराधिकारिणी सिद्ध करतो है। प्रारम्भ में वह मधुबन के साथ स्वच्छन्द रूप से बाल-सहचरी के रूप में बात-व्यवहार करती है, पर उसी मधुबन के साथ अपनी विवाह-

१—'तितली'—पृ० २०८।

चर्चा चलने पर उसमें स्वाभाविक लज्जा का उदय होता है। बाहर कभी प्रकट न होने पर भी मधुबन के लिए उसके हृदय में अगाध ममता है, इन्द्रदेव के साथ उसके ब्याह की बातचीत चलने पर बाबा रामनाथ इस बात को समझते हुए कहते हैं, "उसका ब्याह दूसरे से होने पर वह बचेगी नहीं!" विवाह के समय विरोध होने पर उसने अपने नारीत्व के पूर्ण अभिमान के साथ अपनी स्वीकृति जताई। नाना विरोधों के होते हुए भी सिन्दूर से भरी हुई उसकी माग दमक उठी और आगे आनेवाली अनवरत विपत्तियों से लड़ते हुए उसने उसे कभी मलिन नहीं होने दिया। मधुबन अनेक संघर्षों का सूत्रपात कर कलकत्ता भाग गया, बनजरिया और शेरकोट का विवाद भी उठा, पर उसने पुरुष पराक्रम से सबका सामना किया, और किसी की दया की भीख को अंगीकार करना अपना अपमान समझा। समाज में परम अछूत समझी जानेवाली व्यभिचार की संतानों को भी उसने ममतापूर्वक अपना कर अपने कुटुम्ब का अङ्ग बनाया। रामनाथ बाबा की इस शिक्षा को कि मनुष्य का हर परिस्थिति को अपनाने के लिए उद्यत रहना चाहिए, उसने अपने कंटकमय पथ का सम्बल बना कर ग्रहण किया।

तितली के व्यक्तित्व का पूर्ण निखार शैला के व्यक्तित्व के साथ मिलाकर देखने पर प्रकट होता है। शैला धर्म के बाहरी आवरण को ओढ़ कर हिन्दू बन जाती है, पर उसमें पाश्चात्य नारी की स्वच्छन्द मनोवृत्ति बनी ही रहती है। इन्द्रदेव के उदार प्रेम-समर्पण को पाकर भी वह वाट्सन की ओर आकर्षित हो जाती है और मन ही मन इन्द्रदेव से मुक्ति पाने की कामना करती है। उसे आश्चर्य होता है कि इतने जंजालों का जाल खड़ा करके भागनेवाले मधुबन से भी तितली प्यार करती है। वह उससे स्पष्ट प्रश्न भी करती है, "तो तुम मधुबन को अब भी प्यार करती हो?" तितली इसका जो उत्तर देती है वह श्रद्धामयी हिन्दू नारी के प्रिय के प्रति अखंड विश्वास-भाव का परिचायक है—

"संसार भर उनको चोर, हत्यारा और डाकू कहे, किन्तु मैं जानती हूँ कि वह ऐसे नहीं हो सकते। इसीलिए मैं कभी उनसे घृणा नहीं कर सकती। मेरे जीवन का एक-एक कोना उनके लिए, उस स्नेह के लिए संतुष्ट है। मैं जानती हूँ कि वह दूसरी स्त्री को प्यार नहीं करते। कर भी नहीं सकते।"[1] उसकी दृष्टि में हिन्दू स्त्री का श्रद्धापूर्ण समर्पण उसकी साधना का प्राण है। उसकी व्यक्तिगत और समाजपरक साधना से बनजरिया सुख-शांति और स्वावलंब का नीड़ बन जाता है। उसकी यह लालसा कि प्रियतम के आने तक उनकी धरोहर को सँभाल-सँजो कर रखे रहूँ, पूर्ण होती है किन्तु अपने पुत्र मोहन को लेकर उठ खड़े होने वाले अपने चरित्रगत प्रवाद से वह घबरा जाती है। विपत्तियों से निरन्तर संघर्ष करनेवाला उसका पुरुष-पराक्रम इस वज्राघात से हार मान लेता है। अपने पुत्र मोहन के अटपटे प्रश्नों से उसे आशंका होती है कि, "संभव है यह मेरे जीवन का पुण्य मुझे ही पापिनी और कलंकिनी समझता हो तो क्या आश्चर्य!" तितली की कर्मठता, कर्तव्यपरायणता और दुर्दम आत्मशक्ति के भीतर छिपी सहज नारी की दुर्बलता—चरित्र पर लांछन लगने पर तिलमिला उठने वाली बेशब्री—प्रबल हो जाती है और अपने को गङ्गा की गोद में समर्पित कर अनन्त प्रतीक्षा तथा दुःसह ताप से त्राण पाने के लिए वह घर छोड़कर चल पड़ती है। तभी उसका उपास्य जीवन-युद्ध का थका सैनिक मधुबन सामने खड़ा मिल जाता है।

तितली के व्यक्तित्व में आदर्श भारतीय कुलवधू, कुशल और कर्मठ गृहिणी, वत्सला जननी और अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों के प्रति सजग नागरिक, आदि विभिन्न व्यक्तित्वों का उचित सामञ्जस्य दिखाई पड़ता है। इनसे समन्वित होकर वह अपने में पूर्ण एक गरिमामय नारी-

---

१—'तितली', २५०।

आदर्श की स्थापना करती है और उसकी महनीयता के सम्मुख पाश्चात्य नारीत्व को प्रतीक शैला को भी अंततः मुझकना पड़ता है।

(राजकुमारी का व्यक्तित्व एक हिन्दू बाल-विधवा का प्रतीक है, जिसकी दमित लालसाएँ संयम का बाँध तोड़कर कब उमड़ पड़ेंगी, कुछ कहा नहीं जा सकता।) प्रौढ़ वय में राजो की कामना के अकस्मात् उन्मेष, उतरते यौवन को सजाकर भाल में सिन्दूर के स्थान पर चूना और खैर मिलाकर बिन्दी लगाने की उसकी ललक, और इस नये चिकने पथ पर उसके धीरे-धीरे फिसलने को लेखक ने जिस संयमित कला से मनोवैज्ञानिक आधार पर चित्रित किया है, उससे उपन्यास का सामान्य चरित्र होकर भी राजो उसका एक सजीव आकर्षण बन गई है। ('कंकाल' को घंटी के पूर्वार्द्ध जीवन और राजो को एक ही चित्र के दो पहलू के रूप में साथ-साथ देखना और भी रोचक होगा।)

संवाद—'कंकाल' की अपेक्षा 'तितली' के संवाद अधिक कलापूर्ण और स्वाभाविक हैं। कथानक का अधिकांश भाग कथोपकथनों के माध्यम से व्यक्त हुआ है। 'कंकाल' के संवादों में कहीं-कहीं भाव, विचार या अलंकरण के बोझ के कारण कुछ-कुछ अस्वाभाविकता भी आ गई दिखाई पड़ती है, पर 'तितली' के संवादों में ऐसे स्थल नहीं हैं। स्वाभाविक वार्तालाप की अपेक्षा आकार की दृष्टि से भी वे भरसक बड़े नहीं होने पाये हैं। अपनी सांकेतिकता से परिस्थिति, कथा-सूत्र और चरित्रों के व्यक्तित्व पर वे यथेष्ट प्रकाश भी डालते चलते हैं।

रूप-विधान की दृष्टि से 'तितली' के संवाद मुख्यतः दो प्रकार के हैं—(क) पूर्ण नाटकीय रूप में आये हुए संवाद, (ख) पात्रों की मुद्रा, स्थिति और उनके कार्य-व्यापारों का भी निर्देश देने वाले संवाद। निम्नलिखित उदाहरण क्रमशः दोनों प्रकार के संवादों की मूलभूत विशेषताओं को उद्घाटित कर देते हैं :

(क) " 'मधुबन भइया, कुश्ती देखने न चलोगे ?'

'अकेले तो जाने की इच्छा न थी, पर जब तुम भी आ गये तो उधर ही चलूँगा।'

'भइया, लँगोट ले लूँ ?'

'अरे क्या मैं कुश्ती लड़ूँगा ?'

'कौन जाने कोई ललकार ही बैठे।'

'इस समय मेरा मन कुश्ती लड़ने लायक नहीं।'

'वाह भइया, यह भी एक ही रही। मन लड़ता है कि पैर ? ...'

'मधुबन अब कुश्ती नहीं लड़ सकता रामजस ! अब उसे अपनी रोटी-दाल से लड़ना है।' "[1]

(ख) " ... अनवरी से माधुरी कहने लगी—'तुमने ठीक कहा था मिस अनवरी !'

उसने माधुरी को अधिक खुलने का अवसर देते हुए कहा—'मैंने क्या ठीक कहा था ?'

'यही शैला के सम्बन्ध में ... ?

अनवरी गंभीर बन गई। उसने कहा—'बीबी रानी ! तुम लोगों को इनसे कभी काम नहीं पड़ा है। ये सब जादूगर हैं ... क्या यों ही सात समुद्र तेरह नदी पार करके आई हैं। और ... '

'पर तुमने भी मिस अनवरी ! शैला को अच्छा एक उखाड़ दिया। थोड़ा सा तो वह सोचेगी, बँगले से हटना उसे अखरेगा। क्यों ?' बीच ही में माधुरी ने कहा।' "[2]

शैली—शैली के क्षेत्र में, भाषा की दृष्टि से लेखक ने 'तितली' में

१—'तितली', पृ० १३७-३८।

२—'तितली', पृष्ठ ४६।

कुछ नये प्रयोग किये हैं। 'कंकाल' की भाषा में कुछ काव्यात्मकता और भावुकता का समावेश अधिक था, पर 'तितली' की भाषा सामान्य बोल-चाल की और व्यावहारिक है। काव्यात्मकता भी आई है पर वह बहुत विरल है।

रूप-चित्र और परिस्थिति-अंकन के स्थल भी 'कंकाल' की अपेक्षा विरल ही हैं, पर जो हैं वे सजीव और बिम्बात्मक हैं। तितली के निम्न-लिखित रूप-चित्र में चित्रण की सूक्ष्म कला के साथ-साथ भाषा के प्रवाहमय रूप और उसके स्वाभाविक माधुर्य का भी आभास मिल जाता है—
"उसकी काली रजनी-सी उनीदी आँखें जैसे सदैव कोई गंभीर स्वप्न देखती रहती हैं। लम्बा छरहरा अंग, गोरी-पतली उँगलियाँ, सहज-उन्नत ललाट, कुछ खिंची हुई भौंहें और छोटा-सा पतले-पतले अधरों वाला मुख—साधारण कृषक-बालिका से कुछ अलग अपनी सत्ता बता रहे थे। कानों के ऊपर से ही घूँघट था, जिससे लटें निकली पड़ती थीं। उसकी चौड़े किनारे की धोती का चम्पई रंग उसके शरीर में घुला जा रहा था। वह संध्या के निरभ्र गगन में विकसित होनेवाली—अपने ही मधुर आलोक से सन्तुष्ट—एक छोटी-सी तारिका थी।"[1]

वर्णनात्मक अंश में, गाँवों के प्राकृतिक दृश्यों, या ग्रामीणों के रहन-सहन को चित्रित करते हुए, लेखक ने कथा को प्रवाह देने के साथ-साथ विश्लेषण, स्थिति-चित्र और संकेतों के द्वारा प्रसंगों में स्वाभाविकता, रमणीयता और आकर्षण उत्पन्न करने का प्रयास किया है। इन्द्रदेव की डायरी के पृष्ठ, तृतीय खंड के प्रथम अनुच्छेद का ग्राम-जीवन-चित्रण और महन्त का गला घोंटकर भागते हुए मधुबन की मनःस्थिति का विवृत-विश्लेषणात्मक वर्णन आदि स्थल इसी ढंग के हैं। ऐसे स्थलों के

१—'तितली', पृ० ८४।

उदाहरणस्वरूप बाल विधवा तरुणी राजकुमारी के कार्य-कलापों का निम्नलिखित स्थिति-चित्र उक्त आशय को बहुत कुछ स्पष्ट कर देगा :

"राजकुमारी अपने बालों में कंघी कर चुकी थी। उसने दर्पण उठाकर अपना मुँह देखा। एक छोटी-सी बिन्दी लगाने के लिए उसका मन ललच उठा। रोली, कुंकुम और सिन्दूर वह नहीं लगा सकती, तब ? उसने नियम और धर्म की रूढ़ि बचाकर काम निकाल लेना चाहा। कत्थे और चूने को मिलाकर उसने बिन्दी लगा ली। फिर उसने दर्पण देखा। वह अपने ऊपर रीझ रही थी ...।"[1]

१—'तितली', पृ० १५४।

: ३ :

ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा और 'इरावती'

परम्परा

हिन्दी उपन्यास-साहित्य के जन्म के कुछ ही दशकों बाद, जहाँ उसके घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान और सामाजिक उपन्यास-रूपों ने अपना एक निश्चित विकास-पथ प्राप्त कर लिया, हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों की सरणी बहुत दिनों तक अपनी सुस्पष्ट दिशा न पा सकी। पं० किशोरीलाल गोस्वामी को हिन्दी का प्रथम ऐतिहासिक उपन्यासकार होने का गौरव प्राप्त है। उनकी 'लखनऊ की कब्र वा शाही महलसरा', 'तारा', 'रजिया बेगम', 'शोणित तर्पण' और 'कोहनूर' आदि कृतियाँ ऐतिहासिक उपन्यासों की कोटि में रखी जाती हैं, किन्तु अपनी घटनात्मक चमत्कारप्रियता, अतिशय रोमांस-भावना एवं धर्म तथा संस्कृतिविषयक अपने कतिपय कुछ पूर्वाग्रहों के कारण वे ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में सफल नहीं हो सके। उनके तथाकथित ऐतिहासिक उपन्यास, इतिहास के पृष्ठाधार पर स्त्री-पुरुष के नग्न क्रीड़ा-कौतुक एवं ऐयारी करिश्मों के भद्दे ढंग से चिपकाये हुए चित्र-जैसे जान पड़ते हैं। उनका लक्ष्य भी ऐतिहासिक-रस की सृष्टि करना नहीं, अपितु कल्पना-विहार ही था। 'तारा' की भूमिका में वे इस तथ्य को स्वयं स्वीकार भी करते हैं। इसी कोटि में 'रानी दुर्गावती', 'वीर पत्नी अथवा रानी संयोगिता', 'चौहानी तलवार', 'सोने की राख', 'अवध की बेगम' आदि विभिन्न लेखकों द्वारा लिखित उपन्यास भी रखे जा सकते हैं। श्यामबिहारी मिश्र और

शुकदेवबिहारी मिश्र कृत 'वीरमणि' इस दिशा में एक नया कदम अवश्य प्रतीत होता है, पर ऐतिहासिक वातावरण की सर्जना में फिर भी लेखकद्वय विफल ही रहे हैं। व्रजनन्दन सहाय के 'लाल चीन' को इस विषय में कुछ अधिक सफलता अवश्य मिली है, किन्तु विद्वानों के आरोपानुसार यह शेक्सपियर के 'मैकबेथ' का, मध्यकालीन मुस्लिम भारत के वातावरण में, रूपान्तर मात्र है।

इस अन्धकारभरे क्षेत्र में वृन्दावनलाल वर्मा का 'गढ़कुण्डार' (१६२० ई०) प्रथम बार एक प्रकाश-किरण के रूप में आया। किन्तु 'गढ़कुण्डार' की परंपरा का विकास न हो सका। १६३६ ई० में वृन्दावन लाल की 'विराटा की पद्मिनी' प्रकाश में आयी, जिसे वस्तु और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से पर्याप्त भेद होते हुए भी जहाँ तक इतिहास और 'ऐतिहासिक रस' का प्रश्न है, 'गढ़कुण्डार' की अपेक्षा भगवती-चरण वर्मा की 'चित्रलेखा' के निकट की ही कृति कहा जा सकता है।

वास्तव में जिसे 'ऐतिहासिक रस' की संज्ञा दी जाती है और जिसे रवि बाबू ने अलंकारशास्त्र में निर्दिष्ट नौ रसों के अतिरिक्त एक दशम रस के रूप में स्वीकार किया है,[१] उसका आभास हिन्दी का कोई भी उपन्यास अब तक नहीं दे सका था। 'गढ़कुण्डार' भी, जिसे अब तक प्रकाशित ऐतिहासिक उपन्यासों में सर्वश्रेष्ठ कहा जा सकता है, 'ऐतिहासिक रस' की अपेक्षा 'ऐतिहासिक तथ्य' और विवरण ही अधिक दे सका। इसके अनेकानेक प्रकरणों की रगड़ में इतिहास के तथ्यों पर की हुई कल्पना की कोमल पालिश समाप्त हो गई है और अंततः लेखक इतिहास को अपने चित्रित व्यक्तियों के व्यक्तित्व में जगा नहीं पाया है।

हिन्दी ऐतिहासिक उपन्यासों की इस विकलाङ्ग-धारा से खरस्रोता

१—'साहित्य': रवीन्द्रनाथ ठाकुर, अनु० वंशीधर विद्यालंकार, पृ० १०२–१०३।

पयस्विनी के रूप में 'इरावती' मिलने ही जा रही थी, किन्तु लेखक की असामयिक मृत्यु के कारण अपनी महती संभावनाओं के साथ वह बीच ही में सूख गई। इसमें इतिहास के सजीव वातावरण-निर्माण के अतिरिक्त अपनी सृजनशीला कल्पना के प्रत्यभिज्ञान से, लेखक ने इतिहास के विशेष और परिमित सत्य के साथ साहित्य के नित्य और व्यापक सत्य का सामञ्जस्य-स्थापन करना चाहा था, किन्तु वह चाह हिन्दी के लिए अधूरे स्वप्न-सी अधूरी ही रह गई। यदि 'इरावती' पूर्ण हो गई होती, तो निश्चय ही 'आनन्दमठ', 'शशांक', 'करुणा' आदि उच्च कोटि के बँगला ऐतिहासिक उपन्यासों के मेल में रखने योग्य हिन्दी में भी एक उपन्यास हो जाता। तब कदाचित हिन्दी भी यह गौरव के साथ कह सकती कि इतिहासकार केवल द्रष्टा होता है, ऐतिहासिक उपन्यासकार द्रष्टा तो होता ही है, स्रष्टा भी होता है।

'इरावती' : विचारगत विवेचन एवं देश-काल-

'इरावती' की मूल समस्या सांस्कृतिक है। इसकी पांडुलिपि के साथ प्राप्त लेखक का संकेतपत्र उसकी विचारधारा को और भी स्पष्ट कर देता है। उसका कथन है कि, "मानवता ने अपने युगों के जीवन में सृष्टि का विनाश किया है और विनाश से सृष्टि की है।...अति सुन्दर बनाने के लोभ में वस्तु को वीभत्स बना दिया जाता है, फिर तो उससे नाता तोड़ लेना आवश्यक हो जाता है। हमारी अहिंसा अब हमारी हिंसा करने लगी है। हमारा प्रेम हमीं से द्वेष करने लगा। और देखो, धर्म पाप बनता जा रहा है।" इतिहास साक्षी है कि सम्राट अशोक को अश्रुतपूर्व धर्मविजय की लालसा ने साम्राज्य की शक्ति को कमजोर कर दिया था और उनकी मृत्यु के पश्चात् वह बहुत दिनों तक स्थिर नहीं रह सका। साथ ही अहिंसा, प्रेम और जीव-मंगल का आदर्श लेकर चलने वाला बौद्ध-धर्म भी दिन-प्रतिदिन विनाश की ओर अग्रसर होता गया—उसकी अहिंसा हिंसा से भी घोर बनती गई, उसका प्रेम घृणा से भी कटु

होता गया और त्याग एवं करुणा के केन्द्र संघ, व्यभिचार तथा राजनीतिक षड्यन्त्रों के अड्डे बनते गये। लेखक ने अशोक की मृत्यु के पश्चात् के आर्य-साम्राज्य तथा बौद्ध-धर्म के इसी जर्जरीभूत स्वरूप को लेकर यह चित्रित करने का यत्न किया है कि मानवता विनाश के इन आवर्तों को पार कर, एक नव-निर्माण की ओर धीरे-धीरे अग्रसर हो रही थी।

इतिहास के इस पृष्ठाधार को लेकर प्रसादजी ने 'इरावती' में बौद्ध-धर्म के दुःखवाद के विरुद्ध आनन्दवाद की, एवं बौद्धों के विवेकवाद के विरुद्ध आर्य-संस्कृति के कर्मवाद की प्रतिष्ठा का प्रचार किया है। एक ओर तो बौद्ध-विहारों और संघों में विजयी सम्राट वृहस्पतिमित्र की कुत्सित नीति का प्रभुत्व बढ़ रहा है, दूसरी ओर महाकाल-मंदिर का ब्रह्मचारी निराश आर्यजाति में शास्त्रों के अध्ययन से प्राप्त आनंदवाद के प्रचार के लिए उत्तरापथ की यात्रा कर रहा है। उसके अनुसार आनंदवाद का यह रहस्य-ज्ञान नया नहीं है, "है तो यह चिरंतन, किन्तु अब जैसे जीर्ण हो चला है। नवीनता का उस पर आवरण चढ़ाना होगा।"[1] उसे क्षोभ है कि आर्य-धर्म के कर्मवाद के खण्डन में बौद्धों ने जिस विवेकवाद और अहिंसा का प्रचार किया, उसने आर्यजाति को कायर एवं आर्य-साम्राज्य को पंगु बना दिया। अतएव, "प्राचीन आर्य वीर-संस्कृति को लौटाने के लिए उन प्राचीन कर्मों को फिर से आरंभ करना होगा, जिन्हें विवेक के अतिवाद के कारण मानवता के लिए हमने हानिकर समझ लिया था।...भय से फैले विवेक ने हमारी स्वाभाविकता का दमन कर दिया है...हम आत्मावान हैं, हमारा भविष्य आशामय है, इस आर्यभाव का प्रचार करना आवश्यक है।...इस बौद्धिक दम्भ के अवसाद को आर्यजाति से हटाने के लिए आनन्द की प्रतिष्ठा करनी होगी।"[2]

१—'इरावती', पृ० २१।
२—'इरावती', पृ० २१-२९।

कहा जा सकता है कि 'इरावती' में 'कामायनी' के आदर्शों की व्याख्या कर, उन्हें सुस्पष्ट ढंग से सजाने का प्रयास चल रहा था। बुद्धिवाद के अतिरेक के विरुद्ध दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक ढंग से आनन्दवाद का उद्घोष ही तो 'कामायनी' का भी विषय था! वहाँ आनन्दवाद की जिस पीठिका पर व्यावहारिक-जीवन की सफलता के लिए 'सामरस्य-सिद्धान्त' की प्रतिष्ठा की गई थी, उसी ओर 'इरावती' का भाव-स्रोत भी अभिमुख होकर बह रहा था। आनन्दवादी ब्रह्मचारी और अग्निमित्र का संवाद लेखक के उक्त दृष्टिकोण को बहुत कुछ स्पष्ट कर देता है—"अग्निमित्र ने कहा—'ब्रह्मचारिन्! मैं तुम्हारी बात समझ रहा हूँ। तुम प्रत्येक परिस्थिति से तादात्म्य कर लेना चाहते हो न?'

'हाँ, मेरी विचारधारा पंगु नहीं, उन्मुक्त नील आकाश की तरह विस्तृत, सबको अवकाश देने के लिए प्रस्तुत। चारों ओर आनन्द की सीमा में प्रसन्न! और वह प्रसन्नता प्रत्येक अवस्था में रहने वाले प्राणियों के विरुद्ध न होगी। चारों ओर उजला-उजला प्रकाश जैसा, जिसमें त्याग और ग्रहण अपनी स्वतन्त्र सत्ता अलग बनाकर लड़ते नहीं। विश्व का उज्ज्वल पक्ष अंधकार की भूमिका पर नृत्य करता-सा दीख पड़े, सबको आलिंगित करके आत्मा का आनन्द स्वस्थ, शुद्ध और स्ववश रहे, यह स्थिति क्या अच्छी नहीं?' (ब्रह्मचारी ने उत्तर दिया)।"[1]

युग-प्रवर्तक वर्तमान के संघर्षों का निदान उसकी दीर्घकालव्यापी परम्परा को परख कर किया करता है, और वह उनको उपशमित कर देने-वाली औषधि को न खोजकर उनका स्थायी मूलोच्छेद करनेवाली औषधि का संधान करता है। 'प्रसाद' ऐसे ही युग-प्रवर्तक थे। उन्होंने युग के संघर्षों और विक्षुब्ध हाहाकार के पीछे विशुद्ध बौद्धिकता की नींव पर खड़ी भौतिकता की दीवार को ही सारे कण्टकों का मूल समझा और

१—'इरावती', पृ० १०४।

शीला सुन्दरी है। विदिशा के कुलपुत्र प्रतिवेशी अग्निमित्र से उसका बाल्यकाल में ही प्रेम हो जाता है, किन्तु अग्निमित्र के गुरुजनों के प्रतिरोध से सम्बन्ध संभव नहीं हो पाता। निराश इरावती स्वावलम्ब के लिए कला का आश्रय ग्रहण कर नर्तकी बन जाती है। एक दिन महाकाल के मन्दिर में विग्रह के समक्ष नृत्य-निरत इरावती पर अकस्मात् विषयी वृहस्पतिमित्र की दृष्टि पड़ती है और अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए, धर्म के नाम पर विलासिता का प्रचार करने का आरोप लगाकर, वह उसे बौद्ध-विहार में भिक्षुणी बनाकर भेज देता है। विहार में भी एक बार चाँदनी रात के वैभव से प्रभावित होकर वह अपने शुभ्र जीवन की अभ्यर्थना में नाच उठती है, और संघ के नियमों की अवज्ञा के अपराध में उसे विहार से भी निकल जाना पड़ता है। अन्ततः वह वृहस्पतिमित्र के अन्तःपुर में पहुँचाई जाती है जहाँ कालिन्दी नाम की एक दूसरी नारी-पात्र वृहस्पतिमित्र की विषय-लिप्सा से उसकी रक्षा करती है।

यह कालिन्दी विनष्ट नन्दवंश की कन्या है, जो गंगाधर मन्दिर में परिचारिका रूप में रह कर स्वस्तिक-दल के विद्रोहियों को प्रोत्साहन देती हुई, उनकी सहायता से मौर्य-सम्राट से प्रतिशोध लिया चाहती है। कालिन्दी भी साम्राज्य के महादण्डनायक पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र पर आसक्त हो जाती है और उसकी सहायता से नन्दराज के कोष की कुंजी प्राप्त कर लेती है।

इरावती, कालिन्दी और अग्निमित्र का प्रेम-त्रिकोण ही उपन्यास के अन्तरंग का मूल केन्द्र-विन्दु है। इस मूल-कथा से लिपटी हुई श्रेष्ठि धनदत्त और उसकी स्त्री मणिमाला की उपकथा है। महाकाल-मन्दिर के ब्रह्मचारी की उत्तरापथ-यात्रा भी उपन्यास की एक दूसरी उपकथा है। ये उपकथाएँ क्रमशः सामाजिक और धार्मिक वातावरण के चित्रण को सजीवता देने में स्फुट रेखाओं का काम करती हैं।

अन्त में उपन्यास की अन्तःकथा और बाह्य कथा, उसकी मूल कथा

एवं उपकथाएँ परस्पर घात-प्रतिघात के साथ श्रेष्ठि धनदत्त के अतिथि-आयोजन में एक दूसरी से संग्रथित होने जा ही रही थीं—बहुत कुछ निकट आ भी गई थीं—कि उपन्यास का घटनाचक्र यहीं सहसा रुक जाता है। इस आयोजन में उपन्यास के सभी मुख्य पात्र उपस्थित थे—कलिंग सम्राट खारवेल छद्मवेश में वीणा-वादन कर रहा था, इरावती नृत्य कर रही थी, कालिन्दी भी इरावती के साथ वहाँ उपस्थित थी, अग्निमित्र भी अतिथि के रूप में वर्तमान था। पर वीणा-वादक युवक और कोई नहीं सम्राट खारवेल ही है, अकस्मात् यह रहस्य उद्घाटित हो जाता है। साथ ही पता चलता है कि स्वस्तिक दल के विद्रोहियों ने श्रेष्ठि-प्रासाद घेर लिया है। अब तक नृत्यरत इरावती की ओर छद्मवेषी खारवेल की लोलुप दृष्टि देखकर अग्निमित्र उसके प्रति ईर्ष्या-भाव से जल रहा था, किन्तु इस आकस्मिक रहस्योद्घाटन से वह तुरन्त खारवेल की प्राण-रक्षा के लिए कटिबद्ध हो जाता है। बस, यहीं उपन्यास भी समाप्त हो जाता है।

'इरावती' की सभी मुख्य घटनाएँ इतिहास-पुष्ट हैं। कुछ इतिहासकार तो वृहस्पतिमित्र एवं पुष्यमित्र को एक ही व्यक्ति मानते हैं, किन्तु पुराणों में 'वृहद्रथ' नाम आता है, जिसे शतधन्वा का पुत्र बतलाया गया है। प्रसाद ने वृहद्रथ को वृहस्पतिमित्र और शतधन्वा को शतधनुष माना है। महामेघवाहन खारवेल के नाम के अनेक ताम्रपत्र मिले हैं और हाथी-गुम्फा के शिलालेख से उसकी विस्तृत प्रशस्ति प्राप्त होती है। उसका मगध-नरेश को हराकर अशोक की कलिंग-विजय का बदला लेना भी इतिहासानुमोदित घटना है। पुष्यमित्र और अग्निमित्र भी इतिहास-प्रसिद्ध पात्र हैं, जो बाद में स्थापित होनेवाले शुंगवंश के क्रमशः प्रथम और द्वितीय सम्राट हुए। इतिहास के अनुसार पुष्यमित्र वृहद्रथ का सेना-पति था, और उसने उसे समाप्त कर नये राजवंश की नींव डाली। 'इरा-वती' में भी पुष्यमित्र बड़े वेग से शक्ति-संकलन करता हुआ दिखाई पड़ता है। उपन्यास के पात्रों में वही सर्वाधिक क्रियाशील पात्र है। अन्य

पात्रों—ब्रह्मचारी, कालिन्दी, धनदत्त एवं मणिमाला का कोई इतिहास-सम्मत आधार नहीं। किन्तु वातावरण को सजीवता देने के लिए इनकी अवतारणा अत्यन्त संगत तथा समीचीन जान पड़ती है। ब्रह्मचारी 'इरावती' का दार्शनिक-विवेचक है, जो बौद्धधर्म के कंकाल को हटाकर नये आर्य-धर्म की प्रतिष्ठा करना चाहता है। कालिन्दी जर्जर राजनैतिक स्थिति एवं उपन्यास की मुख्य घटना इरावती-अग्निमित्र के प्रेम-व्यापार को उत्कर्ष देने के लिए कल्पित की गई है। धनदत्त और मणिमाला भी सामाजिक वातावरण तथा तत्कालीन धनिक-वर्ग की मनोवृत्ति का परिचय कराने के लिए निर्मित किये गये कल्पित पात्र हैं। इन सब पात्रों के अतिरिक्त स्वयं इरावती, जो उपन्यास की नायिका है, नाम से तो इतिहास-सम्मत चरित्र है, किन्तु अपने स्वरूप की दृष्टि से कल्पित है। वैसे तो 'मालविकाग्निमित्र' में अग्निमित्र की द्वितीया रानी के रूप में इरावती का उल्लेख मिलता है, किन्तु वहाँ वह ईर्ष्यालु एवं असंयत-भाषिणी रमणी के रूप में ही आई है। प्रसाद ने उसका गरिमामय और कला-सेवी गंभीर स्वरूप अंकित किया है।

सर्वांशतः कहा जा सकता है कि उपन्यास चाहे अपनी संपूर्णता में इतिहास-सिद्ध न हो, पर वह इतिहास के संभावित सत्य से दूर नहीं है। प्राचीन युग की प्रवृत्तियों के जीवंत चित्रण, उपाधियों के उचित प्रयोग, प्रचलित रीति-नीतियों के यथास्थान अंकन एवं सामाजिक-सांस्कृतिक उथल-पथल के बिम्बात्मक रूपोल्लेख द्वारा लेखक ने युग के सुसुप्त इतिहास को जगाकर उसे प्राणवान बना दिया है। उपोसथागार, चंक्रम, प्रवारणा, श्रामणेरी, संघाटी, उपसंपदा, शिक्षमाणा तथा पापदेशना सदृश बौद्धधर्म से संबद्ध शब्दावली; प्रतिहार, कुमारामात्य, बलाधिकृत, दण्डनायक, महादण्डनायक, व्यावहारिक, आमात्य, संधि-विग्रहिक, आन्तर्देशिक प्रभृत् राजनैतिक शब्दावली; कलिंग, विदिशा, रोहिताश्व, राजगृह, मुद्गिरि आदि स्थानों के प्राचीन नाम एवं सर्वोपरि लेखक की

सशक्त भाषा और गम्भीर शैली बौद्धयुगीन हिन्दू भारत के चित्रण के लिए वातावरण तैयार करने में सहायक सिद्ध हुई है। "और फिर प्रसाद अपने उन अंतःस्थित संस्कारों की प्रेरणा से रोमानी कल्पना द्वारा प्राचीन रीति-नीति, उत्सव आदि का इतना सटीक, अनुभूतिप्रवण वर्णन करते हैं कि समस्त वातावरण जगमग हो उठता है।"[1]

'इरावती' : शिल्पगत विवेचन

कथा-वस्तु के कलात्मक संगठन के बारे में यही कहना अलम् होगा कि यहाँ अनेक सफल नाटकों के रचयिता प्रसाद ने अपने परिपक्व अनुभव के आधार पर कथा-क्रम को अत्यन्त कुशलता से सँजोया है। अधूरे उपन्यास की मूल-कथा एवं सहायक उपकथाएँ ऐसे प्रवाह से अपने मार्ग पर अग्रसर होती दिखाई पड़ती हैं कि इस बात का स्पष्ट आभास मिलने लगता है कि आगे चलकर सभी अन्वित हो जायँगी। राजनैतिक कथा का सूत्र धीरे-धीरे बृहस्पतिमित्र के हाथ से निकल कर पुष्यमित्र के हाथों में आता जा रहा था, प्रेम-त्रिकोण का तनाव अपने शीर्षबिन्दु पर पहुँच रहा था और उपकथाएँ मूल-कथा को छूने-छूने हो रही थीं कि सहसा ही सब कुछ अवरुद्ध हो गया। 'इरावती' के वस्तु-संगठन की दूसरी विशेषता इसकी सक्रियता है। जान पड़ता है घटनाएँ विकास-पथ पर दौड़ती हुई चल रही हैं, कहीं अवरोध नहीं, कहीं मंथरता नहीं।

देश-काल-चित्रण एवं कथा-वस्तु का उल्लेख हो जाने पर शिल्प-विधान की दृष्टि से उपन्यास के केवल दो प्रमुख तत्त्व और अवशिष्ट रह जाते हैं—संवाद एवं चरित्र-चित्रण। जहाँ तक 'इरावती' के संवादों का प्रश्न है, यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि इसके संवाद प्रसाद के पिछले उपन्यासों की अपेक्षा अधिक संयत, स्वाभाविक एवं

१—'प्रसाद' मासिक-पत्र का 'प्रसाद-विशेषांक', : 'इरावती' लेख—ले० डा० नगेन्द्र।

चुस्त हैं। न तो उनमें अनपेक्षित रूप से भाषा की क्लिष्टता है और न भावों की उलझन। यहाँ तक कि गंभीर दार्शनिक तर्क-वितर्कों को भी बोधगम्य बनाकर व्यक्त करने का प्रयास किया गया है। 'इरावती' के संवादों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनके द्वारा चरित्र-चित्रण को यथेच्छ निखार तथा घटना-प्रवाह को पर्याप्त वेग मिलता चलता है। अग्निमित्र एवं पुष्यमित्र के संभाषण का केवल एक उदाहरण इन उल्लिखित विशेषताओं में से अधिकांश का परिचायक होगा—"पुष्यमित्र ने कड़क कर कहा, 'लाओ, वह ताम्रपत्र कहाँ है?'

'ताम्रपत्र !'

'हाँ ताम्रपत्र ! जिसे पुजारी ने तुमको दिया है। जानते हो, वह राज-सम्पत्ति है।'

'अग्निमित्र को वह मिला है पिताजी, और इस नियम पर कि उसका रहस्य किसी को न बताया जाय।' दृढ़ता से अग्निमित्र ने कहा।

'हाँ, तब तो ठीक है।'

'और सुनिये, मैं इस अत्याचारी मगध-सम्राट का कोई भी कार्य-भार अपने कंधों पर नहीं उठाता। आप मुझे नायकत्व से छुट्टी दिला दीजिए। मैं अनुग्रह का भिखारी नहीं।'

'वह तो मैं स्वयं ही कहने जा रहा था। तुम अविश्वसनीय हो...अच्छा, अब तुम मुक्त रहना चाहते हो, या बन्दी-गृह में?'

'जैसी आप की आज्ञा होगी !'

'मैं पिता हूँ, इसीलिए तुम मुझ पर इतना अत्याचार कर रहे हो। नहीं तो ... '

'मैं जानता हूँ कि अब तक मैं कहाँ होता, परन्तु जब एक अत्याचारी सम्राट का इतना समर्थन आप करते हैं, तब एक पुत्र के

लिए भी कुछ न करेंगे ?' अग्निमित्र भरा हुआ था ।"[१]

कर्मठ पुष्यमित्र का कर्तव्य-बुद्धि से अनुशासित पितृत्व एवं अग्निमित्र का निर्भीक वीर व्यक्तित्व इस छोटे से संवाद से भली प्रकार व्यञ्जित हो जाता है । पुष्यमित्र के हृदय का द्वन्द्व उघड़कर सामने आता है ।

एक बात और भी उल्लेखनीय है कि 'इरावती' में वर्णन-विवेचन एवं रूपचित्रण की अपेक्षा संवादों की योजना बहुत अधिक है । जान पड़ता है लेखक स्वयं कम कहना चाहता है, पात्रों से ही विशेष कहलवाना चाहता है ।

वैसे तो 'इरावती' उपन्यास के चरित्र-चित्रण के साथ-साथ इसके उद्देश्य एवं जीवन-दर्शन के बारे में भी विद्वानों की धारणा है कि उपन्यास की अपूर्णता के कारण ये तीनों तत्व अनस्फुट ही रह गये हैं तथा "इन तीनों तत्वों के विषय में कथित के आधार पर कथनीय का अनुमान भर लगाया जा सकता है"[२], किन्तु उद्देश्य तथा जीवन-दर्शन का आभास तो अधूरे उपन्यास से भी बहुत कुछ मिल जाता है, जबकि चरित्र-चित्रण अनुमान का सहारा लेने पर भी अधूरे चित्र-सा अधूरा ही रह जाता है ।

जहाँ तक इतिहास-प्रसिद्ध चरित्रों का सम्बन्ध है, अनुमान लगाया जा सकता है कि उनका आगे का विकास भी इतिहासानुमोदित ढंग पर ही होता । अर्थात् विषयी वृहस्पतिमित्र का पतन होता और पुष्यमित्र के हाथों में सत्ता आती । कथित उपन्यास में अग्निमित्र का जो मनस्वी, धीर और असाधारण कार्यकुशल रूप सामने आ सका है, उसके आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि 'स्कन्दगुप्त' के समान वह भी अन्ततः सफल हुआ होगा । संभवतः इरावती ने भी उसे वरण ही कर

१—'इरावती', पृ० ४५ ।

२—'प्रसाद' : प्रसाद-विशेषांक—'इरावती' शीर्षक डा० नगेन्द्र का लेख ।

लिया होगा। किन्तु कालिन्दी, ब्रह्मचारी, धनदत्त और मणिमाला के बारे में जिज्ञासाएँ फिर भी जिज्ञासाएँ ही रह जाती हैं। जहाँ तक कालिन्दी का प्रश्न है, आरम्भ में तो वह 'स्कन्दगुप्त' की विजया के सदृश अग्निमित्र के प्रति समर्पण-भाव लेकर आती है, किन्तु बाद में उसके सदृश अपनी प्रणय-प्रतिरोधिनी इरावती के प्रति प्रतिशोध-भाव से विदग्ध न होकर, अपनी असाधारण सहिष्णुता का परिचय देती है। विहार से भागने पर इरावती को अपने मन्दिर में शरण देती है, बृहस्पतिमित्र की कुत्सित लिप्सा से उसे बचाती है तथा श्रेष्ठि धनदत्त के यहाँ मणिमाला द्वारा उसका अपमान होने पर अपना रोष प्रकट करती है। अपूर्ण उपन्यास के अधिकांश कथा-सूत्र उसी से सम्बद्ध हैं। कार्यकुशला होने के साथ-साथ वह स्पष्ट भाषिणीभी है। बृहस्पतिमित्र के प्रेम-प्रदर्शन करने पर वह स्पष्ट कहती है कि मुझ पर विश्वास न कीजिए, मैं नन्दवंश की राजनन्दिनी हूँ। कौन जाने, बंकिम की 'दुर्गेशनन्दिनी' की आयशा या 'चन्द्रगुप्त' नाटक की कल्याणी के सदृश आगे चल कर वह प्रिय के सौख्य-संवर्द्धनार्थ अपने को प्रणय की वेदी पर उत्सर्ग कर देती या क्या करती।

नायक-नायिका अभी घटनाओं के भोक्ता रूप में सामने आ ही रहे थे। इनके चरित्र की कुछेक रेखाओं से अधिक नहीं विकसित हो सकी हैं। इरावती का अग्निमित्र से उपन्यास के आरम्भ में ही कहा हुआ एक वाक्य—'मैं जीवन-रागिनी में वर्जित स्वर हूँ, मुझे छेड़कर तुम सुखी न हो सकोगे'—उपन्यास में व्यक्त उसके व्यक्तित्व के अधिकांश पक्षों को व्यंजित कर देता है—प्रणय-क्षेत्र में निराशा से उत्पन्न मानसिक अवसाद एवं प्रेम-गर्भित विरक्ति, यही इरावती का अपना स्वरूप है।

वास्तव में अभी तक 'इरावती' की पृष्ठभूमि ही प्रस्तुत हो सकी थी। वह पृष्ठभूमि कितनी पूर्ण, प्रशस्त और कलामयी है, इसे देखकर ऐसा विश्वास होता है कि लेखक की उन्मेषशालिनी प्रतिभा इस पर जो चित्र बनाती वह निश्चय ही अनुपम और अमूल्य होता। प्रसाद का साहित्य

इस बात का साक्षी है कि वे इतिहास में जितने ही गहरे डूब सके हैं, तमाच्छन्न वर्तमान को आलोकित करने वाले उतने ही प्रकाशमान रत्नों की उन्हें उपलब्धि हुई है। काव्य और नाटक की अपेक्षा उपन्यास की विधा में इतिहास-मंथन करने के लिए उन्हें अपेक्षाकृत अधिक सुविधा और अवकाश था। इन सबका वे कैसा उपयोग करते, इसका भी आशा-पूर्ण निर्देश अधूरे उपन्यास से मिल जाता है। किन्तु यह निर्देश ही प्रसाद के प्रयास का मूल्यांकन करनेवाली कसौटी बन कर शेष रह गया और उपन्यास की पूर्णता तो दूर, अधूरे खंड का अंतिम वाक्य तक अपरि-समाप्त छूट गया—'वर्षा कुछ कम...' की सूचना देकर ही 'इरावती' की करुण धारा सूख गई।

तृतीय खंड

[उपसंहार]

१—हिन्दी कथा-साहित्य और प्रसाद

: १ :

हिन्दी कथा-साहित्य और प्रसाद

हिन्दी साहित्य में कथाकार के रूप में प्रसाद को जो उचित महत्व मिलना चाहिए था, वह समालोचकों द्वारा शायद उन्हें मिल नहीं सका। जहाँ तक प्रसाद की कहानियों का प्रश्न है, हिन्दी कहानी की परंपरा में उनका अपना एक अलग वर्ग ही है। जिस समय वे कहानी-क्षेत्र में आये, हिन्दी कहानी की न तो अपनी कोई निर्दिष्ट दिशा स्पष्ट हो सकी थी, न उसका कोई निश्चित स्वरूप सामने आ सका था। बँगला कहानियों का आतंक छाया हुआ था, अनुवादों की धूम थी और जो मौलिक कहानियाँ आ भी रही थीं, उनकी कोई परंपरा न बन पाती थी। प्रसाद जी ने न केवल मौलिक और कलापूर्ण कहानियों की एक अविच्छिन्न परम्परा का सूत्रपात किया, हिन्दी पाठकों के सम्मुख रस-सिक्त, अनुभूति-तरल मौलिक कहानियाँ रखकर उनके बँगला-स्वाद को यथेच्छ तृप्ति दी, प्रेरणा और प्रोत्साहन से अनेक मौलिक कहानीकारों को उत्पन्न किया, वरन् अपनी कलात्मक प्रतिभा के वरदान से उन्होंने हिन्दी-कहानी के एक स्वरूप को विकास की चरमसीमा पर अधिष्ठित भी कर दिया। आज भी, जब कि हिन्दी कहानी का शिल्प बहुत विकसित हो चुका है, 'आकाशदीप', 'स्वर्ग के खँडहर में', 'समुद्र-सन्तरण', 'बिसाती', 'आँधी', 'मधुआ', 'दासी', 'पुरस्कार', 'इन्द्रजाल', 'सलीम', 'नूरी', 'गुंडा', 'देवरथ' और 'सालवती' की कला पुरानी नहीं प्रतीत होती। 'इन्द्रजाल' संग्रह की 'परिवर्तन', 'सन्देह', 'भीख में' और 'चित्र-मन्दिर' आदि

कहानियों से तो ऐसा लगता है कि यदि प्रसाद जी कुछ दिन और जीवित रहते तो हिन्दी-कहानी के संक्रांतियुगीन कहानीकारों के समान वे विशुद्ध मनोविश्लेषणात्मक कहानियों के भी कुछ उत्कृष्ट उदाहरण छोड़ जाते।

उपन्यास-क्षेत्र में भी प्रसाद का कम महत्व नहीं। 'कंकाल' हिन्दी का प्रथम विचार-प्रधान उपन्यास है। युग की सुधार-प्रेरित समझौतावादी नीति के विरुद्ध, 'कंकाल' के लेखक ने ही प्रथम बार अपना अविश्वास-भरा उग्र स्वर बुलन्द किया और यह भी स्मरणीय है कि हिन्दी-उपन्यास-साहित्य में 'कंकाल' के द्वारा ही विशुद्ध यथार्थांकन की परम्परा का प्रवर्तन हुआ। किन्तु प्रसाद के व्यक्तित्व का मूल अंश उच्छेदक क्रान्तिकारी की अपेक्षा विधायक और सर्जक अधिक था। अतएव 'कंकाल' के विगलित, रुग्ण एवं जर्जरीभूत समाज के लिए उन्होंने 'तितली' में एक नवीन और आशापूर्ण जीवन-दिशा की ओर निर्देश किया। सामन्तीय व्यवस्था की ढहती दीवारों, आर्थिक युग के थपेड़ों से हिलती हुई भारतीय सम्मिलित कुटुम्ब की टूटती कड़ियों और ग्राम-जीवन की अनेकरूप समस्याओं के यथार्थ-चित्रण के साथ ही, व्यापक रूप से भारतीय जीवन में भौतिक समस्याओं के समानान्तर उपस्थित सांस्कृतिक समस्या की ओर भी उन्होंने दृष्टिपात किया। तितली जैसी गरिमामयी नारी-चरित्र का निर्माण कर, उसके जीवन में बाबा रामनाथ के समयोपयोगी, सर्वग्राही, सन्तुलित जीवन-दर्शन की प्रयोगात्मक सफलता संकेतित कर, उन्होंने इन अनेकशः समस्याओं का समाधान भी उपस्थित किया। इङ्गलैंड से भारत तक कथा-सूत्रों को फैला कर 'तितली' ने जैसे युग की प्रमुख धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, कौटुम्बिक और नैतिक—अनेक प्रकार की समस्याओं को अपनी चेतना की परिधि में समेट लिया है। क्षेत्र के इतने संप्रसारण के कारण यद्यपि हर समस्या को 'तितली' का लेखक उचित रूप से विन्यस्त नहीं कर सका है, पर अपनी अन्तर्प्रवेशिनी दृष्टि से उसने हर समस्या के मूलविन्दु और विभिन्न पहलुओं की ओर संकेत अवश्य कर दिया है। ऐतिहासिक

उपन्यासकार के रूप में 'इरावती' अपने अधूरेपन में भी प्रसाद के महत्व को यथेष्ट ज्ञापित कर देती है। ऐतिहासिक परिप्रेक्षण और उसके साथ साहित्यिक रसात्मकता के विवेकपूर्ण समन्वय की बड़ी ही भव्य और मनोरम भूमिका इस अपूर्ण उपन्यास में सुलभ होती है।

प्रसाद-युग से आज का युग बहुत बदल चुका है—मानव-मूल्यों में परिवर्तन हुआ है, जीवन-परिस्थिति और जीवन-दर्शन में परिवर्तन हुआ है, यहाँ तक कि व्यक्ति का स्वयं अपने को देखने का दृष्टिकोण भी बदल चला है। प्रेमचन्द और प्रसाद के युग में ही सामाजिक और वैयक्तिक मूल्यों के संघर्ष का सूत्रपात हो चुका था। प्रेमचन्द के 'सेवा-सदन' और 'प्रेमाश्रम' में इस संघर्ष की सूक्ष्म झाँकी मिलती है। किन्तु 'कंकाल' में इसका बड़ा ही तीखा और तलख चित्रांकन हुआ है। 'तितली' में सन्तुलन तथा समन्वय की भूमि पर उतरकर समस्या के संयमित चित्रण के साथ ही उसका समाधान निर्देशित करने का भी प्रयास परिलक्षित होता है। पुरातन नैतिक मानदंडों के प्रति विद्रोह तथा नये मूल्यों की स्थापना के प्रति आग्रह भाव लेकर, बाबू भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' से पाँच वर्ष पूर्व, १६२६ ई० में ही 'कंकाल' प्रकाश में आ चुका था। अस्फुट रूप से उठाये गये इन प्रश्नों को ही 'चित्रलेखा' 'शेखर : एक जीवनी', 'संन्यासी' तथा जैनेन्द्र के उपन्यासों और कहानियों में नया विकास मिला।

निश्चय ही हिन्दी कथा-साहित्य का प्रसार आज बहुत व्यापक हो गया है—वस्तु-तत्व और शिल्प-विधान हर दृष्टि से वह बहुत आगे बढ़ चुका है। किन्तु जैसे विकासकामी अगले उठे हुए डग को भूस्थित पिछला डग बल, प्रेरणा और गति प्रदान करता है, उसी प्रकार प्रेमचन्द और प्रसाद से आज के विकासकामी हिन्दी कथासाहित्य को कुछ प्रकाश और बहुत कुछ प्रेरणा मिल सकती है। प्रेमचन्द और प्रसाद के समय में सामाजिक वातावरण किञ्चित भिन्न था और लेखक का कर्तव्य उसे सामा-

जिक शक्तियों और मानसिक प्रतिक्रियाओं को उनके समग्र रूप में देखने के लिए प्रेरित करता था। समाज या व्यक्ति-मन तब खंडित इकाई नहीं बना था। मानव अस्तित्व के गहन और जटिल आभ्यन्तर पक्ष को प्रसाद या प्रेमचन्द ने ऐकान्तिक रूप में नहीं लिया किन्तु जिस सामाजिक या मानसिक समग्रता के अंशरूप खंडों को इन्होंने अपनाया, उसका पूर्ण ईमानदारी और कलात्मक संयम से चित्रण किया। उनकी रचनाओं की सहज मानवीयता भव्य और असाधारण है।

मनुष्य का सब कुछ न तो बहिर्भूत है, न अन्तर्लीन और न ही वह मात्र बुद्धि-तत्व से बना हुआ बुद्धिजीवी प्राणी है। मानव जितना ही खुला हुआ है, उतना ही रहस्यावेष्टित है—उसकी रहस्यात्मकता बौद्धिक भी है, रागात्मक भी। समग्र मानव के इस खुलेपन और रहस्यरूप को समझने की कुंजी उसके दिक्कालबद्ध जीवन की समग्रता और उसकी गति में ही मिल सकती है।—प्रसाद के इस केन्द्रवर्ती जीवन-दर्शन के आलोक में ही उनके साहित्य का समीक्षण उनके साथ उचित न्याय होगा।

देता। स्त्री वैरागी के आतिथ्य को भी कुटी के बाहर ही स्वीकार करती है। वैरागी पूछता है—"कब तक बाहर बैठोगी ?"

"रात बिता कर चली जाऊँगी, कोई आश्रय खोजूँगी क्योंकि यहाँ रह कर बहुतों के सुख में बाधा डालना ठीक नहीं। इतने समय के लिए कुटी में क्यों आऊँ ?"

वैरागी को जैसे बिजली का धक्का लगा। सच्चा वैराग्य तो इस स्त्री में है। उसने स्त्री को कुटो के भीतर जाने का आग्रह किया। स्त्री बोली—'इस कुटी का मोह तुमसे नहीं छूटा। मैं उसमें समभागी होने का भय तुम्हारे लिए न उत्पन्न करूँगी।"

अब वैरागी के लिए भागने के अतिरिक्त कोई रास्ता ही नहीं था। "मुझे कोई पुकारता है, तुम इसी कुटी को देखना !"—यह कह कर वैरागी अंधकार में विलीन हो गया। स्त्री अकेली रह गई।

यहाँ भी सूत्र अस्पष्ट है। लेखक सच्चे वैराग्य भाव से केवल मात्र संसार-त्याग के भाव को परास्त कराना चाहता है। परन्तु इसके लिए वह जो उपकरण इकट्ठे करता है वे महत्वपूर्ण नहीं हैं। प्रसादजी विचार के एक छोटे से बिन्दु को लेकर उसे अपनी कल्पना का केन्द्र बना लेते हैं और उसकी नींव पर कहानी का निर्माण करते हैं। इसमें सब कहीं वह सफल नहीं होते। कहानी एक विशिष्ट कला और प्रतीक-प्रधान कहानियों की अपनी सीमाएँ हैं। प्रसाद ने सब कहीं उन सीमाओं को ठीक ठीक नहीं समझा है।

'बनजारा' कहानी में बनजारा जीवन का सुन्दर चित्र मिलता है, परन्तु पिछली कहानियों की तरह यह कहानी भी रहस्य-भावना से दूषित है। कहानी का विषय प्रेम है, परन्तु उस प्रेम ने अन्त में रहस्यमयता का रूप ग्रहण कर लिया है। नन्दू बनजारा था। अभी यौवन के उभार में अपरिचित सुखों की ओर जैसे अग्रसर हो रहा हो। मोनी से उसे प्रेम था। मोनी सरगुजा के जंगलों से सुगन्धित

जड़ी-बूटियाँ और मेवे बटोरती और जब बनजारों के साथ नन्दू आता तो उन्हें उसके हाथ बेच देती। अब की बनजारों पर डाका पड़ गया। नन्दू पीछे-पीछे गीत गाता हुआ जा रहा था। सहसा बैलों की श्रेणी के अग्रभाग में हलचल मची। नन्दू का सुख-स्वप्न टूट गया। 'बाप रे डाका!'—कह कर वह एक पहाड़ी गहराई में उतरने लगा। गिर पड़ा, लुढ़कता हुआ नीचे चला। मूर्च्छित हो गया।

नन्दू चेतन हुआ तो उसने देखा मोनी उस पर झुकी हुई उसे दूध पीने को कह रही है। उस दिन आहत नन्दू को मोनी अपनी झोपड़ी में उठा लाई थी। परन्तु एक कोल चौकीदार कुछ दिनों से मोनी के पीछा लगा हुआ था। उसने मोनी के सुख-सपने को तोड़ दिया। मोनी चौकीदार के प्रति आत्मसमर्पण करने को तैयार नहीं थी। चौकीदार उसे पकड़ कर साहब के सामने ले गया, परन्तु साहब असली बात समझ गया। मोनी छूट आई। नन्दू भी अपने व्यापार में लगा।

बहुत दिनों बाद नन्दू जब उधर लौटा तो उसने देखा, झोपड़ी उजाड़-सी हो रही है। पहाड़ी नदी के तट पर मोनी मिली। परन्तु अब वह जंगली बनस्पति नहीं बटोरती। उन्हें ही खा-खा वह जीवन चलाये जाती है। व्यापार करने या धन बटोरने की अब कोई इच्छा नहीं। वह कहती है—"अब मैं समझती हूँ कि सब लोग न तो व्यापार कर सकते हैं और न तो सब वस्तुएँ बाज़ार में बेची जा सकती हैं।"

"तो मैं लौट जाऊँ?"

"हाँ, लौट जाओ; जब तक ओस की बूँदों से ठंडी धूल तुम्हारे पैरों में लगे उतने ही समय में अपना पथ समाप्त कर लो।"

"मैं लादना छोड़ दूँगा, मोनी!"

"ओह! यह क्यों? मैं इस पहाड़ी पर निस्तब्ध प्रभात घंटियों के मधुर स्वर की आशा में अनमनी बैठी रहती हूँ।

'पहुँचने का, बोझ उतारने के व्याकुल विश्राम का अनुभव करके सुखी रहती हूँ। मैं नहीं चाहती कि किसी को लादने के लिये मैं बोझ इकट्ठा करूँ! नन्दू!"

नन्दू हताश था। वह अपने बैल की खाली पीठ पर हाथ धरे चुपचाप अपने पथ पर चलने लगा।

मोनी में यह विरक्ति कैसे आई? क्यों वह नन्दू की ओर से एकदम तटस्थ हो गई?—यह हम नहीं जानते! कहा जा सकता है, मनुष्य-मन की सारी भंगिमाएँ जानी भी नहीं जा सकतीं। परन्तु अब तक मनुष्य के मन के संबंध में जो कुछ जाना गया है, उससे कहानी के पात्रों की छोटी-छोटी भंगिमाओं को तो समझा ही जा सकता है। इस कहानी में मनोवैज्ञानिक सूत्र लेखक ने स्वयं अपने हाथ में रखे हैं। इसी से मोनी का व्यवहार कुछ रहस्यमय हो गया है। वैसे बनजारे-जीवन के सारे रोमांस को प्रसाद बड़ी सफलता से पकड़ने में समर्थ हुए हैं।

'चूड़ीवाली' प्रसाद की बहुत प्रारंभिक कहानी है जिसने कभी 'इन्दु' के पहले अंकों को सुशोभित किया था। इस कहानी में प्रेम और विवाह की समस्या को उठाया गया है परन्तु जो बात विशिष्ट है वह है अमीरी का मादक चित्रण जिससे प्रसाद पूर्णतयः परिचित थे। काशी के संभ्रांत धनियों का जीवन, उनकी चुहल, उनका स्वभाव इस कहानी में ठीक-ठीक उभर आता है। स्वयं प्रसाद का एक चित्र इस कहानी के साथ हमारे हृदय-पट पर खिंच जाता है। 'सरकार' काशी के धनी-मानी व्यक्ति हैं। ज़मींदार हैं। सब उन्हें इस नाम से पुकारते हैं, परन्तु नाम विजयकृष्ण था। 'बहूजी' उनकी पत्नी हैं। चूड़ीवाली (विलासिनी) वेश्या है, परन्तु कुलवधू बनने की अभिलाषा उसके हृदय में है और दाम्पत्य सुख का स्वर्गीय स्वप्न उसकी आँखों में समाया हुआ है। विजयकृष्ण के रूप-यौवन और तारुण्य पर वह मुग्ध हो गई है। चाहती है, वे उसे प्रेम करने लगें

तो कैसा हो ! बहूजी की अपार प्रणय-सम्पत्ति में से कुछ अंश वह ले ले तो हानि क्या ? उधर विजयकृष्ण सोचते, चलो, दो घड़ी की चुहल ही अच्छी !

रोज़ वह बहूजी को चूड़ी पहनाने के बहाने आ जाती । कभी-कभी तो बिना बुलाये ही चली आती और ऐसे ढंग फैलाती कि बिना सरकार के आये कभी निपटारा ही नहीं होता । बहूजी भी समझती हैं, परन्तु मौन हैं । धीरे-धीरे विजयकृष्ण विलासिनी की ओर आकृष्ट होने लगे और गृहस्वामिनी का सौन्दर्य और व्यवहार उन्हें उस ओर बढ़ने से रोक नहीं सका । वह प्रकाश्य रूप से उसके यहाँ जाने लगे । विलास में डूबे रहते । इधर बहूजी को यक्ष्मा ने घेरा और एक दिन वे चल दीं । विभव भी जाता रहा । विलासिनी ने समझाया—'कमी किस बात की है, मैं तुम्हारी ही हूँ और सब विभव भी तुम्हारा ही है ।' परन्तु विजयकृष्ण की मिट्टी ही कुछ दूसरी थी ! वह वेश्या और अपनी पालिता से सहायता कैसे लेते ! उन्होंने कहा—"मैं वेश्या की दी हुई जीविका से पेट पालने में असमर्थ हूँ ।"

विलासिनी का जीवन बदल गया ! अपनी सारी सम्पत्ति बेचकर पास ही के एक गाँव में खेती करने के लिए भूमि ले ली और उस पर एक कच्चा मकान बना लिया । पास ही एक विशाल वटवृक्ष और निर्मल जल का सरोवर था । वहीं बैठ कर चूड़ीवाली पथिकों की सेवा करती ।

एक दिन एक पथिक आया । कोई और नहीं था, 'सरकार' ही थे । चूड़ीवाली के सेवा-भाव से वह भी प्रभावित हुए । कहने लगे—'मेरे अपराध-जनक तामस-त्याग में पुण्य का भी भाग था, यह मैं नहीं जानता था ।"

चूड़ीवाली बोली—"सरकार ! मैंने गृहस्थ कुलवधू होने के लिए कठोर तपस्या की है । इन चार बरसों में मुझे विश्वास हो गया है

कि कुलवधू होने का जो महत्व है वह सेवा का है, न कि विलास का !"

"सेवा ही नहीं, चूड़ीवाली ! उसमें विलास का अनंत यौवन है, क्योंकि केवल स्त्री-पुरुष के शारीरिक बंधन में वह पर्यवसित नहीं है। वाह्य साधनों के विकृत हो जाने तक ही उसकी सीमा नहीं, गार्हस्थ्य जीवन उसके लिये प्रचुर उपकरण प्रस्तुत करता है इसीलिये वह प्रेय भी है और श्रेय भी है। मुझे विश्वास है कि तुम अब सफल हो जाओगी।"

"मेरी सफलता आपकी कृपा पर है। विश्वास है कि अब इतने निर्दय न होंगे।" कहते-कहते चूड़ीवाली ने सरकार के पैर पकड़ लिये।

सरकार ने उसके हाथ पकड़ लिये।

काशी के रईसों के वातावरण से प्रसाद पूर्णतयः परिचित थे। यह वातावरण ही इस कहानी का प्राण है। प्रारंभिक रचना होने के कारण कहानी में अधिक कुछ नहीं है, परन्तु प्रसाद की रंगीनी का वाग्विलास और प्रसाद की भाषा-समृद्धि की एक झाँकी फिर भी मिल जाती है।

'अपराधी' में एक दूसरे प्रकार का चित्र है। लोक-कहानियों में इस प्रकार के अनेक चित्र मिलेंगे। कामिनी मालिन है। तरुणी है। एक दिन राजकुमार उसके उपवन के पास से आ निकला। वह उस पर मुग्ध हो गया। कामिनी 'कामिनी' के फूलों की माला गूँथ रही थी। वह माला उसने राजकुमार को पहना दी। राजकुमार ने अपना कौशेय उष्णीश खोलकर मालिन के ऊपर फेंक दिया। कहा—"जाओ, इसे पहन कर आओ।" आश्चर्य और भय से लताओं की झुरमुट में जाकर उसने आज्ञानुसार कौशेय वसन पहना। बाहर आई तो उज्ज्वल किरणें उसके अंग-अंग पर हँसते-हँसते लोट-पोट हो रही थीं। राजकुमार मुसकिराये और कहा—"आज से तुम इस कुसुम-कानन की वनपालिका हुई हो। स्मरण रखना।"

एक दिन वर्षा ऋतु में मूसलाधार वृष्टि हो रही थी कि वन-पालिका के पर्णकुटीर के बाहर एक कंपित कंठ-स्वर सुनाई पड़ा—"आश्रय चाहिये।"

वनपालिका ने कहा—तुम कौन हो?

"एक अपराधी।"

कामिनी ने चाहा, वह झंझट में नहीं पड़े, परन्तु अंत में स्त्री-सुलभ करुणा ने विजय प्राप्त की। यह 'अपराधी' वही पहला राजकुमार था। परिचय प्राप्त करके कामिनी ने अपनी सुध-बुध खो डाली।

फिर बहुत दिन बीत गये। कितने ही वर्ष आये और चले गये। अब यह उपवन जंगल बन गया है। अब राजकुमार वहाँ नहीं आते। अब वे स्वयं राजा हैं। गहन वन में एक कोने में पर्णकुटी है। उसमें एक स्त्री और उसका पुत्र रहते हैं। स्त्री वही कामिनी। उस दिन रात को वह छली गई थी। उस छल की स्मृति आज भी पुत्र-रूप में उसके पास सुरक्षित है। दोनों बहेलियों का व्यवसाय करते। उसीसे उनका जीवन-निर्वाह होता। एक दिन वन-पालिका का पुत्र एक सुन्दर कुरंग पकड़ कर नगर की ओर बेचने के लिए ले गया। उसकी पीठ पर बड़ी अच्छी बूटियाँ थीं। राजा का पुत्र अपने टट्टू पर चढ़कर घूमने निकला था। उसके रक्षक साथ थे। राजपुत्र मचल गया। किशोर मूल्य माँगने लगा। रक्षकों ने कुछ देकर उसे छीन लेना चाहा। किशोर ने कुरंग का फंदा ढीला कर दिया। वह छलांग भरता हुआ निकल गया। राजपुत्र अत्यन्त हठी था, वह रोने लगा। रक्षकों ने किशोर को पकड़ लिया। वे उसे राजमन्दिर की ओर ले गये। न जाने कितनी ताड़ना उसे सहनी पड़ी।

फिर कई वर्ष बीत गये। राजपुत्र उसी वन में मृगया की शिक्षा प्राप्त करता। एक दिन परीक्षा लेने के लिए राजा भी आया। अहेरियों के वेश में राजपुत्र और उसके समवयस्क जंगल में आये।

किशोर भी अपना धनुष लिये एक ओर खड़ा था। किशोर का तीर कुरंग के कंठ को बेधकर राजकुमार की छाती में घुस गया। राजपुत्र अचेत होकर गिर पड़ा। किशोर पकड़ लिया गया। राजा की प्रतिहिंसा ने तुरंत ही उसके प्राण ले लिये।

उसी समय कामिनी पहुँची। राजा ने पहचाना—यह तो वनपालिका है। आँखों में आँसू नहीं थे।

राजा ने पूछा—"यह कौन था ?"

गंभीर स्वर में सिर नीचा किए वनपालिका ने कहा—"अपराधी।"

एक साधारण-सी जनप्रचलित कथा को ले कर प्रसाद ने उसे साहित्य का रूप देना चाहा है।

'प्रणयचिह्न' भी एक प्रेम-कहानी है यद्यपि उसे प्रकृति और दर्शन की एक विशद चित्रपटा देकर उपस्थित किया गया है। ज़मींदार की एक कन्या से 'पथिक' का प्रेम है। निराश होकर वह पहाड़ों में एकांत का आश्रय लेता है, परन्तु कुछ दिन के बाद एकांत से ऊब कर फिर संसार के कोलाहल में चला आता है। विरल छाया-कुंज वाले खजूर-कुंज तक पहुँच कर 'सेवक' नाम के व्यक्ति से उसकी भेंट होती है। वह संसार से घबड़ा कर एकांत में जा रहा है। पथिक उसे विरत करता है। वह उसे एक काम करने को कहता है—

'लूनी नदी के उस पार रामनगर के ज़मींदार की एक सुन्दरी कन्या है; उससे कोई संदेश कह सकोगे ?'

'चेष्टा करूँगा। क्या कहना होगा ?'

'तीन बरस से तुम्हारा जो प्रेमी निर्वासित है वह खजूर-कुंज में विश्राम कर रहा है। तुमसे एक चिह्न पाने की प्रत्याशा में ठहरा है। अब की बार अज्ञात विदेश में जायगा। फिर लौटने की आशा नहीं है।'

सेवक ने जाकर ज़मींदार-कन्या को सूचना दी। उसी की नाव में

उ कर वह आई और उतराई में अँगूठी देने लगी। वह बोली—मेरा जीवन-धन जा रहा है। एक बार उससे अंतिम भेंट करने आई हूँ। एक अँगूठी उसे अपना चिह्न देने के लिए लाई हूँ। और कुछ नहीं है। परन्तु तुमने इस अंतिम मिलन में बड़ी सहायता की है, तुम्हीं ने उसका संदेश पहुँचाया। तुम्हें कुछ दिये बिना हमारा मिलन असफल होगा। इसलिए, यह चिह्न अँगूठी तुम्हीं ले लो।'

सेवक ने अँगूठी लेते हुए कहा—'और तुम अपने प्रियतम को क्या चिह्न दोगी?'

'अपने को स्वयं दे दूँगी। लौटना व्यर्थ है। अच्छा, धन्यवाद!' रमणी तीर-वेग से चली गई।

युगल प्रेमी मिले। प्रियतम ने कहा—अनन्त पथ का पाथेय कोई प्रणय-चिह्न ले आई हो तो मुझे दे दो। इसीलिए ठहरा हूँ।

परंतु युवती के पास तो वही अँगूठी थी। शायद किसी तरह अँगूठी मिल जाये। दोनों नदी के किनारे पहुँचे। सेवक ने कहा—इस अँगूठी को लेकर तुम क्या करोगे? उतराई अधिक जान पड़ती तो कुछ और यात्रा कर लो। अबकी बार दोनों को ले चलूँगा।

रमणी ने कहा—चलो, यात्रा तो करनी ही है, बैठ जायँ।

एकांतवासी हँस पड़ा। दोनों नाव पर बैठ गये। नाव धारा में बहने लगी। रमणी ने हँस कर पूछा—केवल देखोगे या खेओगे भी?

'नाव स्वयं बहेगी; मैं केवल देखूँगा ही।'

साधारण दृष्टि से कहानी में किसी आध्यात्मिक या रहस्य-तत्व की झलक जान पड़ती है, परंतु ऐसा कुछ है नहीं। वास्तव में प्रसाद की अन्य कहानियों की तरह यह भी प्रेम-रोमांस की कहानी है। ऐसी कहानियों के तत्त्व न जाने प्रसाद कहाँ-कहाँ से लेते हैं। कुछ लोक-कथाओं से, कुछ साहित्य से, कुछ अपने या मित्रों के अनुभव से, कुछ कल्पना से। सामग्री को एक विशिष्ट ढंग से रखने का

उनका अपना कौशल है और उसे कुछ इस तरह उपस्थित किया जाता है कि उससे स्वतः कुछ अस्पष्टता, कुछ रहस्य झलकने लगता है। ऐसी कहानियों के पीछे आध्यात्मिक तत्व ढूँढना व्यर्थ की चेष्टा है।

'रूप की छाया' कहानी में काशी की विधवाओं का एक चित्र सामने आता है। सरला, शैलनाथ और चाची तीन पात्र हैं। सरला युवती है। चाची प्रौढ़ा है। दोनों काशीवास कर रही हैं। एक दिन युवती ने घाट पर देखा—टूटी काठ की चौकी पर, विवर्ण मुख, लंबे असंयत बाल और फटा कोट पहने एक युवक कोई पुस्तक पढ़ रहा है। युवती का हृदय धड़कने लगा। वह उतर कर एक बार युवक के पास गई, फिर लौट आई। सीढ़ियों पर चढ़ते-चढ़ते चाची मिली। उससे बड़ी घबड़ाहट में युवती ने कुछ कहा और स्वयं वहाँ से चली गई। प्रौढ़ा युवक के पास गई। युवक ने अपने को एक विदेशी, निस्सहाय विद्यार्थी बताया। कहा, यदि रहने की जगह मिल जाय तो भला हो। प्रौढ़ा ने कहा—'हम लोग दो-तीन स्त्रियाँ हैं। कोई अड़चन न हो तो हम लोगों के साथ रह सकते हो।'

युवक चाची और सरला के साथ ही रहने लगा। अब वह कालिज का छात्र है। उसका रहन-सहन बदल गया है। वह एक सुरुचि-सपन्न युवक हो गया है।

एक दिन प्रौढ़ा ने थाली परसते हुए पूछा—"क्यों शैलनाथ! तुम्हें अपनी चाची का स्मरण होता है?"

शैलनाथ ने आश्चर्यचकित होकर उत्तर दिया—"नहीं तो, मेरे कोई चाची नहीं है।"

प्रौढ़ा चली गई। युवक हाथ-मुँह धो चुका था। सरला ने पान बनाकर दिया और कहा—"क्या एक बात मैं भी पूछ सकती हूँ?" उसने पूछा—"कभी तुम्हें रामगाँव का स्मरण होता है? यमुना की लोल-लहरियों में से निकलता हुआ अरुण और उसके श्यामल तट-

का प्रभात स्मरण होता है? स्मरण होता है, एक दिन हम लोग कार्तिक-पूर्णिमा-स्नान को गये थे, मैं बालिका थी, तुमने मुझे फिसलते देख कर पकड़ लिया था। इस पर साथ की और स्त्रियाँ हँस पड़ी थीं, तुम लज्जित हो गये थे।"

भला शैलनाथ ने ऐसी बात कब सुनी थी! वह बोल उठा—"नहीं तो।"

परंतु सरला क्या इतनी जल्दी हार जाती। उसने सौन्दर्य के सारे अस्त्रों का प्रयोग किया। कई दिन बीत गये। गङ्गा के स्थिर जल में पैर डाले हुए, नीचे की सीढ़ियों पर सरला बैठी थी। कारु-कार्य-खचित कंचुकी के ऊपर कंधे के पास सिकुड़ी हुई साड़ी; आधा खुला हुआ सिर, बंकिम ग्रीवा और मस्तक में कुंकुम-बिन्दु—महीन चादर में—सब-अलग-अलग दिखाई दे रहे थे। मोटी पलकोंवाली बड़ी-बड़ी आँखें, गंगा के हृदय में से मछलियों को ढूँढ निकालना चाहती थीं। उसने शैलनाथ को इसी स्थान पर बुला भेजा था। शैलनाथ आया और पास बैठ गया।

सरला ने कहा—"अब तुम नहीं छिप सकते। तुम्हीं मेरे पति हो, तुम्हीं से मेरा बाल-विवाह हुआ था। एक दिन चाची के बिगड़ने पर सहसा घर से निकल कर कहीं चले गये, फिर न लौटे। हम लोग आजकल अनेक तीर्थों में तुम्हें खोजती हुई भटक रही हैं। तुम्हीं मेरे देवता हो; तुम्हीं मेरे सर्वस्व हो। कह दो—हाँ।"

सरला जैसे उन्मादिनी हो गई है। यौवन की उत्कंठा उसके बदन पर बिखर रही थी। प्रत्येक अङ्ग में अँगड़ाई, स्वर में मरोड़, शब्दों में वेदना का संचार था। शैलनाथ ने देखा, कुमुदों से प्रफुल्लित शरत काल के ताल का भरा हुआ यौवन। सर्वस्व लुटा कर चरणों में लोट जाने के योग्य सौन्दर्य-प्रतिमा। मन को मचला देने वाला विभ्रम, धैर्य को हिलानेवाली लावण्य लीला। वक्षस्थल में

हृदय जैसे फैलने लगा। वह हाँ कहने ही को था परन्तु सहसा उसके मुँह से निकल गया—"यह सब तुम्हारा भ्रम है, भद्रे !'

शैलनाथ उठा और चला गया। वह यह आश्रय ही छोड़ देगा। विमूढ़ सरला कुछ न बोल सकी। वह क्षोभ और लज्जा से गड़ी जाने लगी। क्रमशः घनीभूत रात में सरला के रूप की छाया भी विलीन होने लगी। उसका रूप का जादू व्यर्थ गया था।

'ज्योतिष्मती' में प्रेम की सात्विकता प्रगट करने के लिए एक रूपक, एक प्रतीक का सहारा लिया गया है। अंधी आँखें भी ज्योतिष्मती के उज्ज्वल फूलों के स्पर्श से ज्योतित हो जाती हैं, परन्तु जिसने चन्द्रशालिनी ज्योतिष्मती रजनी के चारों पहर कभी बिना पलक लगे प्रिय की निश्चल चिंता में न बिताये हों, उसे ज्योतिष्मती न छूनी चाहिये। इसे जंगल के पवित्र प्रेमी ही छूते हैं, ले आते हैं, तभी इसका गुण चमत्कारक होता है। बनलता अपने पिता बनराज के लिए ज्योतिष्मती ढूँढने निकली थी। उसे एक साथी भी मिला। ज्योतिष्मती भी दिखलाई पड़ी। 'श्यामा सघन, तृण-संकुल शैल-मंडप पर हिरण्यलता तारा के समान फूलों से लदी हुई मंद मारुत से विकंपित हो रही थी। पश्चिम में निशीथ के चतुर्थ प्रहर में अपनी स्वस्थ किरणों से चतुर्दशी का चंद्रमा हँस रहा था। पूर्व में प्रकृति अपने स्वप्न-मुकुलित नेत्रों को आलस से खोल रही थी। बनलता का बदन सहसा खिल उठा। आनंद से हृदय अधीर होकर नाचने लगा। वह बोल उठी—"यही तो है।"

साहसिक ने बलपूर्वक ज्योतिष्मती के फूलों को प्राप्त करना चाहा। वह बलिष्ठ युवक अपनी तलवार की मूँठ दृढ़ता से पकड़कर वनस्पति की ओर अग्रसर हुआ।

परन्तु बलपूर्वक कहीं प्रेम प्राप्त किया जा सकता है ! ज्योतिष्मती एक दीर्घ निश्वास फेंक कर जैसे सो गई। बनलता छिन्न-भिन्न होकर भूमि पर जा गिरी। ज्योतिष्मती के फूल तो प्रेमी के हृदय के

सत्व के प्रतीक हैं। उनके लिए तप चाहिये, साधना चाहिये। वे क्या इस तरह प्राप्त हो सकते हैं ?

'रमला' और 'बिसाती' इस संग्रह की दो अंतिम रचनाएँ हैं। रमला में एक प्रभाववादी चित्र है। रमला पहाड़ी प्रदेश की एक बड़ी रम्य झील है। उसका अपना बड़ा सुन्दर व्यक्तित्व है। साजन तरुण युवक है। उसे झील से अगाध प्रेम है। वह उसी के तट पर पड़ा रहता है। साजन और रमला झील के इस अनन्य संबंध को लेखक ने बड़ी सतर्कता से अंकित किया है :

"शैलमाला की गोद में वह समुद्र का शिशु कलोल करता, उस पर से अरुण की किरणें नाचती हुई अपने को शीतल करती चली जातीं। मध्याह्न में दिवस ठहर जाता—उसकी लघु वीचियों का कंपन देखने के लिये। संध्या होते उसके चारों ओर के वृक्ष अपनी छाया के अंचल में छिपा लेना चाहते परन्तु उसका हृदय उदार था, मुक्त था, विराट था। चाँदनी उसमें अपना मुँह देखने लगती और हँस पड़ती।

और साजन! वह भी अपने निर्जर सहचर का, उसके शांत सौन्दर्य का अभिनन्दन करता। हुलस 'कर उसमें कूद पड़ता, यही उसका स्नेहातिरेक था।

साजन की साँसें उसकी लहरियों के स्वर से सामंजस्य बनाये रहतीं, यह झील उसे खाने के लिए कमलगट्टे देती, सिंहाड़े देती, कोई बेरा और भी कितनी वस्तु बिखेरती। वही साजन की गृहिणी थी, स्नेह-मयी, कभी-कभी वह उसे पुकार उठता, बड़े उल्लास से बुलाता—'रानी! प्रतिध्वनित होता—'ई, ई, ई'। वह खिलखिला उठता, आँखें विकस' जातीं, रोएँ हँसने लगते। फिर सहसा वह अपनी उदासी में डूब जाता, तब जैसे तारा-छाई रात उस पर अपना श्याम अंचल डाल देती। कभी-कभी वृक्ष की जड़ से ही सिर लगा कर सो रहता।

ऐसे ही कितने ही बरस बीत गए।

उधर पशु चराने के लिए गोप-बालक न जाते। दूर-दूर के गाँवों में यह विश्वास था कि रमला झील पर कोई जलदेवता रहता है। उधर कोई झाँकता भी नहीं। वह संसर्ग से वंचित देश अपनी विभूति में अपने में मस्त था।

परन्तु एक दिन 'रमला' आई। यह रमला दूर के गाँव की किशोरी थी। मंजल से उसका प्रेम था। एक दिन कुछ साथियों के साथ होड़ करती हुए, रमला झील पर झुके शिखर पर चढ़ गई थी। मंजल ने धक्का दे दिया। हँसी-हँसी में एक दुर्घटना घटित हो गई! आँखें खोलीं तो 'साजन' को पाया। साजन ने सोचा, जब यह 'रमला' है तो उसकी रानी रमला ही है। दोनों गुफाओं में साथ साथ रहने लगे।

बहुत दिन बीत गये। एक दिन रमला ने घूमने की बात उठाई। साजन भी चला। वही गिरि-पथ जिसने बहुत दिनों से मनुष्य का पद-चिह्न भी नहीं देखा था रमला और साजन की पगध्वनियों से मुखरित होने लगा। घूमते-घूमते संध्या हो गई। एक ज़मींदार ने आश्रय दिया। दूसरे दिन रमला को पता चला, यह तरुण जमींदार मंजल ही था। पूर्व स्मृतियाँ उमड़ आईं। अब क्या वह साजन के साथ लौट सकेगी?

साजन लौट गया। लौट कर वह अपनी झील को और भी अधिक प्यार करने लगा। गोधूलि थी और वही उदास रमला झील! साजन थका हुआ था। आज उसके मन में, आँखों में, न जाने कहाँ का स्नेह उमड़ा पड़ता था। प्रशांत रमला में एक चमकीला फूल हिलने लगा, साजन ने आँख उठा कर देखा—पहाड़ी की चोटी पर एक तारिका रमला के उदास भाल पर सौभाग्य चिह्न सी चमक उठी है। देखते-देखते रमला का वक्ष नक्षत्रों के हार से सुशोभित हो उठा।

साजन ने उल्लास से पुकारा—'रानी!'

यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की कहानियों में काव्यात्मक प्रभाव ही अधिक वांछनीय है। इसमें प्रसाद पूर्णतः सफल हुए हैं। यदि कहानी को उद्देश्यहीन होना है, यदि कहानी में कवि-हृदय के लिए भी गुंजाइश है, तब इस प्रकार की कहानियों के विरुद्ध कुछ भी नहीं कहा जा सकता। कहानी का क्षेत्र विस्तृत है। उसमें अनेक प्रकार की रचनाएँ समाविष्ट हो सकती हैं। इस दृष्टिकोण से तो 'रमला' कहानी के विपक्ष में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। परन्तु जिस प्रकार का दृश्य प्रसाद ने 'रमला' में उपस्थित किया है, रमला झील और रमला नारी में जिस तरह एक संघर्ष की सृष्टि उन्होंने की है, वह न कहानी-कला की दृष्टि से ठीक है, न उससे साजन के झील के प्रति रहस्यात्मक प्रेम की व्यंजना होती है। विराट अनंत की झीलव्यापी झाँकी पर मुग्ध होनेवाला हृदय नारी रमला के प्रणय में कैसे बँध गया, बँध गया तो फिर उसे एक क्षण में, हृदय के किसी भी कोने में हलचल उठाये बिना, वह उसे छोड़ कर चुप-चाप कैसे लौट आया, इस तरह के प्रश्न उठाये जा सकते हैं। केवल कहानी का आधार लेकर इन प्रश्नों को सम्यक् रीति से सुलझाना असंभव है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि, रमला झील के सौन्दर्य और साजन के झील के प्रति अपार्थिव आकर्षण को बड़ी सुन्दर झलक हमें इस कहानी में मिलती है। भावात्मक, प्रतीक-प्रधान, रहस्यवादी कहानियों का क्षेत्र अत्यंत सीमित है, परन्तु इस प्रकार की कहानियाँ साहित्य में हैं ही। इस क्षेत्र में प्रसाद की कहानियाँ हिन्दी की आवश्यकता की बड़ी पूर्ति करती हैं, इसमें संदेह नहीं।

'बिसाती' एक छोटी-सी सुन्दर प्रेम, प्रतीक्षा और निराशा की कहानी है। अफ़गानों और पठानों को प्रसाद ने अपनी कई रचनाओं में अपना विषय बनाया है। दूर के प्रदेशों, दूर की जातियों और जीवन के चित्र-विचित्र पहलुओं के प्रति प्रसाद का आकर्षण सदैव रहा ही है। 'बिसाती' में ऐसा ही एक चित्र है। कहानी बड़ी नहीं

है। शीरीं किसी पठान युवक से प्रेम करती है, परन्तु वह रुपया इकट्ठा करने के लिए हिन्दुस्तान चला गया है। महीनों हो गये, परन्तु वह लौटा नहीं। इसके बाद शीरीं के माता-पिता ने एक धनी सरदार से उसका ब्याह कर दिया। परन्तु शीरीं का हृदय अब भी हिन्दुस्तान गई उस बुलबुल के लिए तड़पता है। एक दिन शीरीं सरदार के साथ बाग़ में बैठी थी। उसी समय एक दुबला और लंबा युवक पीठ पर गट्ठर लादे सामने आकर बैठ गया। शीरीं ने उसे देखा पर वह किसी ओर देखता नहीं। अपना सामान खोल कर सजाने लगा। सरदार अपनी प्रेयसी को उपहार देने के लिए काँच की प्याली और काश्मीरी सामान छाँटने लगा। परन्तु सरदार के दाम पूछने पर युवक ने कहा—'मैं उपहार देता हूँ, बेचता नहीं।" सरदार ने तीक्ष्ण स्वर में कहा—"तब मुझे न चाहिए, ले जाओ, उठाओ।"

"अच्छा, मैं उठा ले जाऊँगा। मैं थका हुआ आ रहा हूँ। थोड़ा अवसर दीजिये। मैं हाथ-मुँह धो लूँ।" कहकर युवक भरभराई हुई आँखों को छिपाते उठ गया।

शीरीं की आँखों में आँसू आ रहा है। बड़ी सावधानी से वह उन्हें रोके हुए थी। सरदार ने प्रेम से उसकी पीठ पर हाथ रखकर पूछा—"क्या देख रही हो?"

शीरीं ने कंपित स्वर को सम्हाल-सम्हाल कर कहा—'एक मेरा पालतू बुलबुल शीत में हिन्दोस्तान की ओर चला गया था। वह लौट कर आज सबेरे दिखाई पड़ा पर जब वह पास आ गया और मैंने उसे पकड़ना चाहा तो वह कोह-क़ाफ़ की ओर भाग गया।"

सरदार केवल हँसा। शायद वह समझ गया था। उसने केवल कहा—"फूल को बुलबुल की खोज? आश्चर्य है?"

तुपन्र युवक बिसाती लौटा नहीं।

यह छोटी-सी कहानी भी प्रसाद की भाषा और कला से सँवर कर कितनी सुन्दर हो गई है, यह देखना हो, तो मूल कहानी पढ़ना

अनिवार्य होगा। प्रेम-प्रसगों में प्रसाद भाषा-शैली की सारी मादकता, सारी व्यंजना-शक्ति और सारी मधुरता भर देते हैं। एक चुहल देखिये :

उसकी सखी ज़ुलेखा के आने से उसकी एकांत-भावना भंग हो गई। अपना अवगुंठन उलटते हुए ज़ुलेखा ने कहा—"शीरीं! वह तुम्हारे हाथों पर आकर बैठ जानेवाला बुलबुल आजकल नहीं दिखलाई देता?"

आह खींच कर शीरीं ने कहा—"कड़े शीत में अपने दल के साथ मैदान की ओर निकल गया। वसंत तो आ गया पर वह नहीं लौट आया।"

"सुना है कि ये सब हिंदुस्तान में बहुत दूर तक चले जाते हैं। क्या यह सच है शीरीं?"

"हाँ, प्यारी! उन्हें स्वाधीन विचरना अच्छा लगता है। इनकी जाति बड़ी स्वतंत्रता-प्रिय है।"

"तूने अपनी घुँघराली अलकों के पाश में उसे क्यों न बाँध लिया?"

"मेरे पाश उस पक्षी के लिए ढीले पड़ जाते थे।"

"अच्छा, लौट आवेगा, चिंता न कर। मैं घर जाती हूँ।" शीरीं ने सिर हिला दिया।

ज़ुलेखा चली गई।

इस छोटे से चित्र में कथोपकथन और भाषा की जो सांकेतिकता है उसका निर्वाह साधारण कलाकार का काम नहीं है। यह निर्वाह ही उनकी कला का प्राण है। पठान-कन्या की आकुल प्रतीक्षा को लेखक किन शब्दों में बाँधता है, यह भी देखिये—

जब पहाड़ी आकाश में संध्या अपने रँगीले पट फैला देती, जब विहंग केवल कलरव करते पंक्ति बाँध कर उड़ते हुए गुंजान झाड़ियों की ओर लौटते और अनिल में उनके कोमल परों से लहर उठती

जब समीर अपनी झोंकेदार तरंगों में बार-बार अंधकार को खींच लाता, जब गुलाब अधिकाधिक सौरभ लुटा कर हरी चादर में मुँह छिपा लेना चाहते थे, तब शीरीं की आशा-भरी दृष्टि कालिमा से अभिभूत होकर पलकों में छिपने लगी। वह जागते हुए भी एक स्वप्न की कल्पना करने लगी।' प्रसाद की प्रौढ़ रचनाएँ इस भाषा-शैली के गौरवमय स्पंदन से भरी हुई हैं। जीवन के क्षुद्रतम क्षणों को अनंत महत्व प्रदान कर देना प्रसाद की कवि-प्रतिभा का अत्यंत सरल चमत्कार है। इस चमत्कार को हम किसी एक जगह देखते हों, यह बात नहीं। कहानी पढ़ते समय न जाने किस-किस कोने से निकल कर यह चमत्कार हमारा स्वागत करता है और हम कहानी से कुछ अधिक चीज़ पाकर रस में डूब जाते हैं। प्रसाद की कहानियों में कहानी का रस विशेष नहीं, मनोविज्ञान की कलापूर्ण झाँकी अवश्य मिलती है, परन्तु वह भी अधिक नहीं, परन्तु जो चीज़ हृदय को छू लेती है, जो चीज़ हमें बार-बार पढ़ी कहानी पढ़ने को बाध्य करती है, वह है उसका काव्यरस। इस काव्यरस को कहानी के रस के साथ गुंफित करनेवाली प्रसाद की भाषा-शैली अपूर्व है।

सामूहिक रूप से 'आकाशदीप' की कहानियों पर विचार करना कुछ कठिन है। उसका कारण यह है कि इस संग्रह की कहानियों में कुछ बहुत उत्कृष्ट कहानियाँ मिलती हैं और कुछ साधारण कहानियाँ। इस संग्रह में हम प्रसाद को अपनी प्रतिभा के सर्वोच्च शिखर की ओर बढ़ते हुए पाते हैं। कम से कम 'आकाशदीप' और 'स्वर्ग के खंडहर में' कहानियाँ ऐसी हैं जो केवल प्रसाद ही लिख सकते थे। अधिकांश कहानियों का विषय प्रेम है और इस तरह इस संग्रह की कहानियाँ छाया (१६१२, १६२६) की कला को ही आगे बढ़ाती हैं। 'छाया' में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ-साथ, कुछ उसके बिना प्रेम-कथाएं ही उपस्थित की गई हैं। कला की दृष्टि से छाया

की कहानियाँ महत्वपूर्ण नहीं हैं। प्रतिध्वनि (१६२६) में गद्य-गीत और रेखाचित्र ही अधिक हैं। उसमें जीवन की छोटी-छोटी भंगिमाओं को पकड़ने का प्रयत्न है। आकाशदीप में प्रेम के प्रसंग को फिर उठाया गया है और कुछ अत्यंत सफल कहानियाँ प्रसाद ने लिखी हैं। 'आकाशदीप', 'स्वर्ग के खंडहर में', 'सुनहला साँप', 'देवदासी', 'बनजारा', 'चूड़ीवाली' 'प्रणयचिह्न', 'रमला' और 'बिसाती' सभी कहानियों में प्रेम का कोई न कोई चित्र सामने आता है, परन्तु इस एक विषय में नए-नए स्वरों, नई-नई आलापों की योजना की गई है। 'आकाशदीप', 'देवदासी' और 'बिसाती' को हम संसार की सर्वश्रेष्ठ काव्यात्मक प्रेम-विरह का कहानियों के समकक्ष रख सकते हैं। इन कहानियों के अतिरिक्त जो कहानियाँ हैं वे प्रतिध्वनि (१६२६) की रूपकात्मक कहानियों और रेखाचित्रों की कला को ही आगे बढ़ाती हैं। अधिकांश रूपक कुछ स्पष्ट नहीं है और उनमें न कहानी का रस ही पूर्ण रूप से विकसित हो सका है, न काव्य का रस ही परिपक्व रूप में उपस्थित हो सका है। कदाचित् इसी प्रकार की कहानियों को लक्ष्य करके प्रकाशक की भूमिका में लिखा गया है : 'प्रसादजी की सर्वतोन्मुखी प्रतिभा ने जिन आख्यायिकाओं की उद्भावना की है, उनमें जो रस और मर्म है, वह केवल बहिर्जगत से ही संबद्ध नहीं, अपितु हृदय की उन छिपी हुई भावनाओं पर प्रकाश डालता है जिनका बोध आपको भी यदा-कदा हुआ करता है। ऐसी रहस्यमयी वृत्तियों को प्रस्फुटित करना, उन पर प्रकाश डालना ही छायावाद का काम है!' परन्तु सच तो यह है कि ये रूपकात्मक रचनायें प्रसाद की सर्वश्रेष्ठ रचनायें नहीं हैं। काव्य के क्षेत्र में रहस्यवाद या छायावाद तो समझ में आ सकता है परन्तु कथा के क्षेत्र में रहस्यवादी, छायावादी या प्रतीकवादी रचनाओं की अपनी सीमा है। कथा का मुख्य क्षेत्र मनुष्य के जीवन, उसके भावजगत् और विचारों एवं कार्यों के घात-प्रतिघात

का चित्रण है। अनन्त के प्रति मिलन-वियोग के गान काव्य और गीतों के विषय हैं। इसी से प्रसाद की रहस्यात्मक और प्रतीकवादी रचनाओं को हम कोई बहुत ऊँची कोटि नहीं दे सकते।

प्रसाद की कहानी-कला का सर्वोच्च विकास उनके दो अंतिम कहानी-संग्रहों में ही मिलेगा। आँधी (१६३१) और इन्द्रजाल (१६३६)। 'आँधी' में ग्यारह कहानियाँ हैं। 'इंद्रजाल' में चौदह। इन कहानियों की दौड़ बड़ी लम्बी है और इनमें जीवन की लगभग प्रत्येक भंगिमा मिल जाती है। केवल वस्तु का प्रसार ही प्रसाद की कला का लक्ष्य नहीं है। उनकी किसी कहानी में कहीं कोई विशेष मनोभाव है, कहीं मानव-चरित्र की एक विशेष धारा और कहीं केवल आकस्मिक घटनाओं से उत्पन्न परिस्थिति में बहते हुए जीवन का चित्र। विषय और भावना का इतना प्रसार अन्यत्र मिलना कठिन है। छाया (१६१२), प्रतिध्वनि (१६२६) और आकाशदीप (१६२६) में हमें प्रयोगात्मक रचनायें ही अधिक मिलती हैं। कवि-भावना का पूरा-पूरा उन्मेष और उसकी कला का सर्वोच्च रूप इन संग्रहों की कहानियों में अधिक नहीं मिलता। 'छाया' और 'प्रति-ध्वनि' की कहानियाँ तरुण रोमांटिक कवि के प्रेमस्वप्न मात्र हैं या जीवन की छोटी-छोटी भंगिमाओं को पकड़ने की चेष्टा है जिसमें लेखक सब कहीं समान रूप से सफल नहीं हुआ है। 'आकाशदीप' में कम से कम कुछ ऐसी कहानियाँ हैं जिन्हें हम निर्विकार रूप से हिंदी की श्रेष्ठ कहानियों के अंतर्गत रख सकते हैं। 'आकाशदीप' 'ममता', 'स्वर्ग के खँडहर में', 'देवदासी' और 'बिसाती' ऐसी कहा-नियाँ हैं जिनपर कोई भी कलाकार गर्व कर सकता है। 'ममता' के अतिरिक्त इन सब कहानियों में प्रेम-भाव की प्रधानता है। जहाँ इतिहास के साथ प्रेम का चित्रण संभव हो सका है, वहाँ प्रसाद की कला और उनकी कल्पना अपनी पराकाष्ठा को पहुँच जाती है। परन्तु 'आँधी' या 'सालवती' जैसी रचना के लिए हमें कुछ ठहरना

पड़ता है। 'आकाशदीप' की रचनाओं से इन परवर्ती रचनाओं का आभास अवश्य मिल जाता है। जीवन के अंतिम दस वर्षों में प्रसाद की प्रतिभा ने आश्चर्यजनक तीव्र गति से विकास प्राप्त किया है और सच तो यह है कि उनकी सभी क्षेत्रों की सर्वश्रेष्ठ एवं प्रौढ़ रचनाये १९२६ ई० के बाद ही आती हैं। वस्तुतः १९२६ ई० से पहले का प्रसाद-साहित्य प्रयोगात्मक ही अधिक है और उसमें कवि की प्रतिभा की झलक-मात्र ही मिलती है। आगे की रचनाओं ने उनके कलाकार और कवि-रूप को सबसे अधिक निखार के साथ हमारे सामने उपस्थित किया है।

पहले हम 'आँधी' (१९३१) पर विचार करेंगे।

'आँधी' नाम की कहानी इस संग्रह की सबसे बड़ी और कदाचित् सर्वश्रेष्ठ कहानी है। उसकी कलात्मक और दार्शनिक पृष्ठभूमि अत्यन्त महत्वपूर्ण है और यही पृष्ठभूमि कहानी को विशेष रूप से आकर्षक बना देती है। वैसे आँधी नारी के प्रेम, आत्मत्याग और बलिदान की कहानी है। कहानी की नायिका लैला है। यह बिलोची तरुणी एक हिंदू तरुण रामेश्वर को प्यार करती है। यह प्रेम किस परिस्थिति में उत्पन्न हुआ, कैसे उसका विकास हुआ, इस सब की व्याख्या इस कहानी में हम नहीं पाते। परन्तु बाद में लैला को चिरप्रेम का आश्वासन देकर रामेश्वर देश चला आया और वह विवाहित जीवन बिताने लगा। रामेश्वर किशोर था, मालती बालिका। इस तरह के विवाह बहुधा सफल नहीं होते, परंतु यह विवाह पूर्णतः सफल हुआ। रामेश्वर और मालती हर साल अपने सुख की फसल काटते। उनके चारों ओर बालकों का कलहास उमड़ने लगा। रामेश्वर अब रामेश्वर नहीं है, रामेश्वरनाथ वर्मा है, क्यूरियो मर्चेन्ट है। मालती, मिन्ना और कमला को लेकर उसका जीवन-प्रवाह कैसी सहज गति से बहता जाता है।

परंतु एक दिन चंदा के तट पर मुचकुन्द वृक्षों की छाया में न

जाने कहाँ से आकर बिलोचियों ने अपने शिविर डाल दिये। उन खानाबदोश मानवों को देखते-देखते मैं धीरे-धीरे मुचकुन्द के पास पहुँच गया। उसकी एक डाल से बँधा हुआ एक सुन्दर बछेड़ा हरी-हरी दूब खा रहा था और लँहगा-कुरता पहने रूमाल सिर से बाँधे एक लड़की उसकी पीठ सूखे घासों के मुट्ठे से मल रही थी।

वह एक चिट्ठी ले आई।

—हिन्दुओं की चिट्ठी आप पढ़ लेंगे?

मैं उसके अद्‌भुत सौंदर्य को विस्मित नेत्रों से देख रहा था। वह ठीक-ठीक गांधार-प्रतिमा जान पड़ती थी।

—क्या नहीं पढ़ सकोगे?

चश्मा नहीं है—

परन्तु वह युवती इस तरह टलनेवाली नहीं।

चश्मा चाहिये? मैं ले आती हूँ।

परन्तु चश्मा तो बहाना-मात्र था। बिलोचियों की स्त्रियों से बोलते डर लगता है। सुन रखा था कि वे किसी वस्तु को बेचने के लिए प्रायः इस तरह तंग करती हैं कि उनसे दाम पूछनेवाले को लेकर ही छूटना पड़ता है। इसमें उनके पुरुष लोग भी सहायक हो जाते हैं। और वह बेचारा गाहक और भी झंझट में फँस जाता है।

खैर, चिट्ठी पढ़ी। एक साँस में पढ़ गया। परन्तु यह क्या! यह तो रामेश्वर का नाम है और लिखावट भी उसी की है! मालती के साथ रामेश्वर के सुखी जीवन को देख चुका हूँ, परन्तु रामेश्वर ने यह क्या किया? क्या यह दावाग्नि उसके सुख के नन्दन-वन को जला नहीं देगी? लैला को लिखे अपने इस पत्र में उसने नारी के सहज विश्वास के साथ कैसा छल किया है। घर पहुँचकर रामेश्वर का पत्र मिला—'हम दो सप्ताह के भीतर तुम्हारे अतिथि होंगे। चंदा की वायु हम लोगों को खींच रही है। मिन्ना तो तंग कर ही रहा है, उसकी माँ को और भी उत्सुकता है। उन सब को यही सूझी

है, कि दिन भर ताल में डोंगी पर, भोजन न करके हवा खायेंगे और पानी पियेंगे।' पत्र पढ़ लेने पर जैसे एक कुतूहल मेरे सामने नाचने लगा। रामेश्वर के परिवार का स्नेह, उनके मधुर झगड़े, मान-मनौवल—समझौता और अभाव में भी संतोष; कितना सुन्दर !

अभी बहुत दिन नहीं हुए थे कि लैला फिर आई युवक-भेष में एक दूसरे युवक के साथ ! युवक को लैला ने किसी बहाने से बाहर भेज दिया और फिर उसने मुस्कराते हुए बेग में से वही पत्र निकाला। टालने के लिए मैंने कहा—उसने लिखा है, मैं तुमको प्यार करता हूँ।

—लिखा है बाबू ! —लैला की आँखों में स्वर्ग हँसने लगा। वह सीढ़ियों पर अर्द्ध शयनावस्था में जैसे कोई सुन्दर सपना देखती हुई मुस्करा रही थी !

परन्तु यह तो झूठ था। रामेश्वर ने उसे छला और मैं भी उसे छलने लगा ! उस युवती की भावनाओं से खेल करने का अधिकार मुझे कब था ? मैं भयभीत हो गया। अपने ऊपर सन्देह होने लगा। लैला सुन्दरी थी, पर उसके भीतर भयानक राक्षस की आकृति थी या देवमूर्ति ! यह बिना जाने मैंने क्या कह दिया। इसका परिणाम भीषण हो सकता है। मैं सोचने लगा, रामेश्वर के साथ शत्रुता करने का मुझे क्या अधिकार है ?

चंदा के दक्षिणी तट पर ठीक मेरे बँगले के सामने एक पाठशाला थी। रामेश्वर को मैंने उसी पाठशाला में टिका दिया। मालती इस जगह में भी अपनी सम्पूर्ण गृहस्थी सजाने लगी। मालती एक स्वस्थ युवती है; किन्तु दूर से देखने में अपनी छोटी आकृति के कारण वह बालिका-सी लगती है। उसकी तीनों संतानें बड़ी सुन्दर थीं—मिन्ना छ बरस का, रंजन चार का और कमलो दो साल की। कमलो तो गुड़िया ही थी। मेरे नौकर कल्लू से उसने कैसा परिचय जोड़ लिया !

कुछ दिन बीत गये। इन्हीं कई दिनों में रामेश्वर के प्रति मेरे हृदय में इतना स्नेह उमड़ा कि मैं उसे एक क्षण छोड़ने के लिए प्रस्तुत न था। साथ भोजन, साथ टहलना। बातों का तो अंत ही न था। कल्लू तीनों लड़कों को बहलाये रहता। दुलारे खाने-पीने का प्रबंध कर लेता। रामेश्वर से मेरी बातें होतीं और मालती चुपचाप सुना करती। कभी-कभी बीच में कोई अच्छी-सी मीठी बात बोल भी देती।

एक दिन मैं अकेला बाज़ार से लौट रहा था। बँगले के पास पहुँचा ही था कि लैला मुझे दिखाई पड़ी। उस दिन न जाने क्यों मैंने सत्य बात बता दी। उस चिट्ठी में वह सब नहीं था, जो मैंने उसे बताया था।

झूठ!—लैला की आँखों से बिजली निकलने लगी थी।

हाँ लैला! उसमें रामेश्वर ने लिखा था, कि मैं तुम्हें नहीं चाहता। मेरे बाल-बच्चे हैं।

—ऐं! तुम झूठे! दग़ाबाज़!—कहती हुई लैला अपनी छुरी की ओर देखती हुई दाँत पीसने लगी।

परन्तु क्षण भर बाद ही वह बदल गई। वहीं बैठकर रोने लगी। मैं तुरंत ही वहाँ से चल देना चाहता था; किन्तु लैला ने आँसू भरी आँखों से मेरी ओर देखते हुए कहा—तुमने मेरे लिए दुनिया में एक बड़ी अच्छी बात सुनाई थी। वह मेरी हँसी थी! इसे जानकर आज मुझे इतना ग़ुस्सा आता है कि तुमको मार डालूँ या आप ही मर जाऊँ।—लैला दाँत पीस रही थी। मैं काँप उठा—अपने प्राणों के भय से नहीं; किन्तु लैला के साथ अदृष्ट के खिलवाड़ पर और अपनी मूर्खता पर।

अंत में उसने कहा—मैं उसको एक बार देखना चाहती हूँ।

मैं उसे दिखा दूँगा; पर तुम उसकी कोई बुराई तो न करोगी? —मैंने कहा।

हुश !—कहकर लैला ने अपनी काली आँखें उठाकर मेरी ओर देखा।

परंतु उस दिन मैंने उसे टाल दिया।

और एक दिन मैंने लैला को बता ही दिया—वह यहीं आ गया है। उसके बाल-बच्चे सब साथ हैं। लैला, तुम चलोगी ?

वह मेरे पीछे-पीछे चली। जब हम पहुँचे तो मालती गा रही थी। उसके सफ़री बाजे पर पीलू कितना साफ उतर रहा था। रामेश्वर लेटा हुआ उसके मुँह की ओर देख रहा था। प्रसन्नता की माधुरी दोनों के मुँह पर खेल रही थी। पास ही रंजन और मिन्ना बैठे हुए अपने माता-पिता को देख रहे थे। कमलो प्रज्ञासारथि की गोद में थी। तभी लैला ने रामेश्वर को सलाम किया। दोनों की आँखें मिलीं। रामेश्वर के मुँह पर पल भर के लिए एक घबराहट दिखाई पड़ी। फिर उसने सम्हल कर पूछा—अरे लैला ! तुम यहाँ कहाँ ?

चारयारी,न लोगे, बाबू !—कहती हुई लैला निर्भीक भाव से मालती के पास जाकर बैठ गई।

रामेश्वर ने कहा—चारयारी ले आई हो ? लैला ने हाँ कहते हुए अपना बेग खोला। फिर रुक कर उसने अपने गले का एक तावीज़ निकाला। रेशम से लिपटा हुआ चौकोर तावीज़ खोलकर उसने वही चिट्ठी निकाली। मैं स्थिरभाव से देख रहा था। लैला ने कहा—पहले बाबू, इस चिट्ठी को पढ़ दीजिये। रामेश्वर ने कंपित हाथों से उसको खोला, उसी का लिखा हुआ पत्र था। उसने घबरा कर लैला की ओर देखा। लैला ने शांत स्वर में कहा—पढ़िये बाबू ! मैं आप ही के मुँह से सुनना चाहती हूँ।

रामेश्वर ने दृढ़ता से पढ़ना प्रारंभ किया। जैसे उसने अपने हृदय का समस्त बल आनेवाली घटनाओं का सामना करने के लिए एकत्र कर लिया है। पत्र पढ़ा जा चुका। लैला ने रामेश्वर से

कहा—ठीक तो ! मैंने सुन लिया। अब आप उसको फाड़ डालिये। तब आपको चारयारी दिखाऊँ।

रामेश्वर ने पत्र फाड़ दिया। चिन्दी-चिन्दी कर डाली। लैला ने जो छिपी हुई गहरी साँस ली, उसमें कितनी वेदना थी। फिर उसने सचमुच एक सोने की चारयारी निकाली और उसके साथ एक मूँगे की माला। रामेश्वर को उसने चारयारी पकड़ा दी। मालती अपने पति के व्यवसाय को जानती थी। उसने पचास रुपये के नोट द दिये। परंतु कमलो मूँगे की माला के लिए तड़प रही थी। लैला ने माला उसे पहना दी। रामेश्वर नहीं-नहीं कर ही रहा था; किन्तु उसने सुना नहीं ! मालती बोली—तो ले लो न, इसका भी दाम दे दो।

लैला ने तीव्र दृष्टि से मालती को देखा। मालती हँस पड़ी। उसने कहा—क्या दाम न लोगी ?

तभी लैला कमलो का मुँह चूमती हुई उठ खड़ी हुई। लैला चली गई।

दूसरे दिन गुल ने आकर बताया, लैला को हवा लगी है, कोई आसेब है। लैला का विवर्ण सुन्दर मुख मेरी आँखों के आगे घूमने लगा। उस सारे दिन बार-बार लैला का ध्यान आता रहा। और वह रात कैसी निस्तब्ध थी ! आकाश की आलोक-माला चंदा की वीचियों में डुबकियाँ लगा रही थी। दूर से एक संगीत की—नन्हीं-नन्हीं करुण वेदना की तान सुनाई पड़ रही थी। फिर सहसा आँधी चलने लगी। दक्षिण का आकाश धूसर हो चला। पक्षियों का कोलाहल बढ़ा। अंतरिक्ष व्याकुल हो उठा।....वह संगीत की ध्वनि समीप आ रही थी। वज्र-निर्घोष को भेद कर कोई कलेजे से गा रहा था। अंधकार के साम्राज्य में तृण, लता, वृक्ष सचराचर कंपित हो रहे थे। उस भीषण कोलाहल में वही संगीत-ध्वनि पवन के हिंडोले

पर झूल रही थी। सहसा एक भीषण अराहट हुई। अब मैं टार्च लिये बाहर आ गया।

आँधी रुक गई थी। मैंने देखा कि पीपल की एक बड़ी-सी डाल फट पड़ी है और लैला उसके नीचे दबी हुई अपनी भावनाओं की सीमा पार कर चुकी है।

यह है लैला की प्रेम-कहानी। कला, कल्पना और कविता के श्रेष्ठतम अंशों से सँवार कर प्रसाद ने प्रेम, बलिदान और त्याग की यह कहानी कही है। कहानी में मनोवैज्ञानिक उत्थान-पतन अधिक नहीं है। चित्रण भी एकांगी है। रामेश्वर और मालती के हृदय के संघर्ष से हम परिचित नहीं। केवल लैला का हृदय दर्पण की भाँति भावों के घात-प्रतिघात के अनेक बिंब उठाता हुआ हमारे सामने आता है। प्रेमचंद ने इसी कथानक को लेकर एक कहानी लिखी है, परंतु उसमें हृदय के तत्त्वों का इतना सुन्दर निरूपण नहीं है। उसमें कथानक-मात्र महत्वपूर्ण है। प्रसाद की कहानी-कला ज्ञान-विज्ञान, दर्शन और भावों के विश्लेषण के सहारे बहुत ऊपर उठ जाती है। उसका क्षेत्र ही दूसरा है। वह केवल कहानी नहीं रह जाती। वह जीवन बन जाती है। उसमें हृदय के अन्यतम स्पंदन को इतनी कुशलता से पकड़ लिया जाता है कि हमें आश्चर्य होने लगता है।

'मधुआ' में एक शराबी के हृदय के सरल, भावुक और करुणा-पूर्ण पक्ष का चित्रण है। प्रसाद की कला करुणा को बड़े सुन्दर ढंग से उभारती है। यथार्थवाद की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं—'यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात। उसमें स्वभावतः दुःख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है। लघुता से मेरा तात्पर्य है साहित्य में माने हुए सिद्धांत के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण के अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुःखों और अभावों का वास्तविक उल्लेख।'

व्यक्ति की दुर्बलताओं में भी बहुत-सी ऐसी बातें छिपी होती हैं जो उसे महान घोषित करने में समर्थ हैं। जहाँ पर दुःख-क्रन्दन है, मानवता है, सहानुभूति है, आत्मविश्वास है, बलिदान है, वहीं श्रेष्ठ मानव है। छोटा-बड़ा कोई नहीं है। हमारे दुःखों और कष्टों के कारण प्रचलित नियम और प्राचीन सामाजिक रूढ़ियाँ हैं। अपराधों के मनोवैज्ञानिक विवेचन से यह पता चलता है कि जिन्हें हम पाप कहते हैं वे वास्तव में कृत्रिम पाप हैं। फलतः अपराधियों के प्रति सहानुभूति और अपराधियों में मानवता की प्रतिष्ठा साहित्य का ध्येय बन जाता है। 'मधुवा' का चित्र इसी भावना से प्रभावित है। मधुवा पीता है। कभी-कभी इतना पी लेता है कि सुध-बुध भी नहीं रहती। एक ठाकुर साहब को कहानी सुना कर जीवन-निर्वाह करता है। परंतु एक दिन अकस्मात् उसके जीवन में स्नेह के अंकुर फूट निकलते हैं। रात बीतने लगी थी। ठाकुर साहब को बहला कर और एक रुपया पुरस्कार लेकर वह बाहर निकला था कि ठाकुर साहब के जमादार लल्लू की कोठरी से किसी सुकुमार कंठ के सिसकने का शब्द सुनाई पड़ा। यह एक भयभीत बालक का कंठस्वर था। बालक का नाम मधुवा है। वह ठाकुर साहब के यहाँ नौकर है। आज उसे खाना नहीं मिल सका है। फ़रियाद लेकर जमादार के घर पहुँचा तो यह हाल हुआ। जमादार ने उसे साफ़ उत्तर दे दिया। अभागा बालक खाये-पिये बिना कैसे सो रहे!

भयभीत और तिरस्कृत बालक बाहर आ रहा था। शराबी ने उसके छोटे-से सुन्दर गोरे मुँह को देखा। आँसू की बूँदें ढुलक रहीं थीं। बड़े दुलार से उसका मुँह पोंछते हुए उसे लेकर वह फाटक के बाहर चला आया। दस बज रहे थे। कड़ाके की सरदी थी। घर पहुँच कर शराबी ने बालक को कुछ खाना देना चाहा। फटे कम्बल के नीचे खोजने पर एक पराठे का टुकड़ा मिला। शराबी ने उसे बालक के हाथ में देकर कहा—तब तक तू इसे चबा; मैं तेरा गढ़ा

भरने के लिये कुछ और ले आऊँ—सुनता है रे छोकरे! रोना मत, रोयेगा तो, खूब पीटूँगा। मुझसे रोने से बड़ा बैर है। पाजी कहीं का।—और एक रुपया लेकर वह खाना खोजने चला। पहले सोचा बारह आने का एक देशी अद्धा और दो आने की चाप ...दो आने की पकौड़ी...नहीं-नहीं आलू, मटर....परंतु उस बालक का पेट जो भरना है। अब शराब वह कैसे पी सकेगा। परतु इस अंतर्द्वन्द का शीघ्र ही फ़ैसला हो गया। उसने अपने को मिठाई की दूकान पर खड़ा पाया। घर आकर वह दोनों दो मित्रों की तरह बैठ-कर खाने लगे। शराबी कहता जाता—नटखट कहीं का, हँसता है। सोंधी बास नाक में पहुँची न! ले खूब ठूँस कर खाले और फिर रोया कि पिटा!

धीरे-धीरे निर्द्वन्द शराबी मोह के इंद्रजाल में फँस गया। एक किसी मित्र के यहाँ उसकी सान रखने की कल पड़ी थी। वह उसे उठा लाया। यह पुराना चरखा उसे फिर चलाना पड़ेगा, परंतु अब वह प्रसन्न है। मधुवा भी राज़ी है। वह भी यह काम कर लेगा। ठाकुर की झिड़कियाँ तो उसे सुननी नहीं पड़ेंगी। शराबी सोचता—बैठे-बिठाये यह हत्या कहाँ से लगी। अबै तो शराब न पीने की मुझे भी सौगन्ध लेनी पड़ी।

—और एक दिन जब वह कल उठाकर बाज़ार चला, तो गठरी लाद कर मधुवा पीछे-पीछे उसके साथ था। अब वह उन्मुक्त पक्षी स्नेह के जाल में फँस चुका था। दीनों और उपेक्षितों में भी मानवता के श्रेष्ठतम अंश छिपे हुए हैं—उन्हें अपराधी कह कर उनकी उपेक्षा ठीक नहीं, कुछ इसी प्रकार की विचारधारा इस कहानी में दिखलाई देती है।

'दासी' ऐतिहासिक कहानी है। उसे पूर्णतः ऐतिहासिक भी नहीं कह सकते, परंतु इतिहास की पृष्ठभूमि उसमें है। मसऊद ग़ज़नवी और महमूद ग़ज़नवी के राजकाल से कहानी का कथानक संबंध

रखता है। तिलक मसऊद का एकमात्र दरबारी है। वह हिंदू है। साधारण स्थिति से उठकर वह सुलतान के सलाहकारों के पद तक पहुंच गया है। वह भूला नहीं है कि वह भी हिन्दुस्तान का ही एक कंगाल था। परन्तु वे दिन अब चले गये। फिर भी भीतर-भीतर न जाने कौन उसे बराबर झकझोर रहा है। उसने आकांक्षा का नशा पी लिया है। अब वह लौट भी नहीं सकता। अहमद जब हिन्दुस्तान जाने लगा था तो उसने अपनी दासी फीरोज़ा को तिलक के यहाँ रख दिया था। फीरोज़ा को आशा थी, अहमद कुछ दिनों में वहाँ से थैली भेज देगा और उसे छुट्टी मिल जायेगी। अहमद से उसे सच्चा प्रेम था। उसे क्या पता था कि उसका अहमद धीरे-धीरे पंजाब का शासक अहमद नियाल्तगीन बन गया है? मसऊद की सेना में कुछ हिंदू सैनिक भी थे। बलराज भी इनमें से एक था। सिल्जूकों के युद्ध में हार होने पर सुल्तान ने उन्हें नौकरी से अलग कर दिया। सैनिकों के लिए यह अपमान मृत्यु से बढ़कर था। उन्होंने इस अपमान से छुटकारा पाने के लिए आत्महत्या कर ली। परंतु बलराज मर नहीं सका। फीरोज़ा ने बाधा दी। हिन्दुस्तान में जिसे अपने पीछे छोड़ आया है, उसकी तो उसे चिन्ता होनी चाहिये। एक दिन राजा तिलक ने उन दोनों की बातें सुनीं और दोनों को हिन्दुस्तान भेजने का प्रबंध कर दिया। तिलक की बहिन इरावती ही बलराज की परिणीता थी, परंतु तिलक इस बात को कब जानते थे? बलराज के ग़जनी चले जाने के बाद इरावती को कितने दुःख सहने पड़े। म्लेच्छों ने उसे मुलतान की लूट में पकड़ लिया। अनेक अत्याचारों के बाद अंत में वह पाँच सौ दिरम पर काशी के एक महाजन के हाथ बेच दी गई। बड़ी खोज के बाद बलराज ने उसे पाया, परंतु इरावती तो अपना देह-मन अपनी स्वामिनी को बेच चुकी थी। बलराज ने याचना की—इरावती! मुझ पर दया करो। परंतु इरावती ने केवल कहा—यदि मैं वैसा करती, तो मुझे इस जीवन की सबसे बड़ी

प्रसन्नता मिलती; किन्तु वह मेरे भाग्य में है कि नहीं, इसे भगवान ही जानते हैं। बलराज कई दिन तक धनदत्त के उपवन के चारों ओर चक्कर लगाता रहा। एक दिन वह काशी छोड़ने ही वाला था कि नियाल्तगीन और उसके कुछ आदमी मिले। वे सब काशी आये थे। नियाल्तगीन को फीरोज़ा के लिए बनारसी ज़री के कपड़े खरीदने थे। बलराज को उन्होंने पहचान लिया। वह भी साथ हो लिया। परंतु वाणिज्य के बीच में कहा-सुनी हो गई और इस रक्तपात में इरावती ही धनदत्त की जान बचा सकी। इरावती और बलराज को लेकर यह छोटी-सी तुर्की टोली पंजाब की ओर लौट गई। परंतु फीरोज़ा के प्रयत्न करने पर भी इरावती बलराज को उसके प्रेम का प्रतिदान नहीं दे सकी। परंतु इरावती फीरोज़ा के साथ भी नहीं रह सकी। एक दिन अहमद ने उसके साथ छल करना चाहा। उसी दिन फीरोज़ा इरावती को लेकर निकल खड़ी हुई।

इधर बलराज के नेतृत्व में जाटों ने पराधीनता के विरुद्ध युद्ध ठान लिया है। एक घने जंगल में इरावती और फ़ीरोजा ऐसे ही युद्ध के बीच में फँस गईं। बलराज इस युद्ध में घायल हुआ, परंतु उसका भाला अहमद की छाती से पार हो गया था। उसी समय ग़ज़नी की सेना के साथ तिलक आ पहुँचे। उन्होंने पहचाना—यह तो उन्हीं की दुखिया बहन इरावती है। 'इरावती, मुझे क्षमा कर, मैं तुझे भूल गया था'—तिलक ने विनीत शब्दों में कहा। 'भाई!' इरावती आगे कुछ न कह सकी। उसका गला भर आया था। उसने तिलक के पैर पकड़ लिये। बलराज जाटों का सरदार बना, इरावती रानी। परंतु फ़ीरोजा तो अहमद की समाधि पर आँसू के फूल ही चढ़ाती रही। इस प्रकार प्रेम, त्याग और बलिदान की परंपरा स्थापित हुई।

'घीसू' 'मधुवा' के ढंग की एक दूसरी यथार्थवादी कहानी है जिसमें उपेक्षित, दीन-हीन मानव के हृदय में करुणा के अन्तःस्रोत का

खोज की गई है। घीसू का काम है तान उड़ाना, बूटी घोटना और पीना, नन्द बाबू की बीन सुनना और दशाश्वमेध पर रेज़गी बेचना। गोविन्दराम के घाट पर बिन्दो नाम की कोई विधवा नहाने आती, उससे रुपया भुनाती, दो क्षण आमोद-प्रमोद हो जाता। बस वह इसी से प्रसन्न ! एक दिन की बात है। वर्षा के दिन थे। रात के आठ बजे थे और घीसू लौट रहा था। सावन के मेघ घिरे थे, फूही पड़ रही थी। घीसू गा रहा था—निसि दिन बरसत नयन हमारे। छींटों से बचने के लिए वह ज़रा एक जगह रुका तो उसे बगीचे के कमरे से कुछ आर्तस्वर सुनाई पड़े। बिन्दो का स्वर था। इस आदमी को बिन्दो ने आत्मसमर्पण किया था, आज यही इस दूसरी स्त्री के साथ। पुरुष को यह अधिकार पसन्द नहीं। वह दो टूक कर देना चाहता है। बिन्दो के लिए उसके पास कोई स्थान नहीं। उस दिन बिन्दो घीसू के गले पड़ गई। उसने नन्दू बाबू की कोठरी उसके लिए खाली कर दी। स्वयं गोविंदराम के पास रहने लगा। नशा-पानी उसने छोड़ दिया। दिन-दिन वह दुर्बल होता जाता, परंतु प्रतिदिन बिन्दो को चार आने पैसे उसे देने थे। अंत में एक दिन उसे ज्वर ने दबा लिया। रात भर वह बेतरह तड़पा। सुबह बिन्दो आई। दरवाज़ा ढ़केल कर भीतर देखा—घीसू छटपटा रहा था। उसे जल पिलाया। घीसू ने कहा—'बिन्दो, क्षमा करना; मैंने तुम्हें बड़ा दुःख दिया। अब मैं चला, लो यह बचा हुआ पैसा। तुम जानो, भगवान·········'। घीसू चला गया। बिन्दो उसकी बची हुई पूँजी से पैसे की दूकान करने लगी। उसका यौवन, रूप-रंग कुछ नहीं रहा। बच रहा—थोड़ा-सा पैसा और बड़ा-सा पेट—और पहाड़ से आने वाले दिन।

'बेड़ी' में इसी तरह का, परंतु कुछ भिन्न ढंग का एक दूसरा यथार्थवादी दृश्य है। मनुष्य के स्वार्थ का अंत नहीं है। वह अपने स्वार्थ के लिए परोपकार का नाम लेकर दूसरे की हत्या करने में भी समर्थ है।

सूरदास के साथ ९-१० वर्ष का एक लड़का था। पूछने पर वह कहता—'बाबूजी, यह मेरा लड़का है। मुझ अंधे की लकड़ी है। इसके रहने से पेट-भर खाने को माँग सकता हूँ और दबने-कुचलने से भी बच जाता हूँ।' फिर एक दिन मालूम हुआ कि लड़का कलकत्ता भाग गया है। कई महीने बीतने पर चौक में वही बुड्ढा फिर दिखाई पड़ा। उसकी लाठी पकड़े वही लड़का अकड़ा हुआ खड़ा था। पूछने पर बुड्ढा बोला—बाबूजी अब यह नहीं भाग सकेगा, इसके पैरों में बेड़ी डाल दी गई है। सचमुच, बालक के पैरों में बेड़ी थी। हे भगवान्, भीख मँगवाने के लिए, पेट के लिए, बाप अपने बेटे के पैर में बेड़ी भी डाल सकता है! संसार, तेरी जय हो!—और फिर एक दिन दो पैसे के कचालु के लिए लड़ता-झगड़ता वह बालक जब पैसे लेकर कचालू खाने चला, तो नवीन बाबू की मोटर के नीचे आ रहा। पैर की बेड़ियों ने उसके प्राण ले लिये। बुड्ढा चिल्ला-चिल्ला कर रो रहा था—काट दो बेड़ी। बाबा, मुझे न चाहिये। परंतु बालक के प्राणपखेरू अपनी बेड़ी काट चुके थे यह संसार ही कुछ ऐसा है। यहाँ मनुष्य का स्वार्थ ही सबसे ऊपर है।

'व्रतभंग' प्राचीन वातावरण में सेवा-व्रत की एक नई कहानी। नन्दन और कपिंजल मित्र हैं। नन्दन पाटलिपुत्र के कुबेर धनकलश का पुत्र है। कपिंजल अकिंचन है। दोनों ने गुरुगृह में साथ-साथ शिक्षा पाई है। परंतु एक दिन नन्दन के किसी व्यवहार से कपिंजल के मन को ठेस पहुँची। उसे लगा, नन्दन के पास ऐश्वर्य का दर्प है और वह उसी में भूला हुआ है। परंतु क्या उसकी अकिंचनता उससे अधिक गर्ववती नहीं है? इसी बात पर अकिंचन के मन ने एक व्रत ठान लिया। वह दरिद्रता को भी दिखला देगा कि वह क्या है। इस पाखंड-संसार में वह भूखा रहेगा, परंतु किसी के सामने सिर न झुकायेगा। हो सकेगा, तो संसार को झुकने के लिए बाध्य करेगा

नन्दन घर लौट आया। महाश्रेष्ठि धनञ्जय की कन्या राधा से उसका ब्याह संपन्न हुआ। परंतु उन्हीं दिनों एक नङ्गा साधु मगध में आया और घर-घर पूज्य बन गया। कलश की उस पर बड़ी आस्था थी। नन्दन और राधा को लेकर वह भी साधुदर्शन को चला। परंतु साधु को नग्न देखकर राधा लौट आई। नन्दन ने पहचाना, साधु और कोई नहीं था, वही कपिंजल था। साधु ने कहा—यह तुम्हारी पुत्र-वधू कुलक्षणा है कलश! तुम इसे हटा दो, नहीं तो तुम्हारा नाश निश्चित है। घर लौट कर कलश ने राधा को लांछित करना चाहा, परंतु राधा अपनी बात पर अडिग थी। नन्दन सुन रहा था, परंतु काठ के पुतले के समान। अंत में राधा के उपवन को सबने परित्यक्त और उपेक्षणीय बना दिया। नन्दन के लिए ऐश्वर्य-सुख और मनोविनोद के नये साधन खोजे जाने लगे। कितने कष्टों से आभूषण बेच-बेच कर राधा ने वे दिन काटे।

तभी गंगा और शोण में एक साथ ही बाढ़ आई। गाँव के गाँव बहने लगे। भीषण हाहाकार मचा। नन्दन का सत्साहस जगा। वह नाव लेकर पीड़ितों की सेवा में डट गया। कलश अपने भवन के सातवें खंड से पुत्र का यह साहस देखता और उसे धिक्कारता। अंत में उसने आदेश दिया, अब प्रासाद में किसी के लिए भी स्थान नहीं है, नन्दन के लिए भी नहीं। और जब एक दिन कुछ पीड़ितों के साथ नन्दन नाव पर लौटा तो प्रहरियों ने उसे यह संदेश सुना दिया। इस अगाध जल-राशि में वह नाव किधर ले जाय?—सहसा दूर जल-मग्न वृक्षों की चोटियों और पेड़ों के बीच में एक गृह का ऊपरी अंश दिखाई पड़ा। नन्दन ने संकेत किया। माझी उसी ओर नाव खेने लगे।

जहाँ से प्रकाश आ रहा था, वहाँ राधा का गृह था। केवल छत बच रही थी, परंतु सदाशया राधा ने पीड़ितों को स्थान दिया और उनकी सेवा-सुश्रुषा में लगी। नन्दन नाव लेकर फिर चला। अभी

आधी रात शेष थी। कुछ देर बाद नन्दन लौटा। एक नग्न मूर्च्छित व्यक्ति उसके साथ था। राधा ने उसे एक उत्तरीय से ढक दिया। यह व्यक्ति कपिंजल था। मूर्च्छा टूटने पर वह व्यक्ति चिल्ला उठा —मुझे वस्त्र किसने पहनाया, मेरा व्रत किसने भंग किया ?

नंदन ने हँस कर कहा—कपिंजल ! यह राधा का गृह है, तुम्हें उसके आज्ञानुसार यहाँ रहना होगा। छोड़ो पागलपन। चलो, बहुत से प्राणी हम लोगों की सहायता के अधिकारी हैं।' कपिंजल हार गया। अब नन्दन भी तो धनी कलश का पुत्र नन्दन नहीं था। उसने कहा—कपिंजल, आज तो हम और तुम दोनों बराबर हुए और इतने अधमरों के प्राणों का दायित्व भी हमीं लोगों पर है। यह व्रत-भंग नहीं व्रत का आरम्भ है। और कपिंजल आज्ञाकारी बालक की भाँति सिर झुकाये उठ खड़ा हुआ।

'ग्रामगीत' में ठाकुर जीवनसिंह से प्रेम करनेवाली पगली रोहिणी की कहानी है। कहानी में कोई विचित्रता नहीं है, परन्तु उसे नये ढंग से रख कर प्रसाद ने उसको एक अत्यन्त सुन्दर और भावुक पृष्ठभूमि दे दी है। रोहिणी ने अपने प्राण दे दिये, परन्तु अपने पागलपन में भी वह प्रेम की बात नहीं भूली। कवि की कला एक साधारण प्रेमगाथा में भी कितने प्राण डाल सकती है, यह इस कहानी से स्पष्ट हो जाता है।

'विजया' में मानव के मन की विजय का एक अत्यंत स्वस्थ चित्र है। कमल का सब रुपया उड़ चुका है—सब सम्पत्ति बिक चुकी है। रह गया है केवल एक रुपया। उस रुपये को लेकर वह नदी के किनारे बैठा है। अब वह जीकर क्या करेगा ? सोचा, इस रुपये को भी नदी में डाल दूँ, परन्तु फेंक नहीं सका। परन्तु प्राणों का मोह वह कब तक करेगा ? प्राण तो वह देगा ही ?—तभी उसने सुना, बेटा दशमी का उत्सव देखना चाहता है और मा से कुर्ता दिलाने की बात कहता है। परन्तु मा के पास रुपया कहाँ ! कमल ने

पहचाना—विधवा सुन्दरी का ही स्वर है। इसे भी तो उसी ने छला है। साहस करके वह सामने आया। परन्तु सुन्दरी क्या उसे अपने पाप का मूल्य समझ ले? क्या वह कमल की परिस्थिति से परिचित नहीं है? उसने कमल के पौरुष को ललकारा—'समाज से डरो मत। अत्याचारी समाज पाप कह कर कानों पर हाथ रख कर चिल्लाता है। वह पाप का शब्द दूसरों को सुनाई देता है। पर वह स्वयं नहीं सुनता। आओ चलो, हम उसे दिखा दें, कि वह भ्रांत है। मैं चार आने का परिश्रम प्रतिदिन करती हूँ। तुम भी सिलवर के गहने माँज कर कुछ कमा सकते हो। थोड़े से परिश्रम से हम लोग एक अच्छी गृहस्थी चला लेंगे। चलो तो!' और कमल की चेतना जाग उठी। बालक को उसने गोद में उठा लिया और सुन्दरी के साथ विजयादशमी का मेला देखने चला। विजया के आशीर्वाद के समान चाँदनी मुस्करा रही थी। कमल का मन केन्द्र-स्थित हो गया था। अब वह परिस्थिति से लड़ने के लिए तैयार था।

'अमिट स्मृति' होली की एक वीभत्स कथा की स्मृति जगाई गई है। कहानी साधारण है। उसमें भावुकता की मात्रा विशेष रूप से विकसित हुई है। जान पड़ता है, किसी सुनी-सुनाई घटना को आधार बना कर प्रसाद ने यह कहानी लिख दी। होली के अवसर पर न जाने कितने घर बिगड़ते हैं, न जाने कितने बवंडर होते रहते हैं। उन्हीं में से एक को लेकर इस कहानी की रचना की है।

'नीरा' कहानी में कहानी की अपेक्षा उसके बौद्धिक तत्त्व का महत्त्व अधिक है। कहानी मौरिशस से लौटे हुए एक बूढ़े कुली से संबंधित है जिसकी पुत्री का नाम नीरा है। जीवन की अस्त-व्यस्त अवस्था और कटु अनुभवों ने बूढ़े को समाज, उसके ईश्वर, उसके सभ्यों और उसके लोकव्यवहार के विरुद्ध विद्रोही बना दिया है। देवनिवास की बात से उसमें ईश्वर-विश्वास जाग्रत होता है और कम-से-कम कहानी के अंत में मृत्युशय्या पर वह ईश्वर-

विश्वासी बन जाता है। कहानी के अंत में सामाजिक न्याय के अनुसार देवनिवास नीरा का पाणिग्रहण करने के लिए भी तैयार हो जाता है। ऐसी कहानियाँ अनेक मिलेंगी, परन्तु कथोपकथन में ऐसी अनेक चीज़ें हैं जो इस कहानी को श्रेष्ठता प्रदान करती हैं।

अब रह गई 'पुरस्कार' कहानी। यहाँ प्रसाद हमें फिर एक बार अपने चिर-परिचित ऐतिहासिक रंग में दिखलाई देते हैं। प्राचीन भारत के गौरव-चित्रों के उपयुक्त ही उन्होंने अत्यंत ऐश्वर्यमयी भाषा-शैली का प्रयोग किया है। प्रसाद की प्राचीन भारत से संबंधित सभी कहानियों में यही ऐश्वर्यमयी आकर्षक भाषा-शैली मिलती है। कहानी में देशप्रेम और प्रेम को लेकर एक विचित्र संघर्ष की योजना की गई है। इस प्रकार की योजना प्रसाद की अनेक कहानियों में मिलती है, परन्तु ऐतिहासिक वातावरण के कारण यह कहानी अन्य कहानियों से कुछ भिन्न हो जाती है।

मधूलिका सिंहमित्र की कन्या है। सिंहमित्र ने मगध के विरुद्ध कोशल के जिस वीरत्व का परिचय दिया था, उसे कोशल भूला नहीं है। इसी से सिंहमित्र की कन्या का भी सारे देश में मान है। एक दिन आर्द्रा नक्षत्र में कोशल-महाराज ने इंद्रपूजन किया। मगध का एक राजकुमार अरुण भी इस उत्सव में सम्मिलित था। परन्तु जिस खेत को चुना गया था, वह मधूलिका का था। बीजों का एक थाल लिये कुमारी मधूलिका महाराज के साथ चली। उत्सव के अंत में मधूलिका ने पुरस्कार लेकर पितामहों की भूमि बेचना अस्वीकार कर दिया। वाराणसी-युद्ध के अन्यतम वीर दिवंगत सिंहमित्र की कन्या के सामने महाराज की एक न चली। दूसरे दिन राजकुमार अरुण मधूलिका के पास पहुँचा। हृदय का सारा प्रणय उसने उसके चरणों में उँडेल दिया परन्तु मधूलिका ने उसे एक कृषक-बालिका का अपमान ही समझा। वर्षों बीत गये। बीच-बीच में कभी-कभी मधूलिका को उस राजकुमार की स्मृति आ जाती। एक दिन वर्षा ने भयङ्कर

रूप धारण कर लिया। गड़गड़ाहट बढ़ने लगी। ओले पड़ने की संभावना थी। उसी समय अरुण पथिक बन कर आश्रय लेने आ पहुँचा। परन्तु वह अकेला नहीं था। एक क्षण तो सरल मधूलिका के मन में प्रमाद का अंधड़ बहने लगा—द्वन्द मच गया। उसने सहसा कहा—आह, मैं सचमुच आज तक तुम्हारी प्रतीक्षा करती थी, राजकुमार! परन्तु जब अरुण ने उसे अपनी योजना बताई तो मधूलिका की आँखों के आगे बिजलियाँ हँसने लगीं। दारुण भावना से उसका मस्तक विकृत हो उठा। परन्तु उसने अरुण को सहायता देना स्वीकार कर लिया।

दूसरे दिन मधूलिका महाराज के सम्मुख उपस्थित हुई। महाराज से अग्रहपूर्वक दुर्ग के दक्षिणी नाले के पास की भूमि उसने माँग ली। सिंहमित्र की कन्या के नाते महाराज उस ऊबड़-खाबड़ भूमि को भी देने के लिए तैयार हो गये। अरुण के सैनिकों ने उस बन में पथ बनाया। कुछ दिन बाद— केवल चार प्रहर की बात थी। परन्तु यह चार प्रहर कम नहीं थे। उधर अरुण के सैनिक दुर्ग की ओर बढ़े, इधर मधूलिका के मन में पश्चात्ताप जागा। वह गिरती-पड़ती नगर की ओर चल दी। सैनिकों ने उसे सेनापति तक पहुँचा दिया। सेनापति ने महाराज के पास। दस्युओं का प्रबन्ध हो गया। महाराज ने देखा, सिंहमित्र की परंपरा समाप्त नहीं हुई है। परन्तु मधूलिका घृणा और लज्जा से गड़ी जा रही थी। वही अरुण जब बधस्थल पर पहुँच गया तो महाराज ने मधूलिका से पुरस्कार माँगने को कहा। परन्तु मधूलिका को तो उसके अंतर्द्वन्द ने स्वतः ही मार डाला था। वह क्या कहती। राजा ने कहा—मेरे निज की जितनी खेती है, मैं सब तुझे देता हूँ। मधूलिका ने एक बार बंदी अरुण की ओर देखा। उसने कहा—मुझे कुछ न चाहिये। अरुण हँस पड़ा। राजा ने कहा नहीं, मैं तुझे अवश्य दूँगा! माँग ले।

'तो मुझे भी प्राणदंड मिले।' कहती हुई वह बंदी अरुण के

पास जा खड़ी हुई। मधूलिका का अंतर्द्वन्द इस कहानी का प्राण है और इस अंतर्द्वन्द को लेखक अत्यंत कुशलता-पूर्वक अंकित करने में पूर्णतः सफल हुआ है।

'आँधी' की इन कहानियों को हम 'आकाशदीप' और 'इंद्रजाल' के बीच में रख सकते हैं। प्रसाद की प्रौढ़ भाषा-शैली और कवि-कल्पना का पूर्ण उन्मेष हमें यहाँ मिलता है। परन्तु सभी कहानियाँ एक ही कोटि की नहीं हैं। फिर भी 'आँधी', 'ग्रामगीत' और 'पुरस्कार' जैसी प्रेम-कहानियाँ और 'घीसू' और 'बेड़ी' जैसे यथार्थवादी कारुणिक चित्र प्रसाद के द्विविध व्यक्तित्व की ओर संकेत करते हैं। उनकी कला रोमांस और यथार्थवाद को एक ही साथ, एक ही समय करने में समर्थ है।

अब 'इन्द्रजाल'।

'इंद्रजाल' (१९३६) ही लेखक का सर्वश्रेष्ठ कहानी-संग्रह है। वास्तव में इस संग्रह की कहानियाँ अत्यंत उच्च कोटि की हैं और प्रसाद की सर्वश्रेष्ठ कहानियों के संग्रह में इस संग्रह की कहानियाँ सब से अधिक संख्या में आयेंगी, यह निश्चित है। इस संग्रह की अधिकांश कहानियाँ या तो ऐतिहासिक हैं या यथार्थवादी। प्रसाद की प्रतिभा रोमांटिक (स्वच्छंदतावादी) ही अधिक है। उन्होंने इतिहास को भी रोमांस के भीतर से ही देखा है। इसी से शुद्ध इतिहास उनकी रचना में दिखलाई नहीं पड़ता, उस पर कवि की कल्पना और उसकी अभिरुचि का रंग चढ़ा रहता है। यथार्थ-चित्रण उनका बल कभी नहीं रहा है। अपने चारों ओर के जीवन से जैसे उन्होंने आँखें ही हटा ली हों। उनके उपकरण या तो कल्पना-प्रस्तुत हैं या बौद्धिक हैं या उनके अध्ययन और निरीक्षण का फल हैं। निरीक्षण से अध्ययन अधिक मात्रा में है। 'घीसू' और 'बेड़ी' शीर्षक दो ऐसी रचनाएँ हमें 'आँधी' (१९३१) में मिल जाती हैं जिनमें यथार्थ-दृष्टि है और जीवन के संबन्ध में कोई रंगीला दृष्टिकोण लेकर लेखक

नहीं बढ़ता। 'इंद्रजाल' (१६३६) में ऐसी रचनाएँ अधिक संख्या में हैं। 'इंद्रजाल', 'सलीम', 'छोटा जादूगर', 'परिवर्तन', 'संदेह', 'भीख में' और 'चित्रवाले पत्थर' शीर्षकों की कहानियाँ या तो यथार्थवादी स्केच हैं या यथार्थवाद पर आश्रित हैं। जीवन के अनेक उपेक्षित कोनों को लेखक ढूँढ लेता है। यहाँ तक तो वह स्वच्छंदतावादी ही है, परन्तु इन उपेक्षित पहलुओं को वह इस सजीवता, इस यथार्थता और इस तटस्थता से उभार कर हमारे सामने लाता है कि हम उसकी नई कला पर मुग्ध ही हो जाते हैं। यह उसकी नई कला है, परन्तु इसमें भी लेखक उसी प्रकार सफल हुआ है जिस प्रकार स्वच्छंदतावादी ऐतिहासिक कथाओं में। यह बात लेखक की ग्रहणशीलता और प्रतिभा की ही परिचायक है।

'इंद्रजाल' संग्रह की पहली कहानी है और संग्रह का नाम इसी के नाम पर रखा गया है। परन्तु संग्रह की सब से सुन्दर कहानी यह नहीं है। 'नूरी', 'गुंडा' और 'सालवती' कहानियाँ कहानी-कला की दृष्टि से कहीं उत्कृष्ट हैं। 'आकाशदीप' और 'आँधी' में नामकरण सर्वश्रेष्ठ कहानी के नाम पर हुआ है, परन्तु इस संग्रह के नाम के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। छायावादी कवियों को चटकीले, लाक्षणिक नाम अधिक पसन्द हैं और कदाचित् 'इन्द्रजाल' नाम के प्रति प्रसाद के मोह का मुख्य कारण यही है।

फिर भी 'इन्द्रजाल' कहानी की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं और प्रसाद की कहानियों में उसका महत्वपूर्ण स्थान है। इस कहानी में कंजरों के एक दल का चित्रण है। कंजर-जीवन, स्वच्छंद प्रेम और अपूर्व साहस का बड़ा सुन्दर चित्र हमारे सामने उपस्थित किया गया है। गाँव के बाहर एक छोटे-से बंजर में कंजरों का दल पड़ा है। उस परिवार में टट्टू, भैंसे और कुत्तों को मिलाकर इक्कीस प्राणी थे। सरदार था मैकू। इन कंजरों के अपने नियम थे, अपने आचार-विचार। इस कंजर-टोली में बेला नाम की एक गानेवाली साँवली

लड़की थी और गोली नाम का एक बाँसुरी बजानेवाला युवक। ये दोनों गा-बजा कर जो पाते, वह मैकू के चरणों में ला कर रख देते। दोनों प्रेमी थे। एक दूसरे पर प्राण देता था। इसी में उन्हें स्वर्ग-सुख था। गोली का बाप नट था और स्वयं वह यह विद्या खूब जानता था। वह महुअर तो बजाता ही था, पर बेला का साथ होने पर उसने बाँसुरी बजाने में अभ्यास किया। पहले तो उसकी नटविद्या में बेला भी मनोयोग से लगी; किन्तु दोनों को भानुमती वाली पिटारी ढो कर दो-चार पैसे कमाना अच्छा न लगा। दर्शक भानुमती के खेल से अधिक बेला का गाना पसन्द करते थे। दोनों का झुकाव इसी ओर हो गया। पैसा भी मिलने लगा। गोली और बेला का स्वच्छन्द संगीत नागरिकों के लिए बड़ी आकर्षक वस्तु था। ऐसे समय एक और व्यक्ति भी उनका साथ देता। वह था भूरे जो छोटी-सी ढोलक लेकर उनका साथ करता। भूरे बड़ा भयानक था। वह सचमुच भूरा भेड़िया था। वह भी बेला से प्रेम करता था, परन्तु बेला गोली पर लट्टू हो रही थी। भूरे मन मसोस कर रह जाता। एक दिन किसी छोटी-सी बात को लेकर दोनों में झगड़ा हो गया। मैकू ने बीच-बचाव किया।

परन्तु गोली के हृदय में उस दिन एक भयंकर संघर्ष ने जन्म लिया। भूरे को हटना है। वह सुकुमार था और अपने प्रेम की माधुरी में विह्वल, लजीला और निरीह। भूरे का सामना करना उसके लिए कठिन ही था। परन्तु बेला के प्रेम ने उसे बल दिया। कंजरों की झोपड़ियों के पास ही पलास का छोटा-सा जंगल था। बेला उसी में बैठी गा रही थी। उसके गीत गूँज रहे थे। गोली भी चल पड़ा। उसका छुरा कमर में था। हाथ में बाँसुरी थी। बेला की गुनगुनाहट बंद होते ही बाँसुरी में गोली उसी तान को दुहराने लगा। दोनों बन-विहगम की तरह उस अंधेरे में किलकारने लगे। आज प्रेम के आवेश ने आवरण हटा दिया था, वे नाचने लगे। आज तारों की

क्षीण ज्योति में हृदय से हृदय मिले, पूर्ण आवेग में। आज बेला के जीवन में यौवन का और गोली के हृदय में पौरुष का प्रथम उन्मेष था।

भूरा भी आया। उसके हाथ में भयानक छुरा था। बेला गोली के आलिंगन में बँधी थी। उसने उसे देख कर चीत्कार किया। गोली ने भूरे पर छुरे से वार किया। घाव ओछा लगा। दूसरी बार गोली ने फिर आक्रमण किया। भूरे सम्हाल न सका। परन्तु उसी समय मैकू ने कहीं से आकर गोली का हाथ पकड़ लिया। उसने फतवा दिया—बेला भूरे से विवाह करेगी। यही सज़ा है।

उसी समय गोली ने कंजर-दल छोड़ दिया।

कंजर-परिवार में बेला भूरे की स्त्री मानी जाने लगी, परंतु उसने अपनी देह भूरे को समर्पित नहीं की। वह गोली को भुला नहीं सकी। संध्या होते-होते वह पलास-बन में चली आती और उसके गले से एक नई टीस, एक नई वेदना सुनाई पड़ती। जो सुनता मुग्ध हो जाता। गढ़ के चौक में भी उसका गाना जमता। मैकू ताड़ू था। उसे ताड़ लिया। गढ़ का ठाकुर कनखियों से बेला को देखता रहता है। उसने ऐसा जाल फैलाया कि बेला ठाकुर के सिर मढ़ गई और एक हज़ार का सौदा करके भूरे को साथ लेकर वह उस स्थान से ही चला गया।

कई साल बीत गये। बेला ठाकुर साहब की चहेती प्रेमिका समझी जाने लगी। एक दिन एक नट आया। उसने अनेक तरह के खेल दिखलाये। उसके साथ उसकी स्त्री थी। वह घूँघट नहीं ऊँचा करती थी। गढ़ में उसके खेल की बड़ी प्रशंसा हुई। झरोखों में से बेला ने भी देखा। समझ गई, गोली है, मुक्ति की घड़ी आ पहुँची। अनेक प्रकार के खेल दिखाकर गोली ने सारी उपस्थित जनता का हृदय मोह लिया। कभी वह अदृश्य हो जाता, कभी दैत्यों से लड़ कर लहूलुहान हो जाता। खेल समाप्त करने के बाद वह झोली सँभालने लगा तो उसकी स्त्री ग़ायब। उसने चिल्ला कर कहा—'यह अन्याय इस राज

में नहीं होना चाहिये। मेरी सुन्दर स्त्री को ठाकुर साहब ने गढ़ के भीतर कहीं छिपा रखा है। मेरी योगिनी कह रही है।' सब लोग हँसने लगे। ठाकुर ने कहा—'तो तू अपनी सुन्दर स्त्री मेरे गढ़ से खोज ला?' अंधकार होने लगा। गोली नई हवेली की ओर चला।। निःशंक भीतर चला गया। बेला तैयार थी। उसने ओढ़नी ओढ़ ली और आगे-आगे गोली और पीछे-पीछे बेला। कौन जानता था, घूँघट में कौन छिपा है। लोगों ने सोचा, जादूगर है, सचमुच अपनी औरत ढूँढ लाया। तालियाँ पिटीं, हँसी का ठहाका लगा। ठाकुर साहब हँस रहे थे। गोली दोनों हाथों से सलाम कर रहा था।

रात हो चली थी। भीड़ के बीच में गोली बेला को लिए जब फाटक के बाहर पहुँचा, तब एक लड़के ने आकर कहा—एक्का ठीक है।

तीनों सीधे उस पर जाकर बैठ गये। एक्का वेग से चल पड़ा।

अभी ठाकुर साहब का दरबार जम रहा था और नट के खेलों की प्रशंसा हो रही थी।

यह स्पष्ट है कि कहानी पूर्णरूप से ग्रथित नहीं हो सकी है। कहानी का पूर्वार्द्ध कंजर-जीवन से सम्बन्धित है और बेला का चित्र अत्यन्त आकर्षक बन पड़ा है। कहानी के उत्तरार्द्ध में बेला निष्क्रिय है। गोली के द्वारा ही सूत्र जुटता है। उत्तरार्द्ध का कथा-भाग विक्रमादित्य सम्बन्धी एक जन-प्रसिद्ध आख्यायिका से सम्बद्ध जान पड़ता है। लोक में इस प्रकार की कुछ अन्य कहानियाँ भी प्रचलित हैं। कहानी की सबसे आकर्षक वस्तु कंजर-जीवन और बेला का व्यक्तित्व ही है। बेला के सौन्दर्य को प्रसाद ने बड़ी सतर्कता से सँवारा है—'बेला साँवली थी। जैसे पावस की मेघमाला में छिपे हुए आलोक-पिंड का प्रकाश निखरने की अदम्य चेष्टा कर रहा हो, वैसे-ही उसका यौवन सुगठित शरीर के भीतर उद्वेलित हो रहा था। गोली के स्नेह की मदिरा से उसकी कजरारी आँखें लाली से भरी

रहतीं। वह चलती तो थिरकती हुई, बातें करती तो हँसती हुई। एक मिठास उसके चारों ओर बिखरी रहती।'

'सलीम' इस संग्रह की दूसरी कहानी है। इस कहानी में भारतीय मुसलमानों के हिन्दू-विद्वेष और पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत के पठानों के असाम्प्रदायिक, स्वच्छंद, नैसर्गिक जीवन की झाँकी उपस्थित की गई है। सलीम का हिन्दू-विद्वेष उसकी लीगी मनोवृत्ति का परिचायक है और इससे कहानी में सामयिक समस्या की थोड़ी सी झलक आ जाती है। परन्तु प्रसाद अपनी सभी कहानियों को प्रेम, करुणा, ईर्ष्या-द्वेष जैसे व्यापक मनोभावनाओं पर आश्रित करते हैं। उन्होंने सामयिक जीवन और सामयिक समस्याओं को कहानी का विषय नहीं बनाया है। सामयिक जीवन के अभावों से वह परिचित थे और कामायनी' में उन्होंने सामयिक जीवन के लिए ही एक जीवन-दर्शन के निर्माण की चेष्टा की है। परंतु उनमें और प्रेमचंद में बड़ा भेद है। एक ही युग के ये दो बड़े कलाकार उत्तरी और पश्चिमी ध्रुव की तरह अलग हैं। प्रेमचंद यथार्थ से चिपटे रहते हैं, वे आकाश में उन्मुक्त विहार भी करते हैं परन्तु उनके पैर सदा धरती पर जमे रहते हैं। प्रसाद यथार्थ को भी रोमांस का रंग दे देते हैं और जिस पृथ्वी पर वह खड़े हैं वह भी हमारी जैसी पृथ्वी नहीं लगती। प्रत्येक कहानी में प्रेम तो अनिवार्यतः आ ही जाता है। उसके बिना कहानी एक पग भी नहीं बढ़ सकती। 'सलीम' में भी उन्होंने यथार्थ पर रोमांस का इतना रंग चढ़ा दिया है कि यथार्थ पहचान में ही नहीं आता।

सलीम युक्तप्रांत का मुसलमान था। कुछ-न-कुछ करते रहने का उसका स्वभाव था। जब वह चारों ओर से असफल हो रहा था, तभी तुर्की की सहानुभूति में हिजरत का आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। सलीम भी उसी में जुट पड़ा। मुसलमानी देशों में ही भारत के मुसलमान के लिए आतिथ्य मिलना कठिन है। अफ़गानिस्तान में उसे इस विषय में बड़ा कटु अनुभव हुआ। वह एक क़बीले में जा पहुँचा। पश्चि-

मोत्तर सीमाप्रांत में एक छोटी-सी नदी के किनारे इस क़बीले का पहाड़ियों से घिरा हुआ एक छोटा-सा गाँव था। नन्दराम नाम का एक हिंदू पठान भी इस क़बीले में था। उसकी स्त्री प्रेमकुमारी क़बीले के सौहार्दय और भाई-चारे का केन्द्र बनी हुई थी। नन्दराम का पिता लेखराम भी इसी क़बीले के साथ रहता था। वह एक छोटा-सा व्यापारी था। उसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र नन्दराम यारक़न्द के घोड़ों का व्यवसाय करने लगा। इस गाँव को वज़ीरियों के आक्रमण का सदैव भय बना रहता। गुलमुहम्मद खाँ इस गाँव का मुखिया था और उसके नेतृत्व में नन्दराम और उसके पिता ने क़बीले की रक्षा के लिए न जाने कितनी बार हथियार उठाये थे।

नन्दराम सरदार सन्तसिंह के साथ घोड़ों के व्यापार के लिए यारक़न्द गया हुआ था। प्रेमकुमारी वासुदेव की पूजा के निमित्त पीपल के नीचे दीपदान करने पहुँची। प्रेमकुमारी दीपदान कर और खीर की थाली वासुदेव को चढ़ा कर अभी नमस्कार कर रही थी कि दुबला-पतला सलीम उधर आ पहुँचा। इस मुसलमान प्रदेश में हिंदू नारी को देख कर उसे आश्चर्य हुआ। हठात् उसके मुँह से निकल गया—काफ़िर! इसी समय बन्दूक कंधे पर रखे और हाथ में मरा हुआ पक्षी लटकाये गुलमुहम्मद का सोलह वर्ष का लड़का अमीर खाँ सीटी बजाता हुआ दौड़ता चला आया। उसने आते ही प्रेमकुमारी से खीर माँगी। वह खीर के लिए लड़ने-झगड़ने लगा। इतने में और भी कितने ही शिकारी लड़के आ गये। प्रेमकुमारी हँसती जाती थी और उनके हाथों में खीर देती जाती थी। सलीम के रोम-रोम जले जा रहे थे। उसने उन सब तरुणों की ओर अंगारे-जैसी आँखें तरेरते हुए कहा—क्या तुम सब मुसलमान हो?

लड़कों ने एक स्वर में कहा—हाँ, पठान।

'और उस काफ़िर की दी हुई....?'

'यह मेरी पड़ोसिन है!'—एक ने कहा।

'यह मेरी बहन है !'—दूसरे ने कहा।

'नन्दराम बन्दूक बहुत अच्छी चलाता है।'—तीसरे ने कहा।

'ये लोग कभी झूठ नहीं बोलते।'—चौथे ने कहा।

'हमारे गाँव के लिए इन लोगों ने कई लड़ाइयाँ की हैं।'—पाँचवें ने कहा।

परन्तु हिजरत का दिलदादा इन बातों से क्यों प्रसन्न होता ? जिसके लिए वह हिजरत करके भारत से चला था, उस धर्म का मुसलिम देश में यह अपमान ! वह उदास मुँह से उसी अंधकार में कट्टर दुर्दांत वज़ीरियों के गाँव की ओर चल पड़ा।

नन्दराम पूरा साढ़े छः फुट का बलिष्ठ युवक था। उसके मस्तक में केसर का टीका न लगा रहे, तो कुलाह और शलवार में वह सोलहों आने पठान ही जँचता। छोटी-छोटी भूरी मूँछें खड़ी रहती थीं। उसके हाथ में कोड़ा रहना आवश्यक था। उसके मुख पर संसार की आकांक्षा हँसी बनकर खेला करती। प्रेमकुमारी उसके हृदय की प्रशांत नीलिमा में उज्ज्वल ब्रहस्पति-ग्रह की भाँति झलमलाया करती थी। आज वह बड़ी प्रसन्नता से अपने घर की ओर लौट रहा था। एक ऊँचे ऊँट पर बैठ कर गाता हुआ वह चला आ रहा था। अकस्मात् बन्दूक का शब्द प्रतिध्वनित हुआ और एक गोली सर्र से कान के पास से निकल गई। वज़ीरी को नन्दराम ने सिर उठा कर देखा, पश्चिम की पहाड़ी में झाड़ों के भीतर दो-तीन सिर दिखाई पड़े। बन्दूक साध कर उसने गोली चला दी। दोनों तरफ से गोलियाँ चलीं। नन्दराम थोड़ा-सा घायल अवश्य हुआ परन्तु दो वज़ीरी हत हुए और एक के पैर में गोली लगी।

सलीम नन्दराम के गाँव से लौट कर धर्मोन्माद के नशे में चूर इन्हीं सहधर्मियों में आकर मिल गया था। उसके भाग्य से नन्दराम की गोली उसे नहीं लगी। वह झाड़ियों में छिप गया था। घायल वज़ीरी ने कहा—'तू परदेशी भूखा बन कर इसके साथ जाकर घर

देख आ। इसी नाले से उतर जा। वह तुझे आगे मिल जायेगा।' सलीम उधर ही चला।

नन्दराम अब निश्चिंत होकर धीरे-धीरे घर की ओर बढ़ रहा था। सहसा उसे कराहने का शब्द सुन पड़ा। नन्दराम ने ऊँट रोक कर उससे कुछ पूछा और परदेशी भूखा जान कर ऊँट पर अपने पीछे बिठा लिया।

दिन ढलने लगा था। नन्दराम ने ऊँट के गले के बड़े-बड़े घुँघरू उस निस्तब्ध शांति में सजीवता उत्पन्न करते हुए बज रहे थे। उल्लास से भरा हुआ नन्दराम उसी की ताल पर कुछ गुनगुनाता जा रहा था। उधर सलीम कुढ़ कर मन ही मन भुनभुनाता जा रहा था; परन्तु ऊँट चुपचाप अपना पथ अतिक्रमण कर रहा था। धीरे-धीरे बढ़ने वाले अंधकार में भी वह अपनी उसी गति से चल रहा था। ....सहसा ऊँट रुका और एक घर का किवाड़ खुला। भीतर से जलते हुए दीपक के प्रकाश के साथ एक सुन्दर मुख दिखाई पड़ा। नन्दराम ऊँट बैठा कर उतर पड़ा। उसने उल्लास से कहा—'प्रेमो!'

प्रेमा सलीम को देख कर चौंकी, परंतु दीन-दुखी को अतिथ्य देना नन्दराम का नियम था। उसने कुछ कहा नहीं। सलीम वहीं रह गया। वह लौटने की बात कह कर चला था, परंतु प्रेमा के सहज सौन्दर्य को इतने निकट से देख कर उसके मन में वासनायें जग उठीं। उसने सोचा, अभी यहीं रहो, ठीक समय पर वज़ीरियों को पता दे दो, वे आक्रमण करेंगे, नन्दराम मारा जायेगा, वही स्वयं छुरी से मार देगा और तब प्रेमा उसकी बन जायेगी।

परंतु धीरे-धीरे नन्दराम और प्रेमा के व्यवहार और क़बीले के स्वच्छन्द प्रेमपूर्ण वातावरण का प्रभाव उस पर भी पड़ा। मनुष्यता का एक पक्ष वह भी है जहाँ वर्ण, धर्म और देश को भूल कर मनुष्य मनुष्य के लिए प्यार करता है। उसके भीतर की कोमल भावना, शायरों की प्रेम-कल्पना चुटकी लेने लगी। धीरे-धीरे इस्लाम का

जोश ठंडा पड़ गया और उसके मन में स्वार्थपूर्ण कोमल भावना उदय हुआ। वह सूफ़ी कवियों-सा सौन्दर्योपासक बन गया।

वज़ीरियों का आतंक बढ़ता जाता था। क़बीली सलीम पर शक करते, परन्तु नन्दराम टाल जाता। इसी बीच में वह फिर वज़ीरियों से मिल गया। वह फिर से कट्टर मुसलमान हो गया। धर्म की प्रेरणा से नहीं, लालसा की ज्वाला से। एक रात वज़ीरियों ने गाँव पर आक्रमण कर दिया। उस दिन घरों में जो भी कोई अस्त्र चला सकता था, बाहर निकल पड़ा। अस्सी वज़ीरियों का दल चारों ओर से गाँव को घेर कर भीषण गोलियों की वर्षा कर रहा था। बड़ा कड़ा मोच रहा। अमीर और नन्दराम की गोलियों की मार से बीसों वज़ीरी मरे और अंत में मैदान छोड़ कर भागे। सहसा घर में से चिल्लाहट सुन पड़ी।

नन्दराम भीतर गला गया। उसने देखा, प्रेमा के बाल खुले हैं। उसके हाथ में रक्त से रंजित छुरा है। एक वज़ीरी वहाँ घायल पड़ा है और अमीर सलीम की छाती पर चढ़ा हुआ कमर से छुरा निकाल रहा है।

नन्दराम ने कहा—ठहरो अमीर! यह हम लोगों का शरणागत है। उसके हाथ का छुरा नन्दराम ने छीन लिया।

परन्तु अमीर के दाँत क्रोध से कटकटा रहे थे। वह बोला—नहीं नन्दराम! तुम हट जाओ, नहीं तो मैं तुम्हें गोली मार दूँगा। मेरी बहिन, मेरी पड़ोसिन का हाथ पकड़ कर यह खींच रहा था। इसके हाथ..."

नन्दराम आश्चर्य से देख रहा था। अमीर ने सलीम की कलाई ककड़ी की तरह तोड़ ही दी। सलीम चिल्ला कर मूर्च्छित हो गया।

एक दिन टूटे हुए हाथ को सिर से लगा कर प्रेमा को सलाम करने के बाद सलीम उस गाँव से विदा हो गया। वह पेशावर में

बहुत दिनों तक भीख माँग कर खाता और जीता रहा। उसके 'बुते काफ़िर' वाले गीत को लोग बड़े चाव से सुनते थे।

यह स्पष्ट है कि कहानी का सारा ढाँचा कल्पना पर खड़ा है, परन्तु प्रसाद की कवि-प्रतिभा और उनकी भाषा-शैली ने कहानी को इतना यथार्थ रूप दे दिया है कि वह झूठी नहीं लगती।

'छोटा जादूगर' एक छोटे से बालक की कारुणिक कहानी है। इस देश में जहाँ एक ओर वैभव और विलास की नदियाँ बह रही हैं, वहाँ दूसरी ओर है अपार दारिद्रय। परन्तु वैभव और विलास की चमक-दमक में हम जीवन के निचले तलों पर रहनेवाले असंख्य प्राणियों को एकदम भूल जाते हैं। इस कहानी के द्वारा 'प्रसाद' ने इन असंख्य दुःखी प्राणियों के प्रति सहानुभूति जगाने की चेष्टा की है। कहानी प्रथम पुरुष की शैली में लिखी गई है। इससे उसकी मार्मिकता और भी बढ़ गई है।

कार्निवाल के मैदान में बिजली जगमगा रही थी। हँसी और विनोद का कलनाद गूँज रहा था। एक छोटा-सा फ़ौवारा था। पास ही शरबत की दूकान। शरबत पीनेवालों को चुपचाप देखता हुआ एक लड़का खड़ा था। उसके गले में फटे कुरते के ऊपर से एक मोटी-सी सूत की रस्सी पड़ी थी और जेब में कुछ ताश के पत्ते थे। उसके मुँह पर गंभीर विषाद के साथ धैर्य की रेखा थी।

शीघ्र ही वह लेखक का मित्र बन गया! दोनों निशाना लगाने चले। राह में उससे पूछा—तुम्हारे और कौन है?

'माँ और बाबूजी।'

'उन्होंने तुम्हें यहाँ आने के लिए मना नहीं किया?'

'बाबूजी जेल में हैं।'

'क्यों?'

'देश के लिए।'—वह गर्व से बोला।

'और तुम्हारी माँ?'

'वह बीमार है।'

'और तुम तमाशा देख रहे हो ?'

उसके मुँह पर तिरस्कार की हँसी फूट पड़ी। उसने कहा—तमाशा देखने नहीं, दिखाने निकला हूँ। कुछ पैसे ले जाऊँगा, तो माँ को पथ्य दूँगा। मुझे शरबत न पिला कर आपने मेरा खेल देख लिया होता, कुछ मुझे दे दिया होता, तो मुझे अधिक प्रसन्नता होती।

चारों ओर बिजली के लट्टू नाच रहे थे, परन्तु लेखक का मन भर्त्सना से भर गया। यह बालक कैसा सौम्य है, परिस्थिति ने उसे कितनी जल्दी प्रौढ़ बना दिया है। अभी खेलने खाने की आयु थी, परन्तु देश के दुर्भाग्य से इसे पेट के लिए तमाशा दिखाना पड़ रहा है। बारह टिकट ख़रीद कर लड़के को दे दिये। थोड़ी देर में उसने निशाना लगा-लगा कर बारह खिलौने जीत लिये।

फिर जान पड़ता है, वह इन बारह खिलौनों का खेल दिखा कर रोगिणी को पथ्य देता रहा और अपना छोटा पेट भरता रहा। एक दिन कलकत्ता के सुरम्य बोटानिकल उद्यान में दिखाई पड़ा। लेखक की पत्नी साथ थी। श्रीमती ने तमाशा देखने का आग्रह किया। उसने खेल आरम्भ किया। कार्निवाल से जीते हुए सब खिलौने अपना अभिनय करने लगे। भालू मनाने लगा। बिल्ली रूठने लगी। बंदर घुड़कने लगा। गुड़िया का विवाह हुआ। गुड्डा वर काना निकला। फिर ताश का खेल। श्रीमती ने एक रुपया दिया। कई दिन बाद वह एक झोपड़ी के पास कम्बल कन्धे पर डाले खड़ा मिला। लेखक ने मोटर रोक कर पूछा—तुम यहाँ कहाँ ?

'मेरी माँ यहीं है न ! अब उसे अस्पतालवालों ने निकाल दिया है।' झोंपड़ी में जाकर देखा, तो एक स्त्री चिथड़ों से लदी हुई काँप रही थी। छोटे जादूगर ने उस रुपये से कम्बल खरीदा था। माँ के

ऊपर कम्बल डाल कर उसके शरीर से चिपटते हुए उसने कहा—माँ!

कितना मर्मभेदी दृश्य था।

एक दिन और वह कलकत्ता की एक घनी सड़क के किनारे इसी तरह खिलौनों का तमाशा दिखाता हुआ मिला। परन्तु आज उसके स्वर में स्फूर्ति नहीं है। पूछने पर उसने बताया—माँ ने कहा है, कि आज तुरन्त चले आना। मेरी घड़ी समीप है।

मोटर में बिठाकर उसे झोपड़े में पहुँचा दिया। परन्तु माँ का जीवनदीप तो बुझ चुका था। जादूगर माँ के शव से लिपट कर रोने लगा।

यह है जीवन का एक चित्र! जीवन की एक बड़ी विडम्बना को प्रसाद ने कला के हाथों सँवार कर सारी सम्वेदना के साथ उपस्थित किया है। 'छोटा जादूगर' देश के अनाथ जीवन की एक बड़ी समस्या है। प्रसाद ने इस ओर ध्यान आकर्षित करके देश का उपकार ही किया है। इस छोटे से बालक के चरित्र में प्रसाद का अपना साहस, उनका आशावाद और उनकी अपनी कर्मण्यता जाग उठे हैं।

'नूरी' प्रसाद की अत्यंत प्रसिद्ध ऐतिहासिक कहानियों में से है और इसने परवर्ती लेखकों को भी प्रभावित किया है। नूरी काश्मीर की रहनेवाली है। श्रीनगर के पास ही उसका घर था। परन्तु सुलतान यूसुफ़ खाँ ने उसका घर-बार छीन लिया। नूरी भाग निकली। उसकी माँ ने बेड़ियों में जकड़ी हुई अवस्था में दम तोड़ा। भाग कर नूरी फ़तहपुर सीकरी आ गई और सम्राज्ञी सुलताना की सेविका बनी उसके नृत्य पर सब मुग्ध थे।

यहाँ सीकरी के कुजों में आँखमिचौनी चला करती। सुलताना, मरियम और न जाने कितनी बेगमों के साथ शाहंशाह अकबर इस आँखमिचौनी में भाग लेता। स्वयं वह किसी कुंज में छिप जाता। बेगमें ढूँढतीं। जो पा जातीं, उसी को साथ लेकर अकबर वह रात

काट देता। फिर कभी कभी 'पच्चीसी' चलती। बेगम और बादशाह चौसर खेलते। उधर पच्चीसी के मैदान में सुन्दरियाँ गोटें बना कर चाल चलतीं। नौबतखाने में सुरीली शहनाई बजती और नगाड़े पर अकबर की बाँधी हुई गत में लकड़ी थिरकती। गोटों के स्थान पर ख़ूबसूरत दासियाँ बैठतीं। रहस्य, रोमांच और ऐश्वर्य का अजस्र स्रोत बहता।

एक दिन आँखमिचौनी का खेल खेला जा रहा था। नूरी एक कुंज में घुसी कि किसी अपरिचित युवक को वहाँ देख चौंक उठी। वह चिल्लाने ही वाली थी कि युवक ने एक हाथ उसके मुँह पर रख कर उसे दूसरे हाथ से दबा दिया। वह विवश होकर चुप हो गई। युवक के आलिंगन ने जैसे उसे क्षण भर के लिए आत्मविस्मृत कर दिया। दूसरे ही क्षण उस कुंज के भीतर छन कर आती हुई चाँदनी में, जौहरी से भरी कटार चमचमा उठी। परन्तु युवती प्राणों की भीख माँग रही थी। युवक का हाथ रुक गया। उसने मुँह पर उँगली रख कर चुप रहने का संकेत किया। नूरी ने समझा, कोई मेरा साहसी प्रेमी है, जो महाबली अकबर की आँख-मिचौरी-क्रीड़ा के समय पतंग-सा प्राण देने आया है। नूरी ने इस कल्पना के सुख में अपने को धन्य माना और चुप रहने का संकेत पाकर युवक के मधुर अधरों पर अपने अधर धर दिये। युवक भी आत्मविस्मृत-सा उस सुख में पल भर के लिए तल्लीन हो गया। नूरी ने धीरे से कहा—'यहाँ से जल्द चले जाओ। कल बाँध पर पहले पहर की नौबत बजने के समय मौलसिरी के नीचे मिलूँगी।'

संकेत-स्थल पर मिलने से रहस्य खुला। युवक यूसुफ़ खाँ का पुत्र याकूब खाँ था। शाहज़ादा है। अकबर काश्मीर को हड़पने की चालें चल रहा है, इसलिए उसकी हत्या करने का यह आयोजन था। नूरी ने अपना सारा प्यार देकर इस तरुण को रोकना चाहा, परन्तु उसके सामने तो प्यार करने योग्य केवल एक ही तस्वीर थी—

फूलों से भरी, फलों से लदी हुई, सिंध और झेलम की घाटियों की हरियाली ! उसे छोड़ कर वह दूसरे को प्यार करने को अभी तो तैयार नहीं ।

कुछ दिन बीते । आज सुलताना बेगम और बादशाह चौसर खेल रहे थे । नूरी ने बादशाह को अपना नाच भी दिखाया । वासना और उन्माद से भरा हुआ वह नृत्य ! उसके नूपुर खुले हुए बोल बोल रहे थे । वह नाचने लगी, जैसे जल-तरंग । अंत में बादशाह ने उसे विश्राम करने की छुट्टी दे दी । छुट्टी पाते ही थकी हुई नूरी पचीसी के समीप अमराई में जा घुसी । अभी वह नाचने की थकावट से अँगड़ाई ले रही थी कि सहसा याकूब ने आकर उसे पकड़ लिया । उसके शिथिल सुकुमार अंगों को दबा कर उसने कहा—नूरी, मैं तुम्हारे प्यार को लौटा देने के लिए आया हूँ ।

नूरी उसे बातों में भुलाने लगी । उसने कहा—मुझे आज शाह-शाह ने काश्मीर जाने की छुट्टी दे दी है । मैं तुम्हारे साथ चल सकती हूँ । चलो, घर लौट चलें ।

नूरी उसे अपने हाथों में जकड़े थी, किंतु याकूब का देशप्रेम उसकी प्रतिज्ञा की पूर्ति माँग रहा था । नूरी सिसक-सिसक कर रोने लगी । याकूब का कंधा उसकी आँसुओं की धारा से भींगने लगा । परन्तु इसी समय चार तातारी दासियों ने अमराई के अंधकार से निकल कर दोनों को पकड़ लिया ।

दोनों बंदी अकबर के सामने पेश हुए । याकूब खाँ छोड़ दिया गया, परन्तु नूरी बुर्ज के तहखाने में बंदिनी हुई ।

अठारह वर्ष बीत गये । अकबर की नवरत्न सभा उजड़ गई । उसके पुत्र सलीम ने विद्रोह कर दिया । विद्रोह तो सफल नहीं हुआ, परन्तु सलीम को सीकरी रहने की आज्ञा मिल गई । सीकरी की दशा देखकर सलीम का हृदय व्यथित हो उठा । अपनी माता के महल में जाकर सलीम भरपेट रोया । शेख सलीम की समाधि का दर्शन

करके उसने पहली आज्ञा दी कि तहखाने में जितने बंदी हैं वे सब छोड़ दिये जायँ। बन्दी छोड़ दिये गये। उन्हीं में एक नूरी थी। उसका यौवन कारागार की कठिनाइयों से कुचल गया था। सौन्दर्य अपने दो चार रेखा-चिन्ह छोड़ कर समय के पंखों पर बैठ कर उड़ गया था। लंगरखाने का काम उसके सुपुर्द हुआ।

लंगरखाने की एक कोठरी के समीप पहुँच कर नूरी ने देखा—एक युवक टूटी खाट पर पड़ा कराह रहा है। नूरी ने उसे रोटियाँ दीं। पानी लाकर दिया। युवक उठ बैठा। कुछ अन्न-जल के पेट में जाने के बाद उसे चेतना आ गई। चेतनता आने पर युवती से कहा—तुम कौन हो?

'मैं लंगरखाने में रोटियाँ बाँटती हूँ। मेरा नाम नूरी है। नूरी नाम ने युवक की स्मृतियों को जगा दिया। उसने कहा—'शायद महल में इसी नाम की एक युवती थी। वह काश्मीर की रहनेवाली थी। मिले तो कह देना कि एक अभागे ने तुम्हारे प्यार को ठुकरा दिया था। वह काश्मीर का शाहज़ादा था, पर अब तो भिखमंगा है।' कहते-कहते उसकी आँखों से आँसू बहने लगे।

नूरी ने उसके आँसू पोंछ कर कहा—क्या अब भी उससे मिलने का मन करता है?

वह झिझक कर कहने लगा।—'मेरा नाम याकूब खाँ है। मैंने अकबर के सामने तलवार उठाई और लड़ा था; जो कुछ मुझसे हो सकता था वह काश्मीर के लिए मैंने किया। इसके बाद बिहार के भयानक तहखाने में बेड़ियों में जकड़ा हुआ कितने दिनों तक पड़ा रहा। सुना है कि सुलतान सलीम ने वहाँ के अभागों को फिर से धूप देखने के लिए छोड़ दिया है। मैं वहीं से ठोकरें खाता हुआ चला आ रहा हूँ। हथकड़ियों से छूटने पर याकूब अपनी उखड़ी

हुई साँसों को सँभालने लगा, परंतु नूरी का सारा व्यक्तित्व झकझोर खाने लगा। हाय, अब प्रेम करने का दिन तो नहीं रहा। हृदय में इतना प्यार कहाँ रहा जो दूँगी, जिससे यह ठूँठ हरा हो जायगा। नहीं, नूरी ने मोह का जाल छिन्न कर दिया है। अब वह उसमें न पड़ेगी। तो भी इस दयनीय मनुष्य की सेवा—किंतु यह क्या? याकूब हिचकियाँ ले रहा था। उसकी पुकार का संतोष-जनक उत्तर नहीं मिला। निर्मम हृदय नूरी ने विलम्ब कर दिया। वह विचार करने लगी थी और याकूब को इतना अवसर नहीं था!

नूरी उसका सिर हाथों पर लेकर उसे लिटाने लगी। साथ ही अभागे याकूब के खुले हुए प्यासे मुँह में, नूरी की आँखों के आँसू टपाटप गिरने लगे!

—यह है 'नूरी' कहानी की एक संक्षित रूपरेखा। ऐतिहासिक तथ्यों का आधार-मात्र पकड़ कर अपनी कला और कल्पना से प्रसाद कितना भव्य ताजमहल खड़ा कर सकते हैं, यह पाठक यहाँ देखें।

'परिवर्तन', 'सन्देह' और 'भीख में' तीन स्केच हैं। स्केच की अविकसित कला 'प्रतिध्वनि' (१६२६) की कहानियों में मिलती है, परंतु इन नवीन स्केचों में जीवन की झाँकी देने में लेखक कहीं अधिक सफल हुआ है। चंद्रदेव विश्वविद्यालय की शिक्षा-प्राप्त एक तरुण है। अपनी विद्या-बुद्धि का उसे गर्व है। वह नौकरी नहीं करेगा। स्वतंत्र व्यवसाय करेगा। नौकरी में क्या रखा है? ऐसा ही वह कहता है। फिर लोग उसके त्याग की प्रशंसा क्यों नहीं करें? वह जज हो सकता था, वह क्या नहीं हो सकता था, परंतु सब कुछ छोड़ कर उसने दुकान कर ली है। स्वतंत्रता और मर्यादा के साथ वह रहना चाहता है। वह औरों की भाँति नहीं है। परंतु यह तो हुई बाहर की बात। भीतर-भीतर चंद्रदेव जानता है, वह कुछ भी करने की क्षमता नहीं रखता। विश्वविद्यालय की खोखली पढ़ाई ने उसे

ऐसा कुछ नहीं दिया है जिसे लेकर वह जीवनक्षेत्र में अकेला हो सके। उसकी सुन्दर स्त्री उसके आदर्शवाद और उसकी लोभी दार्शनिकता से दुखी है। जहाँ देखो, वहाँ कृत्रिमता। एक दिन वह बीमार पड़ गई। धीरे-धीरे यक्ष्मा की रोगिणी बनी।

इस पर चंद्रदेव के आदर्शवाद ने उसे धक्का दिया। उसे पत्नी को लेकर पहाड़ जाना चाहिये। जब वह पत्नी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की घोषणा कर चुका तब कम से कम यह तो होना ही चाहिये। वह मित्रों से कहता—'भाई क्या करूँ। मालती को जब यक्ष्मा हो गया है, तब तो उसे पहाड़ पर लिवा जाना अनिवार्य है। रुपया-पैसा तो आता-जाता रहेगा।' लोगों ने कहा—चंद्रदेव कितना उदार है, कितना सहृदय है।

पति-पत्नी पहाड़ गये, परन्तु अब आवरण का व्यापार चलना असम्भव हो गया। दोनों का खुला व्यक्तित्व सामने आया। चौबीस घंटे का साथ! फिर छिपाना कैसे सम्भव हो सकता। धीरे-धीरे पति-पत्नी पास आते गये। बूटी नाम की एक परिचारिका रोगिणी की सेवा को रखी गई थी। यह नाटी-सी गोल-मटोल स्त्री गेंद की तरह उछलती चलती। बात-बात पर हँसती। इस वनविहंगिनी का जीवन चंद्रदेव मालती के नीरस, कृत्रिम व्यवहार पर क्षण-क्षण आक्षेप की उँगली उठाता।—और जब एक दिन गाती-इठलाती बूटी बोली, कल से काम नहीं करना है, इसी महीने में उसका विवाह होने वाला है, तो दम्पति चकित रह गये। बूटी ने बताया—बात पक्की हुए आठ वर्ष हो गये। नीलधर चला गया था, लखनऊ कमाने, और उसने भी हर साल यहीं नौकरी करके कुछ-न-कुछ यहाँ पाँच-सौ बचा लिये हैं। अब वह भी एक हज़ार रुपये और गहने लेकर परसों पहुँच जायगा। फिर वे ऊँचे पहाड़ पर अपने गाँव में चले जायेंगे। वहीं उन लोगों का घर बसेगा। वह खेती कर लेगी। बाल-बच्चों के लिए भी तो कुछ चाहिये। फिर चाहिये बुढ़ापे के लिए, जो उन पहाड़ों में

कष्टपूर्ण जीवन-यात्रा के लिए अत्यन्त आवश्यक है। बूटी की इन रंगीन परन्तु छलविहीन, नैसर्गिक बातों ने चंद्रदेव और मालती के हृदय में उथल-पुथल पैदा कर दी। उस दिन रात को दोनों सोये तो विचित्र-विचित्र तरह के सपने देखते रहे। उनका उपचेतन मन नई परिस्थिति के अनुसार अपने तत्वों में परिवर्तन करता रहा। चंद्रदेव के बनावटी उपचार का—सेवाभाव का अंत हो गया और मालती में नया आत्मविश्वास झलकने लगा। उसने सोचा, बूटी साधारण मजूरी करके स्वस्थ, सुन्दर, आकर्षण और आदर की पात्र बन सकती है, तो वह क्यों नहीं बन सकती? वह तो अभी बूटी से दो बरस छोटी है। बूटी अपनी नई गृहस्थी चलाने का ऐसा सुन्दर स्वप्न देख रही है और इधर वह इतनी मरी-मरी है। दो बरस में वह स्वस्थ, सुन्दर, हृष्ट-पुष्ट और हँसमुख हो सकती है, होकर रहेगी। वह मरेगी नहीं। ना, कभी नहीं, चंद्रदेव को दूसरे का न होने देगी। विचार करते-करते वह सो गई।

सबेरे दोनों जागे तो संसार ही बदल गया था। मालती प्रसन्न थी। उसके कपोलों का रंग बदल गया था। चंद्रदेव अभी पूर्णतः स्वस्थ नहीं हुआ था, परंतु बूटी के सपने ने उसे भी छू लिया था। सहसा मालती उसके पास आई। मच्छरदानी उठाकर मुसकराती हुई बोली—

'चलो घर चलें। अब तो मैं अच्छी हूँ!' चंद्रदेव ने आश्चर्य से देखा कि—मालती दुर्बल है—किन्तु रोग के लक्षण नहीं रहे। उसके अंग-अंग पर स्वाभाविक रंग प्रसन्नता बनकर खेल रहा था। गृहस्थी का एक छोटा-सा परंतु सजीव चित्र प्रसाद की इस कहानी में मिल जाता है। आधुनिक युग के दाम्पत्य-जीवन की सबसे बड़ी विडम्बना कृत्रिमता है—प्रेमचंद के 'ग़बन' उपन्यास में इसी विडम्बना को उपन्यास का बीज बनाया गया है। नई पीढ़ी के शिक्षित दम्पति में यह विडम्बना और अधिक है। वह प्राकृतिक जीवन के उल्लास

और अकृत्रिम प्रेम-व्यवहार को भूल गये हैं। थोथे आदर्शों को लेकर वह गृहस्थी का महल बनाना चाहते हैं, परन्तु सहानुभूति, प्रेम, सरलता, त्याग, बलिदान, समझौते और परस्पर सेवाभाव के मूलमंत्र उन्होंने नहीं पढ़े हैं। उन्हें एक बार फिर प्रकृति की ओर लौटना होगा।

'सन्देह' कहानी मूलतः मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी कहानी है। जिसमें नारी-हृदय का बहुत सूक्ष्म चित्र हमें मिलता है। नारी भावनामयी है। वह बहते हुए तृण की तरह प्रत्येक पुरुष को पकड़ना चाहती है, परन्तु यह ठीक नहीं कि वह प्रत्येक पुरुष से प्रेम का स्वांग भरे। पुरुष नारी की भावुकता को प्रेम से सम्बन्धित करके भूल करता है। कभी-कभी यह भूल दुःखद भी हो सकती है। इस कहानी का नायक रामनिहाल श्यामा और मनोरमा दोनों को ग़लत समझ बैठा है। श्यामा विधवा है। अपनी पुत्री किशोरी के साथ वह रहती है। रामनिहाल उसका मुनीम है। अनेक घाटों का पानी उसने पिया है। अतः वासना से वह पीड़ित है। उसका कोई नहीं। कदाचित् इसीलिये वह प्रत्येक नारी के प्रति आत्मसमर्पण करना चाहता है। अभी तक वह श्यामा की ओर आकृष्ट था, परन्तु विधवा श्यामा व्रत की कठोर धार की तरह तीक्ष्ण है। वह कहता है—श्यामा ! तुम्हारा कठोर व्रत, वैधव्य का आदर्श देखकर मेरे हृदय में विश्वास हुआ कि मनुष्य अपनी वासनाओं का दमन कर सकता है। किन्तु तुम्हारा अवलम्ब बड़ा दृढ़ है। तुम्हारे सामने बालकों का झुण्ड हँसता, खेलता, लड़ता, झगड़ता रहता है। और तुमने जैसे बहुत-सी देवप्रतिमाएँ शृंगार से सजाकर हृदय की कोठरी को मंदिर बना दिया। किन्तु मुझको वह कहाँ मिलता। भारत के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में, छोटा-मोटा व्यवसाय, नौकरी और पेट पालने की सुविधाओं को खोजता हुआ जब तुम्हारे घर आया, तो मुझे विश्वास था कि मैंने

घर पाया। × × तुम्हारे यहाँ घर का-सा सुख है; किन्तु यह सब मुझे छोड़ना पड़ेगा।'

श्यामा ने कारण पूछा। रामनिहाल ने कारण बतलाते हुए एक कहानी ही सुना दी। मनोरमा मोहन बाबू की पत्नी है। परन्तु मोहन बाबू को सन्देह है कि वह ब्रजकिशोर पर मुग्ध है और उसकी सम्पत्ति लेने के लिये मनोरमा ने यह प्रसिद्ध कर दिया है कि उसके पति पागल हो गये हैं। नाव पर इस जोड़े से रामनिहाल की भेंट हुई और मनोरमा ने कुछ ऐसा व्यवहार किया कि रामनिहाल समझने लगा, यह युवती उसके लिए सुलभ है। एक बार उसके शरीर से मनोरमा के शरीर का स्पर्श हो गया। लगा, वह क्षुब्ध और संकोची रमणी जैसे किसी का आश्रय पाने के लिए व्याकुल है। नाव से उतरी तो उसी का हाथ पकड़ कर सम्हलती हुई। रामनिहाल को लगा, 'मैं धन्य हूँ।' चलते हुए उसने कहा था—रामनिहालजी, मेरी विपत्ति में आप सहायता न कीजिएगा!

—फिर मनोरमा और रामनिहाल में पत्रव्यवहार भी हुआ और इस अंतिम पत्र में मनोरमा ने उसे पटने बुलाया है। रामनिहाल जा रहा है। कदाचित् ब्रजकिशोर और मोहन बाबू के बीच में वह अपने लिए कोई रास्ता निकाल ले।

परन्तु श्यामा के एक ही प्रश्न ने उसकी भित्ति हिला दी—उसने हँस कर पूछा—'तो क्या तुम समझते हो कि मनोरमा तुमको प्यार करती है और वह दुश्चरित्रा है? छिः रामनिहाल, तुम यह क्यों सोच रहे हो? देखूँ तो तुम्हारे हाथ में यह कौन-सा चित्र है, क्या मनोरमा का ही?' चित्र ले लिया गया। परन्तु साथ ही श्यामा चौंक उठी—'अरे यह तो मेरा चित्र है! तो क्या तुम मुझसे प्रेम करने का लड़कपन करते हो? वाह! यह अच्छी फाँसी लगी है तुमको। मनोरमा प्यार तुमको। करती है और तुम मुझको मन के विनोद के लिए तुमने अच्छा साधन जुटाया है।

रामनिहाल हतप्रभ ! भागने की जैसे कोई राह ही नहीं रह गई। श्यामा दृढ़ स्वर में कहने लगी—निहालबाबू ! प्यार करना बड़ा कठिन है। तुम इस खेल को नहीं जानते। इसके चक्कर में पड़ना भी मत। हाँ, एक दुखिया स्त्री तुमको अपनी सहायता के लिए बुला रही है। जाओ, उसकी सहायता करके लौट आओ। तुम्हारा सामान यहीं रहेगा। तुमको यहीं रहना होगा।। समझे ! अभी तुमको मेरी संरक्षता की आवश्यकता है। उठो। नहा-धो लो। जो ट्रेन मिले उससे पटने जाकर ब्रजकिशोर की चालाकियों से मनोरमा की रक्षा करो। और फिर मेरे यहाँ चले आना। यह सब तुम्हारा भ्रम था, संदेह था।'

रामनिहाल धीरे से उठ कर नहाने चला गया।

मनोरमा और ब्रजकिशोर की बात कहाँ तक सच्ची है, कहाँ तक झूठी है, यह कहना कठिन है परन्तु श्यामा ने अपनी स्थिति स्पष्ट कर दी। हो सकता है, रामनिहाल की कहानी मनगढंत हो, परन्तु उस कहानी की धार को श्यामा तीक्ष्ण की बुद्धि ने कुंठित कर दिया। कोई दुखिया स्त्री सहायता माँगे तो पुरुष उसमें प्रेम ही क्यों देखे ! एक विशेष मनःस्थिति का कलात्मक चित्रण इस कहानी में मौजूद है परन्तु इससे अधिक और कुछ नहीं। प्रसाद लाक्षणिक ढग से बात कहने में सिद्धहस्त हैं। इस वाग्वैदग्ध्य और लाक्षणिकता के कारण ही कहानी इतनी मार्मिक बन पड़ी है।

'भीख में' कहानी में बिगड़ती हुई गृहस्थी का एक तीसरा चित्र है। ब्रजराज इन्दो और मिन्ना को लेकर अपनी छोटी गृहस्थी चला रहा है। इंदो उसकी पत्नी है और मिन्ना पुत्र। छोटा-सा बालक। इदो को खाने-पीने भर को जो चाहिये, वह सब है, परंतु उसे इतने से संतोष नहीं। परंतु ब्रजराज इतना लाये कहाँ से ! इंदो अपने गृहिणी-पद की मर्यादा के अनुसार जब दो-चार खरी-खोटी सुना देती, तो उसका मन विरक्ति से भर जाता। उसे मिन्ना के साथ

खेलने में, झगड़ा करने में ही संसार की पूर्ण भावमयी उपस्थिति हो जाती है। परन्तु इंदो इस पर भी चैन से बैठने दे, तब न !

मालती (मालो) गाँव में एक ही सुन्दरी, चंचल, हँसमुख और मनचली लड़की थी। उसका विवाह नहीं हुआ था। कभी-कभी वह आ जाती। पैर के अँगूठों के चाँदी के मोटे छल्लों को खट-खटाती। गृहस्वामिनी इस मनोविनोद को अब नहीं चलने देगी। इन्दो को विश्वास हो गया कि ब्रजराज मालो को प्यार करता है। वह उसे क्षमा नहीं करेगी।—और एक दिन जब गृहस्वामिनी के वाग्बाण से ब्रजराज का पौरुष तिलमिला उठा, तो ब्रजराज गोधूलि के समय गाँव छोड़ कर निकल गया। कलकत्ते में इसने ड्राइवरी सीखी और जालंधर-ज्वालामुखी की सड़क पर लारी चलाने लगा—इसी तरह कई दिन बीत गये।

एक दिन लारी के मालिक सिख-पेंशनर की जान-पहचान का एक परिवार ज्वालामुखी के दर्शन करने जा रहा था। उन लोगों ने पूरी लारी भाड़े कर ली थी। ब्रजराज ने बीच में पानी लेने के लिये लारी रोकी। सिख ने कहा—'ब्रजराज, इन लोगों को भी पानी दे देना।'

परिवार में एक सुन्दर स्त्री भी थी। उसके लोटे में पानी उँडेलते हुए ब्रजराज को लगा, यह तो मालो है, वही मालती ! यह यहाँ पंजाब में कैसे आ गई। एक-एक कर पुरानी स्मृतियाँ जाग्रत हो उठीं। उस दिन उसने एक पेड़ से लारी लड़ा दी और नौकरी से इस्तीफ़ा भी दे दिया। दो-तीन वर्ष वह बेकार रहा। फिर जब रुपया चुक गया तो भीख माँगने लगा। चैत्र के महीने में एक दिन मंदिर के समीप बैठा था कि एक सज्जन गोद में छोटा-सा बालक लिए आगे बढ़ गए, पीछे एक सुन्दरी अपनी ओढ़नी सँभालते हुए चली। ब्रजराज की आवाज़ सुनकर वह खड़ी हो गई। पूछा—क्या तुम अब लारी नहीं चलाते ?

हाथ बटोर कर ब्रजराज ने कहा—कौन, मालो ?

मालती खड़ी रही। बोली—भीख माँगते हो ?

ब्रजराज ने संक्षेप में अपनी कहानी सुनाई।

मालती बोली—'ओ हो, पागल इन्दो! मुझ पर सन्देह करने लगी। तुम्हारे चले आने पर मुझसे कई बार लड़ी थी। मैं तो अब यहीं आ गई हूँ।'

ब्रजराज ने पूछा—तो वह बच्चा तुम्हारा ही है न ? अच्छा, अच्छा।'

मालती 'हूँ' ही कह पाई थी कि उसके पति आ गये। समझे भिखमंगा परेशान कर रहा है।

पंडाजी की ओर घूम कर मालो के पति ने कहा—'ऐसे उचक्कों को आप मंदिर के पास बैठने देते हैं !'

धनी जजमान का अपमान भला वह पंडा कैसे सहता ! ब्रजराज धक्का खाने लगा। धक्के खाकर ब्रजराज सोचने लगा—ये धक्के ही मालो की सौगात हैं। यही तो उससे मिला है !

'चित्रवाले पत्थर' प्रसाद की स्वच्छंदतावादी कहानी की एक नई कड़ी है। विषय वही प्रेम। परन्तु इस प्रेम को प्रसाद ने एकदम नये, रहस्यमय वातावरण में उपस्थित किया है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'क्षुधित पाषाण' कहानी की छाया इस कहानी के पूर्व भाग पर स्पष्ट है, परन्तु कहानी के उत्तर भाग को प्रसाद ने अपने ढंग पर विकसित किया है। कहानी क्षुधित पाषाण की तरह ही 'मैं' शैली में लिखी गई। प्रारम्भिक वातावरण भी एक जैसा है : "मैं 'संग-महाल' का कर्मचारी था। उन दिनों मुझे विन्ध्य शैलमाला के उजाड़ स्थान में सरकारी काम से जाना पड़ा। भयानक वन-खंड के बीच, पहाड़ी से हट कर एक छोटी-सी डाक-बँगलिया थी। मैं उसी में ठहरा था। वहीं की एक पहाड़ी में एक प्रकार का रंगीन पत्थर निकला था। मैं उसकी जाँच करने और तब तक पत्थर की कटाई बंद करने के लिए वहाँ गया था। उस झाड़खंड में छोटी-सी

संदूक की तरह मनुष्य-जीवन की रक्षा के लिए बनी हुई बँगलिया मुझे विलक्षण मालूम पड़ी; क्योंकि वहाँ पर प्रकृति की निर्जन शून्यता पथरीली चट्टानों से टकराती हुई हवा के झोंकों के दीर्घ निःश्वास उस रात्रि में मुझे सोने न देते थे। मैं छोटी-सी खिड़की से सिर निकाल कर जब कभी उस खँडहर की सृष्टि को देखता, तो भय और उद्वेग मेरे मन पर इतना बोझ डाल देते कि में कहानियों में पढ़ी हुई अतिरंजित घटनाओं की संभावना से ठीक संकुचित होकर भीतर अपने तकिये पर पड़ा रहता था। अंतरिक्ष के गह्वर में न-जाने कितनी आश्चर्यजनक लीलाएँ करके मानवी आत्माओं ने अपना निवास बना लिया है। मैं कभी-कभी आवेश में सोचता कि भत्ते के लोभ में मैं ही क्यों यहाँ चला आया? क्या वैसी ही कोई अद्भुत घटना होनेवाली है? मैं फिर जब अपने साथी नौकर की ओर देखता तो मुझे साहस हो आता और क्षण भर के लिए स्वस्थ होकर नींद को बुलाने लगता। किंतु नींद कहाँ, वह तो सपना हो रही थी।" इस पृष्टभूमि के बाद कथा आरंभ होती है। अभी रात अधिक नहीं बीती थी कि एक विचित्र व्यक्ति ने द्वार खटखटाया। उसकी दाढ़ी और मूँछों के भीतर छिपी दाँतों की पंक्ति जैसे हँसती हुई। कुछ विचित्र प्रकार का आकर्षण उसमें था। उसने लेखक को अपने जीवन की कहानी सुनाई। उसकी भाँति उसकी कहानी भी विचित्र थी। किसी ब्याह के निमंत्रण में उसने पहली बार मंगला को देखा था। यौवनमयी ऊषा की भाँति उस पूर्ण-विकसित पारिजात-पुष्प ने मुरली को एक क्षण में ही अपना बना लिया। विवाह का उत्सव समाप्त हो गया। सब लोग अपने-अपने घर लौटे। मुरली ने भी मंगला से विदा ली। परन्तु वह घर लौट नहीं सका। उसने एक नाले के किनारे एक वनस्थली में अपनी झोंपड़ी बना ली और मंगला की मूर्ति हृदय में रखकर वहीं रहने लगा। मंगला विधवा थी, यह वह जानता था। धीरे-धीरे वह दर्शनिक हो गया।

कभी सोचता कि मैं क्यों पागल हो गया ! उस स्त्री के सौन्दर्य ने क्यों अपना प्रभाव मेरे हृदय पर जमा लिया ? विधवा मंगला ! वह गरल है या अमृत ? अमृत है, तो उसमें इतनी ज्वाला क्यों है, ज्वाला है तो मैं जल क्यों नहीं गया ? यौवन का विनोद ! सौन्दर्य की भ्रांति ! वह क्या है ? शरद की पूर्णिमा में बहुत से लोग उस सुन्दर दृश्य को देखने के लिए दूर-दूर से आते। मुरली मंगला की प्रतीक्षा करता। परंतु मंगला नहीं आई।

एक रात नींद जल्दी से खुल गई। चाँदनी रात का सवेरा था। मुरली वनस्थली की रहस्यमयी छाया को देखता हुआ नाले के किनारे-किनारे चला। नदी के संगम पर पहुँच कर सहसा एक जगह रुक गया। देखा कि वहाँ पर एक स्त्री और पुरुष शिला पर सो रहे हैं। तभी स्त्री जागी। मुरली ने पहचान लिया, मंगला है। और वह पुरुष जो अभी सो रहा है। वह कौन है ? परन्तु मंगला ने जैसे पहचाना नहीं। मुरली धीरे-धीरे ऊपर चढ़ने लगा।

तभी मंगला ने पुकार कर रहने की जगह माँगी।

मुरली ने अपनी झोपड़ी बता दी। दोनों स्त्री-पुरुष उसके पीछे-पीछे चलकर झोपड़ी में पहुँचे। जो कुछ जुट सका, उसे लेकर मुरली ने आतिथ्य दिया—तो विधवा मंगला इस पुरुष के साथ भाग आई ! और यह पुरुष भी कैसा जिसे प्रतिदिन मदिरा चाहिये, मांस चाहिये। मुरली झुँझलाता, फिर भी उन लोगों के लिए भोजन बनाता, उनके लिए अलग झोपड़ी बनाई और प्रतिदिन बाज़ार से मांस-मदिरा भी लाता। विरोध के सहस्र फणों की छाया में न जाने दुलार कब से सो रहा था ! वह जाग पड़ा।

कई महीने बीत गये। मंगला का सारा धन समाप्त हो गया। अब कैसे चलेगा ?—एक दिन वह मुरली की कुटी में आई। बोली, मैं तुम्हें पहचानती नहीं हूँ, यह बात सही। तुम 'मुरली' ही हो। इसके

साथ कैसे पड़ी, वह पूछ कर क्या करोगे? चलो, भाग चलें। मैं अभी चलना चाहती हूँ।

परन्तु मंगला भयानक स्त्री है। इस स्त्री का प्यार क्या उसे शांति देगा? हृदय में जो मंगला की मूर्ति है, वही क्या काफ़ी नहीं है?—और वह तो इस पुरुष का झगड़ा छुटाने को भी तैयार है। छुरा उसके हाथ में है। मुरली ने लपक कर उसका हाथ पकड़ लिया। कहा—उसे मारो मत! आज ठहरो। मुझे सोच लेने दो।

वह भयानक स्त्री उधर अपने झोंपड़े में गई, इधर मुरली निकल भागा। दूर, दूर, दूर,। मंगला छलावा है, मृगतृष्णा है। इस राक्षसी से दूर रहना होगा। कई वर्ष के बाद जब उसका मन धुली हुई शिला के समान स्वच्छ हो गया, वह उसी पथ से लौटा। कुटिया खाली थी। केवल एक लकड़ी के टुकड़े पर लोहे की नोक से लिखा मिला—'देवता छाया बना देते हैं। मनुष्य उसमें रहता है। और मुझ-सी राक्षसी उसमें आश्रय पाकर भी उसे उजाड़ कर ही फेंकती है।' यह तो मंगला ने ही लिखा है। परन्तु यह मंगल-भाव अधिक नहीं रह सका। पुरानी स्मृतियाँ उभर उठीं।

मुरली ने लेखक को एक पत्थर दिखाया। उस पर एक चित्र खिंचा था। एक स्त्री की धुँधली आकृति—राक्षसी-सी! छुरा हाथ में है और साखू के पेड़ के पास मुरली की छायाकृति है। जान पड़ता है, उस अभागे क्षण को प्रकृति ने अमर बना दिया है। आस-पास के जितने पत्थर हैं, उनमें यही छवि अंकित है। चाहे यह मुरली का भ्रम हो या कुछ और, बात कुछ ऐसी ही है।

मुरली चला गया।

तीसरे पहर घूम कर लौटा तो देखा एक स्त्री बँगलिया के पास खड़ी है। पूछने पर कोई उत्तर नहीं। कुछ देर खड़ी रहकर चली भीतर आया, तो चित्रवाला पत्थर सामने खड़ा था। अरे, इन

तो इसी स्त्री की आकृति थी ! किन्तु जब तक उसे खोजने के लिए नौकर जाय, वह पहाड़ियों की संध्या की उदास छाया में छिप गई थी।

'चित्रमंदिर' में प्रागैतिहासिक नर-नारी की पहली कलाकृति की कल्पना की गई है। प्रसाद का ऐतिहासिक ज्ञान विस्तृत था और वह कला के विकास से पूर्णतयः परिचित थे। अतः उनकी कल्पना ने प्रागैतिहासिक जीवन का पुनर्निमाण करना चाहा तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। विन्ध्य की गुफाओं में कुछ प्रारंभिक कलात्मक रूपरेखाओं का आविष्कार हुआ था। इन कलात्मक रेखाओं को प्रसाद ने आद्या के सुख-दुख के मनोभावों से संबंधित कर दिया। भारतीय कहानी-साहित्य में यह कहानी निःसंदेह बड़ा उच्च स्थान प्राप्त करेगी। राय कृष्णदास की 'अन्तःपुर का आरम्भ" इस श्रेणी की हिंदी की दूसरी प्रसिद्ध कहानी है।

उस आदिकाल में भी नर की ही प्रधानता थी। नारी और पशु दोनों ही नर के अहेर थे। नारी उसकी काम की भूख को तृप्त करती, पशु पेट की ज्वाला को शांत करता। तब नारी को ले कर कोमल भावनाओं का विकास नहीं हो पाया था। नर-नारी के हृदय में अभी भावलोक की सृष्टि नहीं हुई थी।—परन्तु एक दिन आर्यावर्त के दक्षिण विंध्य के अंचल में एक हिरन न पाने पर एक युवा नर अपनी प्रेयसी नारी को छोड़ कर चला गया। उसे थी केवल पेट की भूख। उस दिन नारी के मन में एक ललित कोमल आंदोलन का आरम्भ हुआ। यौवन-जल से भरी कादम्बिनी-सी युवती नारी रीछ की खाल लपेटे एक वृक्ष की छाया में बैठी थी। पास ही जलस्रोत था जिसमें अनेक बन्द कुसुम माला की लड़ी बना कर बह रहे थे। उसने देखा, हिरनों का एक झुंड आ रहा है। पीछे-पीछे नर है। वही जिसने उस दिन भयानक रीछ को अपने प्रचण्ड बल से परास्त किया था और जिसकी खाल युवती

आज लपेटे थी। पेट की भूख पर दूसरी प्रबल इच्छा विजयिनी हुई। पहाड़ी से उतरते हुए नर को वह सतृष्ण देखने लगी। नर अपने भाले के पीछे आ रहा था। नारी के अंग में कंप, पुलक और स्वेद का उद्गम हुआ। नर ने बरछा चलाया, परन्तु नारी की अन्यमनस्कता के कारण अहेर निकल गया। नर ने देखा, नारी को केवल अपनी इच्छा-पूर्ति का अनुरोध है, उसकी बाहें व्याकुलता से आलिंगन के लिए बुला रही हैं। परन्तु उस नर को तो अभी आहार चाहिये। उसके बाहुपाश से युवक निकल गया। नारी के हृदय में उस दिन पहली ठेस लगी। एक विलक्षण अनुभूति जागी। वह दिन मुँदते-मुँदते अपनी गुफा में चली गई। नींद में भी आलिंगन के लिये उसके हाथ उठते-गिरते।

प्रभात हुआ। नारी रात के मधुर स्वप्न लिये गुफा से बाहर आई। हिरनों का झुंड फिर दिखाई दिया। वह दल छलाँग भरता हुआ स्रोत लाँघ गया किन्तु एक चकित शावक वहीं खड़ा रह गया। युवती ने उसे दौड़ कर गोद में उठा लिया। एक भावना जगी। और वह हिरनों के पीछे दौड़ी—दूर, दूर, दूर! एक बड़ी नदी के तट पर झुंड रुका। नारी भी रुकी। शावक को उसके बीच में उसने छोड़ दिया। वह अपनी माता का स्तन पान करने लगा। युवती पहले-पहल मुस्करा उठी। उसमें स्नेह जागा। वह लौट आई। उसके हृदय में एक नूतन भाव-सृष्टि होने लगी। पहला युवक आता, उसके पास बैठता और अनेक चेष्टाएँ करता। एक दूसरा युवक भी आने लगा। ईर्ष्या जगी। एक दिन वराह का आखेट करते समय इस दूसरे युवक ने पहले युवक को अपने भाले का शिकार बना लिया, परन्तु वह स्वयं भी वराह की पैनी डाढ़ का शिकार हो गया। आद्या का हृदय चीत्कार कर उठा।

वसन्त बीत गया। प्रचंड ग्रीष्म के आरंभ में पहाड़ियों से लाल-काले धातुभाग बहने लगे। बतेस की लता को उनमें डुबो कर गुहा-

भित्ति पर नारी ने एक चित्र बनाया। हिरनों के झुंड में वह स्वयं खड़ी है और पीछे भाला ऊँचा किये भीषण आकृति का नर है। जब तक वह जी, इन दोनों चित्रों को देखकर धन्य होती रही। ललित कला के प्रेमियों ने आज आद्या की उस पहली कलाकृति को खोज निकाला है।

'गुंडा' शीर्षक कहानी एक अन्य श्रेणी की कहानी है। अब तक की कहानियों से वह दो प्रकार से भिन्न है। उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पूर्ण रूप से सफल है। ग़दर के पहले के काशी के जीवन की सारी विडंबना यथार्थ की सारी रूपरेखाओं के साथ उभार दी गई है। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में देश के अधिकांश नगरों का जीवन विशृंखल हो गया था। साहसी और अवसरवादी व्यक्ति ही नायक बन बैठे थे। —'न्याय और बुद्धिवाद को शस्त्रबल के सामने झुकते देख कर, काशी के विच्छिन्न और निराश नागरिक जीवन ने एक नवीन संप्रदाय की सृष्टि की। वीरता जिसका धर्म था। अपनी बात पर मिटना, सिंह-वृत्ति से जीविका ग्रहण करना, प्राण-भिक्षा माँगने वाले कायरों तथा चोट खाकर गिरे हुए प्रतिद्वन्दी पर शस्त्र न उठाना, सताये हुए निर्बलों को सहायता देना और प्रत्येक क्षण प्राणों को हथेली पर लिए घूमना, उनका बाना था। उन्हें लोग काशी में 'गुंडा' कहते थे।'

'गुंडा' कहानी नन्हकूसिंह नाम के ऐसे ही एक काशी के गुंडे का चित्रण है, परन्तु गुंडे नन्हकूसिंह में जो प्रेम पर मर-मिटने की भावना है, जो देशप्रेम है, जो आत्मसम्मान की आग है, वह सभ्य कहलाये जानेवाले कितने नागरिकों में मिलेगी। काशी में उन दिनों कहने मात्र को चेतसिंह का राज था। धीरे-धीरे सारे अधिकार कंपनी के हाथ में चले जा रहे थे। पन्ना राजमाता थी। वह अब विधवा थीं। राजा बलवंतसिंह ने उन्हें बलपूर्वक अपनी रानी बना लिया था, परन्तु पन्ना को वह दिन भूले नहीं जब वह अपनी पिता की

छोटी ज़मींदारी में रहती थी।—तब नन्हकूसिंह ने उस पर अपना तन-मन न्योछांवर किया था और यदि बलवंतसिंह बीच में नहीं कूद पड़ते तो पन्ना निश्चय नन्हकूसिंह की होती! राजगृह में आने पर पन्ना को बहुत कुछ मिला और कदाचित् नन्हकूसिंह की स्मृति कुछ धुँधली पड़ गई, परन्तु बलवतसिंह के मर जाने पर बड़ी रानी की सापत्न्य ज्वाला और अंतःपुर के कलहों से बचने के लिए काशीवास करने लगीं। काशी अब पहली काशी नहीं रही थी। आये दिन नई नई दुर्घटनाओं के समाचार सुनाई पड़ते। रेज़ीडेन्ट, कम्पनी बहादुर और रेज़ीडेन्ट के मुँहलगे कुबरा मौलवी के कारनामों को सुनते सुनते उन्हें खीज हो जाती। काशी में कोई भी ऐसा नहीं जो इन नये तिलंगों का मुँह तोड़ सके।

परन्तु बाबू निरञ्जनसिंह के पुत्र नन्हकूसिंह ने राजमाता पन्ना के प्रेम से निराश होकर कितना बड़ा बलिदान किया, यह भी वह क्या जानती थी? नन्हकूसिंह ने विवाह नहीं किया, अपनी सारी ज़मींदारी स्वाँग, भैंसों की लड़ाई, घुड़दौड़ और गाने-बजाने में उड़ा दी। लोग थे जो नन्हकू को आशीर्वाद देते, कहते—बाबू साहेब के ऐसा धर्मात्मा तो कोई है ही नहीं। कितनी विधवाएँ उनकी दी हुई धोती से अपना तन ढकती है। कितनी लड़कियों की ब्याह शादी होती है। कितने सताये हुए लोगों की उनके द्वारा रक्षा होती है। नन्हकूसिंह का व्यक्तित्व भी बड़ा आकर्षक था—पचास वर्ष से ऊपर की आयु में भी युवकों से अधिक बलिष्ठ और दृढ़ शरीर। चमड़े पर झुर्रियाँ ज़रा भी नहीं। वर्षा की झड़ी में, पूस की रातों की छाया में, कड़कती हुई जेठ की धूप में, नंगे शरीर घूमने में वह सुख मानता था। उसकी चढ़ी मूँछें बिच्छू के डंक की तरह, देखने वालों की आँखों में चुभती थीं। उसका साँवला रंग, साँप की तरह चिकना और चमकीला था। उसकी नागपुरी धोती का लाल रेशमी किनारा दूर से भी ध्यान आकर्षित करता। कमर में बनारसी सेल्हे का फेटा, जिसमें

सीप की मूठ का बिछुआ खुँसा रहता था। उसके घुँघराले बालों पर सुनहले पल्ले के साफ़े का छोर उसकी चौड़ी पीठ पर फैला रहता। ऊँचे कन्धे पर टिका हुआ चौड़ी धार का गँडासा, यह थी उसकी धज। पंजे के बल जब वह चलता, तो उसकी नसें चटाचट बोलती थीं। ऐसे विचित्र नन्हकूसिंह ने एक बार एक पैर में नूपुर एक हाथ में तोड़ा, एक आँख में काजल, एक कान में हज़ारों के मोती और दूसरे कान में फटे हुए जूते का तल्ला लटका कर, एक हाथ में जड़ाऊ मूठ की तलवार, दूसरा हाथ आभूषणों से लदी हुई अभिनय करने वाली प्रेमिका के कंधे पर रख कर गाया था—

'कहीं बैंगनवाली मिले तो बुला देना।'

नन्हकूसिंह के सम्बन्ध में न जाने कितनी किंवदंतियाँ प्रसिद्ध थीं। संक्षेप में, उस जमाने में नन्हकूसिंह काशी के सारे शौर्य, सारे साहस और सारी उच्छृंखलता का प्रतीक था।

उधर काशी में गोरे रेज़ीडेन्ट और उसके एजेन्ट कुबरा मौलवी का बड़ा आतंक था। एक दिन नन्हकूसिंह से भेंट हो गई। उसने मौलवी की सारी शान किरकिरी कर दी। नन्हकूसिंह के एक ही बनारसी झापड़ में मौलवी अलाउद्दीन कुबरा का सिर घूम गया। काशी में इस घटना का समाचार फैलते हुए देर नहीं लगी। पन्ना ने सुना, पुरानी स्मृतियाँ जाग उठीं—एक दिन वह बहुत छोटी थी, अपनी बारी में झूला झूल रही थी, जब नवाब का हाथी बिगड़ गया था, इसी नन्हकूसिंह ने ही तो उसकी रक्षा की थी। और भी कितनी स्मृतियाँ इस नाम से सम्बन्धित हैं। उधर नन्हकूसिंह ने सुना, कोई हेस्टिंग्ज़ साहब आया है। उसने शिवालय घाट पर तिलङ्गों की कम्पनी का पहरा बैठा दिया है। राजा चेतसिंह और राजमाता पन्ना कदाचित् पकड़ कर कलकत्ते भेज दिये जायें। काशी सन्न हो गई। नन्हकूसिंह अधीर हो उठा—उसके जीते जी यह कांड कैसे होगा। पन्ना के प्रेम का ऋण उसे प्राण देकर भी चुकाना पड़ेगा।

नन्हकूसिंह कोतवाली जाकर रेज़ीडेन्ट के सिपाहियों को चुनौती दे आया और स्वयं डोंगी लेकर राजप्रासाद के नीचे पहुँच गया। फिर एक क्षण बाद खिड़की के रास्ते भीतर! पन्ना के मुँह से हलकी-सी एक साँस निकल गई। उसने पहचान लिया। इतने वर्षों बाद। वही नन्हकूसिंह! एक क्षण के लिए चारों आँखें मिलीं, जिनमें जन्म-जन्म का विश्वास-ज्योति की तरह जल रहा था। राजपरिवार अब सुरक्षित था। पन्ना और चेतसिंह डोंगी पर चढ़ा कर बाहर कर दिये गये, परन्तु इसके साथ ही जो विकट कांड हुआ वह काशी के इतिहास में अमर है। कई अँग्रेज़-अधिकारियों के साथ कुबरा मौलवी भी नन्हकू की तलवार की बलि चढ़ गया परन्तु क्या नन्हकूसिंह बचा? वह तो प्राण पर खेल कर पन्ना को बचाने निकला था। उसके घावों से रक्त के फौवारे छूट रहे थे। बीसियों तिलङ्गों की संगीनों में वह अविचल खड़ा होकर तलवार चला रहा था। देखने वालों ने देखा, गुंडे का एक-एक अङ्ग कट कर वहीं गिरने लगा। पन्ना से तरुणाई में जो एक कुछ हो गया था, जिसने जीवन भर दुःख ही दिया, उसके लिए यह नन्हकूसिंह का प्रतिदान था।

'अनबोला' एक छोटी-सी कहानी है जिसकी मूल भित्ति करुणा है। एक विशेष परिस्थिति को पकड़ने का प्रयत्न है। कामैया का पिता रग्गैया धनी धीवर है। जग्गैया की माँ उसी के यहाँ नौकर है। जग्गैया भी उसे सहायता करता है। परन्तु कामैया अभी किशोरी है। उसी के वयस की है। उससे कुछ हो चला है। उसे प्रेम भी कह सकते हैं।

एक दिन कामैया ने जाल डाला। उसके जाल में सीपियाँ उलझ गईं। जग्गैया से उसने कहा—इसे फैलाती हूँ, तू सुलझा दे।

जग्गैया ने कहा—मैं क्या तेरा नौकर हूँ!

कामैया ने तिनक कर अपने खेलने का छोटा-सा जाल और

भी बटोर लिया। समुद्र-तट के छोटे से होटल के पास की गली। अपनी झोंपड़ी की ओर चली गई।

जग्गैया को क्या चिंता ? परन्तु वह जानता था, कामैया रूठ गई है। उससे बोलेगी नहीं।

कई दिन कामैया नहीं बोली। एक दिन जग्गैया ने उसे पीछे से टोनाया तो छिटक कर अलग खड़ी हो गई। दोनों में अनबोला था। और फिर एक दिन एक भयानक घटना हो गई। कामैया के पिता ने जाल डाला। उसमें एक भीषण समुद्री बाघ भी था। लोगों ने देखना चाहा। बाघ निकाला गया। एक खूँटे से उसकी पूँछ बाँधी गई। परन्तु सब की दृष्टि बचा कर वह बाघ जग्गैया की माता की बाँह चबा गया। जग्गैया जब अपनी मूर्च्छित माता को लेकर चला तब भी कामैया बोली नहीं, परन्तु आँखों से आँसू बह रहे थे। बाघ-देवता को मनाने के लिए पूजा हुई। कहा गया, जग्गैया के परिवार पर जल-देवता का कोप है। उससे अब कोई संबन्ध नहीं रहना चाहिये। मदिरा-विह्वल कंठ से रग्गैया ने कहा—तुम मेरे घर कल से न आना।

जग्गैया वहीं बैठ गया। उसका भविष्य ही अंधकारपूर्ण था। तभी कामैया ने धीरे धीरे आकर जग्गैया की पीठ पर हाथ रख दिया। उसने घूम कर देखा। कामैया की आँखों में आँसू भरा था। दोनों चुप थे।

कामैया की माता ने पुकार कर कहा—जग्गैया ! तेरी माँ मर गई। इसको अब ले जा।

जग्गैया धीरे-धीरे उठा और माता के शव के पास जाकर खड़ा हो गया। अब उसके मुख पर हर्ष-विषाद, दुख-सुख कुछ भी नहीं था। उससे कोई बोलता न था और वह भी किसीसे बोलना नहीं चाहता था। किन्तु कामैया भीतर-ही-भीतर फूट-फूट कर रो रही थी; पर वह बोले कैसे ? उससे तो अनबोला था न !

'देवरथ' में प्रसाद फिर इतिहास की प्रकृत-भूमि पर खड़े हैं। बौद्ध विहारों के अनाचारपूर्ण जीवन के अनेक चित्र हमें प्रसाद के नाटकों में मिलते हैं। 'विशाख' और 'स्कन्दगुप्त' में ऐसे कई चित्र हैं। इस कहानी में भी ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी के विहार-जीवन का एक चित्र उपस्थित किया गया है। इतिहास केवल इतना ही है कि 'कालापहाड़' ने जगन्नाथपुरी के देवरथ-उत्सव के समय आक्रमण किया और देवविग्रह को छिन्न-भिन्न कर दिया। यह आक्रमण बौद्ध अनाचार के प्रति ईश्वरी प्रकोप के रूप में हमारे सामने आता है। मुख्य वस्तु है स्थविर, सुजाता और आर्यमित्र का त्रिकोण। सुजाता युवती है। वह धर्मप्रेम के कारण विहार में आई, संसार को दुखपूर्ण समझ कर संघ की शरण में आई। परन्तु यहाँ विहार में तो शिकारियों का झुण्ड बसा है और वह इकेली है। आर्यमित्र उसका प्रेमी था। प्रेम का प्रतिदान उसे नहीं मिला था। वह उसे लेने ही संघ में आ गया था। वह संघ का वैद्य था। वह अपनी बात कहना चाहता, परन्तु सुजाता कब सुनने लगी?

एक दिन एकांत में आर्यमित्र ने कह ही तो दिया, वह सुजाता के लिए ही भिक्षु बना था। उसी का पता लगाने के लिए वह इस नील विहार में आया था। वह उसकी वाग्दत्ता भावी पत्नी है। यह बात उसने स्थविर से भी कह दी है।

'किन्तु आर्यमित्र, तुमने विलम्ब किया, मैं तुम्हारी पत्नी न हो सकूँगी।'—सुजाता ने बीच ही में रोक कर कहा।

आर्यमित्र समझ नहीं सका।

सुजाता ने समाधान किया—'आर्यमित्र! मैं वह अमूल्य उपहार—जो स्त्रियाँ, कुलवधुएँ अपने पति के चरणों में समर्पण करती है—कहाँ से लाऊँगी? वह वरमाला जिसमें दूर्वासदृश कौमार्य हरा-भरा रहता हो, जिसमें मधूक-कुसुम-सा हृदय-रस भरा हो, कैसे, कहाँ से तुम्हें पहना सकूँगी?''

सचमुच, उसके जीवन में अब कोई लालसा शेष नहीं रही। वह भैरवी है, उसे कोई क्यों ग्रहण करे ? वह तो संघ की लालसा की शिकार है। परन्तु आर्यमित्र ऐसा-वैसा प्रेमी नहीं है। उसने प्रकृतिस्थ होकर कहा—'सुजाता ! मेरा सिर घूम रहा है, जैसे देवरथ का चक्र; परन्तु मैं तुमको अब भी पत्नी-रूप में ग्रहण करूँगा। सुजाता, चलो।'

परन्तु सुजाता अपनी सारी लांछना बटोर कर उसे पति-रूप में ग्रहण न कर सकेगी।

संघस्थविर ने उसे धर्मविद्रोही ठहरा कर प्राणदंड की आज्ञा दी तो सुजाता का मन धर्म के प्रति घृणा से भर गया। इसी वज्रयानी नरपिशाच ने उसके शरीर को कलुषित किया, देवता के स्वाँग में यह राक्षस अब भी धर्म-अधर्म की बात चला सकता है। वह कह उठी—मैं मरूँगी स्थविर; किन्तु तुम्हारा यह काल्पनिक आडम्बरपूर्ण धर्म भी मरेगा। मनुष्यता का नाश करके कोई भी धर्म खड़ा नहीं रह सकता। कल प्रभात में तुम देखोगे कि सुजाता कैसे मरती है !

—और दूसरे दिन प्रभात में जब पुजारियों के कौशेय वस्त्र पहरे दल के पीछे देवरथ विस्तीर्ण राजपथ पर चलने लगा था, उसके दृढ़ चक्र धरणी की छाती में गहरी लीक डालते हुए आगे बढ़ने लगे थे, उस जनसमूह में सुजाता फाँद पड़ी और एक क्षण में उसका शरीर देवरथ के भीषण चक्र से पिस उठा।

तभी 'कालापहाड़' के भीषण अश्वारोहियों से देवरथ घिर गया और क्षणभर में सारे पुजारी छिन्न-भिन्न हो गए। सुजाता प्रेम और धर्म की बलि चढ़ चुकी थी।

'विराम-चिह्न' कहानी में अछूतोद्धार की सामयिक समस्या को कहानी का विषय बनाया गया है। देवमन्दिर के सिंहद्वार से कुछ दूर हट कर बुढ़िया की दूकान थी। राधे उसका बेटा है। मजूरी करता है, परन्तु जो कमाता है, ताड़ी में उड़ा देता है : बुढ़िया वहीं दूकान पर बैठी-बैठी भगवान को पत्र-पुष्प चढ़ा देती है। प्रार्थना करती है

कि उसके राधे को बुद्धि आये। परन्तु राधे को नई हवा लगी है। अछूतों को साथ लेकर उसने मन्दिर में घुसने की ठानी है। बुढ़िया को मालूम हुआ तो उसके पैरों के नीचे से धरती निकल गई। उसने कहा—'राधे बेटा, आज तक तूने कौन से अच्छे काम किये हैं, जिसके बल पर मन्दिर में जाने का साहस करता है?' परन्तु राधे माननेवाला नहीं।

दूसरे दिन लठ्ठ चले, सिर फूटे। राधे ढेर हो गया। क्षण भर के लिए शिथिलता छा गई। सहसा बुढ़िया भीड़ को चीर कर वहीं पहुँच गई। उसने कहा—'राधे की लोथ मन्दिर में जायगी।' वह अपने निर्बल हाथों से राधे को उठाने लगी।—वह आगे बढ़ी, परन्तु सिंह-द्वार की देहली पर आकर सहसा रुक गई। आँसू बहने लगे। राधे का शव देहली के समीप रख दिया गया। बुढ़िया ने देहली पर सिर झुकाया, पर वह सिर उठा न सकी। मन्दिर में घुसनेवाले अछूतों के आगे बुढ़िया विरामचिह्न-सी पड़ी थी।

प्रेमचन्द की हरिजन-आन्दोलन-सम्बन्धी कहानियों से इस कहानी की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचन्द की कला की क्रांतिदर्शिता प्रसाद की कला में नहीं है। प्रसाद स्पष्टतयः 'कला कला के लिये' सिद्धांत को लेकर आगे बढ़ते हैं। सामयिक रचनाओं में भी वह केवल समस्या ही उपस्थित कर सके हैं। उन्होंने न इनमें समस्याओं के हल दिये हैं, न प्राणवान चरित्र। वह इतिहास, सामयिक जीवन, रोमांस और घटना-वैचित्र्य के भीतर से कला की एक बनी-सँवरी मूर्ति उपस्थित करना चाहते हैं। इसमें वह सफल भी हुए हैं। परन्तु उनका कलावादी दृष्टिकोण उनकी अधिकांश कहानियों को प्राणहीन कलाभास-मात्र बना देता है।

'इंद्रजाल' (१९३६) की अन्तिम रचना सालवती है। वह एक ऐतिहासिक कहानी है। बौद्ध युग का सारा रोमांस भाषा-शैली और दर्शन की सारी शक्ति के साथ इस कहानी में समा गया है।

प्रसाद की एक दरजन सर्वश्रेष्ठ कहानियों में इस कहानी की गिनती होगी।

सालवती कुलपुत्र आर्य धवलयश की दुहिता है। वैशाली गण-तंत्र में आर्य धवलयश को कौन नहीं जानता ? उनके दर्शन से कौन परिचित नहीं ? सदानीरा की लहरियों को छूता हुई आचार्य धवल-यश की कुटी विदेह, वज्जि, लिच्छवि और मल्लों के वितर्कों और स्वतन्त्र विचारकों का केन्द्र रही थी। परन्तु एक दिन धवलयश अपनी गरिमा में हँसता हुआ संसार से उठ गया। सालवती अकेली रह गई। धन की उसके पास कमी नहीं थी और आचार्य धवलयश की दुहिता के नाते गणराज्यों में उसका मान भी कम नहीं था।

वसंत की मञ्जरियों से जब पराग बरसने लगा, तब वैशाली के स्वतन्त्र नागरिक आमोद-प्रमोद के लिए उन्मत्त हो उठे। कलशों में आसव लिये दासों के वृन्द, वसंत कुसुमालंकृता युवतियों के दल, कुलपुत्रों के साथ वसन्तोत्सव के लिए, वनों उपवनों में फैल गये। आठ संभ्रांत कुलपुत्र सालवती के सालकानन में भी गोष्ठी जमा कर बैठे। देव-गंधर्व की तरह रूपवान। सुगठित शरीरों पर दो-एक आभू-षण और काशी के बने हुए बहुमूल्य उत्तरीय, रत्न-जटित कटिबन्ध में कृपाणी। लच्छेदार बालों के ऊपर सुनहरे पतले पट्टबन्ध और वसन्तोत्सव के प्रधान चिह्न-स्वरूप दूर्वा और मधूप-पुष्पों की सुरभित मालिका। मांसल भुजदंड, कुछ-कुछ आसव-पान से अरुण नेत्र, तांबूल-रञ्जित सुन्दर अधर। उपराजा अभयकुमार और मगध के महा-मन्त्री भी इस गोष्ठी में सम्मिलित हो गये। इस गोष्ठी में सहसा सालवती का प्रवेश हुआ और उसके वाग्विलास ने कुलपुत्रों और अभ्यागतों को चकित कर दिया। उसका परिचय पाने के लिए सब उत्सुक थे। सालवती ने आर्य धवलयश से अपने सम्बन्ध की बात उठाई तो कुछ भी छिपा नहीं रह गया। सालवती ऐसे ही मेधावी पुरुष की दुहिता हो सकती है। परन्तु सालवती केवल वाग्चतुर ही

नहीं थी, आर्य धवलयश ने उसे कलाओं का भी अत्यन्त सूक्ष्म ज्ञान कराया था। कुलपुत्रों के आग्रह पर उसने गाया। अभिनन्द वीणा बजा रहा था और अभयकुमार प्यासी आँखों से उस सौंदर्य को देख रहा था। संगीत समाप्त हुआ। अभयकुमार ने अपनी मुक्ता की एकावली सालवती को भेंट करनी चाही। उसने कहा—'देवि, यह उपहार है।' सालवती ने गंभीर भाव से सिर झुका कर कहा—'बड़ी कृपा है; किन्तु मैं किसी के अनुग्रह का दान नहीं ग्रहण करती।' और वह चली गई।

—उस दिन अभयकुमार का हृदय सौ-सौ प्रणय-सूत्रों में सालवती से बँध गया।

दार्शनिक कुलपुत्रों की गोष्ठी उसी सालकानन में जमी रही। एक दिन उन्होंने तूर्यनाद सुना—'आज अनंगपूजा के लिए वज्जियों के संघ में से सब से सुन्दरी कुमारी चुनी जायगी। जिसको चुनाव में आना हो, संस्थागार में एक प्रहर के भीतर आ जाय।

अभिनंद उछल पड़ा। उसने कहा—'मैत्रायण! सालवती को लिवा ले चलना चाहिए। ऐसा न हो कि वैशाली के सब से उत्तम सौन्दर्य का अपमान हो जाय।'

वे ठहरे कोरे दार्शनिक। सब मिल कर सालवती के पास पहुँचे। सालवती के सामने बड़ा टेढ़ा प्रश्न उपस्थित हुआ। वह विचारों की स्वतंत्रता की उपासक थी। कुलपुत्रों ने उसमें सौन्दर्य देखा तो यह सत्य बात भी हो सकती है—परीक्षा क्यों न की जाय? वह यों ही प्रसाधनहीन चलने के लिए तैयार हो गई—केवल एक नवीन कौशेय पहने, जूड़े में फूलों की माला लगाये। सारथी को हटा कर अभिनंद अपना रथ स्वयं हाँकने लगा। उस पर बैठी थी सालवती। पीछे उसके कुलपुत्रों के सात रथ थे।

उस दिन सालवती वज्जिराष्ट्र की सर्वश्रेष्ठ कुमारी चुन ली गई।—परन्तु इस अनुपम सौन्दर्य को राष्ट्र किस प्रकार भोगे?

'आँधी' (१६३१) और 'इंद्रजाल' (१६३६) में ही प्रसाद की अधिकांश सुन्दर यथार्थवादी कहानियाँ हमें मिलती हैं। घीसू, बेड़ी, इंद्रजाल, सलीम, छोटा जादूगर, परिवर्तन, संदेह, भीख में और चित्रवाले पत्थर। इनमें कथाकार के जीवन के अनेक नए पहलू उपस्थित किये हैं। दृष्टिकोण अब भी बहुत कुछ स्वच्छंदतावादी है। इंद्रजाल, सलीम, परिवर्तन संदेह, भीख में और चित्रवाले पत्थर में प्रेम का कोई न कोई रूप ही हमें दिखलाई पड़ता है। परन्तु क़लम नई है। जहाँ 'इंद्रजाल' में एक ओर कंजर-जीवन के बड़े सुन्दर यथार्थवादी चित्र हैं, वहाँ 'भीख में' जैसी कहानियों में आधुनिक जीवन अपनी सारी नग्नता को लेकर उपस्थित होता है। घीसू, बेड़ी, और छोटा जादूगर तीन ऐसी कहानियाँ हैं जिनमें लेखक ने बालकों के दुःखमय भविष्य की ओर संकेत किया है। इन कहानियों का बीज-मंत्र करुणा है।

(ग) भावात्मक कहानियाँ—इनकी संख्या ९ है। अधिकांश कहानियाँ 'प्रतिध्वनि' (१६२६) में मिलती हैं—कलावती की शिक्षा, प्रतिमा, दुखिया, करुणा की विजय, पाप की पराजय, अघोरी का मोह। तीन कहानियाँ 'आकाशदीप' (१६२६) में मिलेंगी। भिखारिन, प्रतिध्वनि और बनजारा। इन कहानियों में कहानी-तत्त्व की कमी है, परन्तु भावना का विकास विशेष है और यही भावना या भावुकता कहानी का सब से बड़ा आकर्षण है। 'बनजारा' प्रेम-कहानी है, परन्तु अन्य कहानियों में जीवन के अलग अलग चित्र मिलते हैं। इन कहानियों में गद्य-गीत की कला का भी बड़ा सुन्दर समावेश है। परन्तु भावना की मात्रा अधिक होने के कारण कहीं-कहीं अस्पष्टता भी आ गई है। जो हो, यह निश्चित है कि इन कहानियों में प्रसाद की एक विशेष कला के दर्शन होते हैं।

(घ) प्रेममूलक कहानियाँ—यों तो अन्य श्रेणी की कहानियों में भी प्रेम-कहानियाँ आ जाती हैं, ऐतिहासिक कहानियों में अधिकांश

प्रेम को लेकर ही चलती हैं, परन्तु कुछ कहानियाँ ऐसी भी हैं, जो स्पष्ट रूप से प्रेम को अपना विषय बनाती हैं। 'छाया' (१६१२,१६). आकाशदीप (१६२६) और आँधी में इस प्रकार की कहानियाँ संग्रहित हैं। ये हैं—तानसेन, चंदा, रसिया बालम, मदन-मृणालिनी, सुनहला साँप, देवदासी, चूड़ीवाली, अपराधी, विसाती और ग्रामगीत। इनमें 'छाया' की कहानियाँ अधिक प्रौढ़ नहीं हैं, परन्तु 'देवदासी', 'विसाती' और 'ग्रामगीत' कहानियों में प्रेमाख्यानक कहानियों की पराकाष्ठा मिलेगी। ये कहानियाँ संसार की सब से सुन्दर प्रेम-रोमांस की कहानियों की श्रेणी में रखी जा सकती हैं। प्रेम की अनेक भंगिनाएँ हमें प्रसाद के साहित्य में मिलेंगी। जहाँ विषय, कला और भाषा का समन्वय संभव हो गया है, वहाँ प्रसाद की प्रौढ़ता को पहुँचना सम्भव नहीं है, परन्तु सब जगह ऐसा समन्वय नहीं मिलेगा। यह समन्वय मुख्यतः प्रसाद के जीवन के अंतिम दस वर्षों में मिलेगा।

(ङ) रहस्यवादी कहानियाँ—प्रसाद की अनेक कहानियाँ भावुकता और प्रतीकात्मकता के अतिरंग के कारण अस्पष्ट हो गई हैं। परन्तु जो शुद्ध रहस्यवादी कहानियों की श्रेणी में आती हैं, ऐसी कहानियाँ ६ हैं। 'प्रतिध्वनि' (१६२६) की उस पार का योगी और 'प्रसाद' और 'आकाशदीप' (१६२६) की हिमालय का पथिक, समुद्र-संतरण, प्रणय-चिह्न और रमला कहानियाँ इसी श्रेणी की कहानियाँ हैं। 'उस पार का योगी' कहानी में योगी मृत्यु का प्रतीक है। 'प्रसाद' रहस्यात्मक गद्य-काव्य मात्र है। अंतिम चार कहानियाँ प्रेम-कहानियाँ हैं, परन्तु उस प्रेम में आध्यात्मिक और रहस्यात्मक इंगित भी मौजूद है। मृत्यु के प्रति आकर्षण रहस्यवाद का एक विशेष चिह्न है। 'हिमालय का पथिक' कहानी में यह इंगित स्पष्ट है। पथिक ने दूर बर्फ़ का बुलावा सुन लिया है और वह किन्नरी के

प्रेमपाश में बँध कर भी रहना नहीं चाहता। यह रहस्य कहानी को साधारण प्रेम-रोमांस की कहानी से ऊपर उठा देता है :

एक दिन पथिक ने कहा—"कल मैं जाऊँगा।"

किन्नरी ने पूछा—"किधर ?"

पथिक ने हिमगिरि की ऊँची चोटी दिखलाते हुए कहा—"उधर, जहाँ कोई न गया हो।" प्राणों के प्रति यह निर्मोह कहानी को आध्यात्मिकता प्रदान कर देता है। 'समुद्र-संतरण' कहानी में यह दूर की पुकार हिम की चोटियों से नहीं आती, समुद्र की लहरों से आती है। यहाँ धीवरबाला का प्रेमी राजकुमार आत्मा की वियोगिनी अवस्था का प्रतीक बन जाता है। कहानी की वर्णन-शैली और भावुकता उसे साधारण तल से ऊँचा उठाने में समर्थ होती है :

धीवर बालिका चली गई। एक मौन अंधकार टहलने लगा। कुछ काल के अनन्तर दो व्यक्ति एक अश्व लिये आये। सुदर्शन से बोले—"श्रीमन् ,विलम्ब हुआ। बहुत-से निमंत्रित लोग आ रहे हैं। महाराज ने आपको स्मरण किया है।

—मेरा यहाँ पर कुछ खो गया है, उसे ढूँढ लूँगा तब लौटूँगा।

—श्रीमन्, रात्रि समीप है।

—कुछ चिंता नहीं, अभी चंद्रोदय होगा।

—हम लोगों को क्या आज्ञा है ?

—जाओ।

सब लोग गये। राजकुमार सुदर्शन बैठा रहा। चाँदी का थाल लिये रजनी समुद्र से कुछ अमृत-भिक्षा लेने आई। सिंधु देने के लिए उमड़ उठा। लहरियाँ सुदर्शन के पैर चूमने लगीं। उसने देखा, दिगंत-विस्तृत जल-राशि पर कोई गोल और धवल पाल उड़ाता हुआ अपनी सुन्दर तरणी लिये हुए आ रहा है। उसका विषय-शून्य हृदय व्याकुल हो उठा। उत्कट प्रतीक्षा—दिगंतगामिनी अभिलाषा—

उसकी जन्मांतर की स्मृति बन कर उस निर्जन प्रकृति में रमणीयता की—समुद्र-गर्जन में संगीत की—सृष्टि करने लगी। धीरे-धीरे उसके कानों में एक कोमल अस्फुट नाद गूँजने लगा। उस दूरागत स्वर्गीय संगीत ने उसे अभिभूत कर दिया। नक्षत्र-मालिनी प्रकृति हीरे-नीलम से जड़ी पुतली के समान उसकी आँखों का खेल बन गई।

सुदर्शन ने देखा, सब सुन्दर है। आज तक जो प्रकृति उदास चित्र बन कर सामने आती थी वह उसे हँसती हुई मोहिनी और मधुर सौन्दर्य से ओत-प्रोत दिखाई देने लगी। अपने में और सब में फैली हुई उस सौन्दर्य की विभूति को देख कर सुदर्शन की तन्मयता उत्कंठा में बदल गई। उसे उन्माद हो चला। इच्छा होती थी कि वह समुद्र बन जाय। उसकी उद्वेलित लहरों से चन्द्रमा की किरणें खेलें और वह हँसा करे। इतने में ध्यान आया उस धीवर बालिका का। इच्छा हुई कि वह भी वरुण-कन्या की चंद्रकिरणों से लिपटी हुई उसके विशाल वक्षस्थल में विहार करे। उसकी आँखों में गोल धवल पालवाली नाव समा गई, कानों में अस्फुट संगीत भर गया। सुदर्शन उन्मत्त था। कुछ पद-शब्द सुनाई पड़ा। उसे ध्यान आया कि मुझे लौटा ले जाने के लिये कुछ लोग आ रहे हैं। वह चञ्चल हो उठा। फेनिल जलधि में फाँद चला। लहरों में तैर चला।

बेला से दूर—चारों ओर जल—आँखों में वही धवल पाल, कानों में स्फुट संगीत। सुदर्शन तैरते-तैरते थक चला था। संगीत और वंशी समीप आ रही थी। एक छोटी मछली पकड़ने की नाव आ रही थी। पास आने पर देखा, धीवरबाला वंशी बजा रही है और नाव अपने मन से चल रही है।

धीवरबाला ने कहा—आओगे?

लहरों को चीरते हुए सुदर्शन ने कहा—कहाँ ले चलोगी?

पृथ्वी से दूर जल-राज्य में—जहाँ कठोरता नहीं, केवल शीतल,

कोमल और तरल आलिंगन है; प्रवंचना नहीं, सीधा आत्मविश्वास है; वैभव नहीं, सरल सौन्दर्य है।

धीवरबाला ने हाथ पकड़ कर सुदर्शन को नाव पर खींच लिया। दोनों हँसने लगे। चन्द्रमा और जलनिधि भी।

'प्रणय-चिह्न' की रहस्य-कल्पना कुछ दुरूह है। कुछ प्रेम-कहानी-सी जान पड़ती है। नाम-धाम इस लोक के ही दिये गये हैं, परन्तु ढंग कुछ सूफी कविता जैसा है। विश्लेषण में जाने की आवश्यकता नहीं है। कहानी का प्रारंभ ही लेखक की रहस्यमय प्रवृत्ति की सूचना देता है :

'क्या अब वे दिन लौट आवेंगे ? वे आशा भरी संध्याएँ, वह उल्लास-भरा हृदय—जो किसी के संकेत पर शरीर से अलग होकर उछलने के लिए प्रस्तुत हो जाता था—क्या हो गया ?

जहाँ तक दृष्टि दौड़ती है, जंगलों की हरियाली। उनसे कुछ बोलने की इच्छा होती है, उत्तर पाने की उत्कंठा होती है। वे हिल कर रह जाते हैं, उजली धूप जलजलाती हुई नाचती निकल जाती है। नक्षत्र चुपचाप देखते रहते हैं,—चाँदनी मुसकिरा कर घूँघट खींच लेती है। कोई बोलनेवाला नहीं ! मेरे साथ दो बातें कर लेने की जैसे सबने शपथ ले ली है। रात खुल कर रोती भी नहीं—चुपचाप ओस के आँसू गिराकर चल देती। तुम्हारे निष्फल प्रेम से निराश होकर बड़ी इच्छा हुई थी कि मैं किसी से सम्बन्ध न रख कर सचमुच अकेला हो जाऊँ। इसीलिये जनसंसर्ग से दूर—इस झरने के किनारे आकर बैठ गया, परन्तु अकेला ही न आ सका, तुम्हारी चिंता बीच-बीच में बाधा डाल कर मन को खींचने लगी। इसीलिए फिर किसी से बोलने की, लेनदेन की, कहने-सुनने की कामना बलवती हो उठी।

परन्तु कोई न कुछ कहता है और न सुनता है। क्या सचमुच हम संसार से निर्वासित हैं, अछूत हैं। विश्व का यह नीरव तिरस्कार

अग्राह्य है। मैं उसे हिलाऊँगा; उसे झकझोर कर उत्तर देने के लिए बाध्य करूँगा।'

'प्रतिध्वनि' में ऐसे कितने ही गद्यगीतों को कहानी में गुंफित कर दिया गया है। इस कहानी में भी ऐसा ही लगता है। इसीसे रहस्य-मय इंगित सफ़ाई से उतर नहीं सका है।

'रमला' के संबंध में हम अन्यत्र विस्तारपूर्वक विचार कर चुके हैं।

(च) प्रतीकात्मक कहानियाँ—इस प्रकार की कहानियों की संख्या छः है और ये भी मुख्यतः 'प्रतिध्वनि' (१९२६) और 'आकाश-दीप' (१९२९) में मिलती हैं। इन कहानियों के नाम हैं प्रलय, पत्थर की पुकार, गूदड़साईं, कला, वैरागी और ज्योतिष्मती। इनमें कथाकार अपनी बात को स्पष्टतया प्रतीक के आधार पर कहता है। 'प्रलय' कहानी में 'कामायनी' (१९३६) के बीज मिल जाते हैं। शैवागमों के शिव-शक्ति के प्रलयांतर्गत समागम को ही प्रतीक रूप में उपस्थित किया गया है। यह प्रसाद की पहली कलात्मक कहानी है। 'पत्थर की पुकार' में साहित्य और कला की कुछ मूल समस्यायें उठाई गई हैं। विमल कहता है—"अतीत और करुणा का जो अंश साहित्य में हो वह मेरे हृदय को आकर्षित करता है।"

नवल कहता है—"इससे विशेष और हम भारतीयों के पास धरा क्या है?—स्तुत्य अतीत की घोषणा और वर्तमान की करुणा, हँसी का गान हमें आता है। बस यह भी एक भाँग-गाँजे की तरह नशा है।"

कहानी के अंत में प्रसाद अतीतजीवी कलाकार के दृष्टिकोण से ऊपर उठ कर सार्वभौमिक मानवता का संदेश देते हैं। शिल्पी कहता है—"आप लोग अमीर आदमी हैं। अपने कोमल श्रवणे-न्द्रियों से पत्थर का रोना, लहरों का संगीत, पवन की हँसी इत्यादि

कितनी सूक्ष्म बातें सुन लेते हैं और उसकी पुकार में दत्तचित्त हो जाते हैं। करुणा से पुलकित होते हैं। किन्तु क्या कभी दुखी हृदय के नीरव क्रन्दन को भी अंतरात्मा के श्रवणेन्द्रियों को सुनने देते हैं, जो करुणा का काल्पनिक नहीं किन्तु वास्तविक रूप है?" 'गूदड़-साईं" का अद्वैतभाव रामभक्त का रूपक है जो बालकों में परमात्मा के दर्शन करता है। 'कला' में कला के दो पक्षों—रूप और रस—की विवेचना है। रसमयी भावुकता का नाम ही कला है। उसी में उच्चतम संगीत प्रगट होता है। कला के बाहरी उपकरण उसके रूप को सजाते हैं, रस कला की आत्मा का पोषण करता है। 'वैरागी' कहानी की युवती सच्चे त्याग की प्रतीक है और 'ज्योतिष्मती' में सच्चे प्रेमभाव की व्याख्या है। प्रेम हमें नई दृष्टि प्रदान करता है परन्तु यह दृष्टि निश्छल प्रेम से ही आ सकती है। वासना के स्पर्श से ही प्रेम की ज्योतिष्मती लता मुरझा जाती है। 'प्रलय' और 'कला' को छोड़ कर ये प्रतीकात्मक कहानियाँ अधिक उत्कृष्ट नहीं हैं। वास्तव में इस प्रकार की कहानियों का क्षेत्र अत्यंत सीमित है। संसार के साहित्य में ही इस तरह की कहानियाँ बहुत थोड़ी हैं।

(छ) मनोवैज्ञानिक या चरित्र-प्रधान कहानियाँ—प्रसाद की कहानियों में मनोवैज्ञानिक या चरित्र-प्रधान कहानियाँ अधिक नहीं हैं। 'आँधी' और 'मधुआ' को ही हम इस श्रेणी में रख सकते हैं। प्रसाद की अधिकांश कहानियाँ काव्यमय और भाव-प्रधान या घटना-प्रधान हैं। चरित्र-प्रधान कहानियों की ओर उसका ध्यान अधिक नहीं गया। हिंदी साहित्य में सबसे अधिक चरित्र-प्रधान कहानियाँ प्रेमचंद ने ही लिखी हैं। आधुनिक समीक्षक चरित्र-प्रधान कहानी या मनोवैज्ञानिक कहानी को ही सर्वश्रेष्ठ कहानी मानते हैं, परन्तु मनोविज्ञान प्रसाद का शक्तिशाली अंग नहीं है।

(ज) आदर्शवादी कहानियाँ—इनकी सख्या भी अधिक नहीं

है। 'आँधी' और 'इन्द्रजाल' में इस कोटि की पाँच कहानियाँ मिलती हैं। ये हैं विजया, व्रतभंग, अमिट स्मृति, नीरा और अनबोला। इन कहानियों में जीवन की किसी-न-किसी आदर्श स्थिति की कल्पना मिलेगी, परन्तु कला के दृष्टिकोण से ये आदर्शवादी कहानियाँ भी स्वच्छंदतावादी (रोमांटिक) कहानियों के अंतर्गत आती हैं। आलोचकों ने आदर्शवादी कहानियों की अत्यंत व्यापक व्याख्या की है और स्वच्छंदतावादी प्रेम-रोमांस की कहानियाँ भी आदर्शवादी कहानियों के भीतर ले ली हैं। हम चाहें तो एक श्रेणी के रूप में इन कहानियों का अलग से अध्ययन भी कर सकते हैं।

(झ) समसामयिक कहानियाँ—प्रसाद प्रेमचन्द की भाँति समसामयिक जीवन के कलाकार नहीं हैं। केवल 'विरामचिह्न' या 'सलीम' ही ऐसी दो कहानियाँ हैं जिनमें सामयिक जीवन का कोई चित्र मिलता है। इनमें सलीम तो प्रेम-रोमांस ही अधिक है। 'विरामचिह्न' महात्मा गांधी के १६३२ ई० के हरिजन-आन्दोलन से प्रभावित है। इस आन्दोलन ने प्रेमचन्द, शरतचन्द्र और रवीन्द्रनाथ ठाकुर तीनों महान कलाकारों को प्रभावित किया, परन्तु कविता के क्षेत्र में रविठाकुर और कहानी के क्षेत्र में प्रेमचन्द ने ही इस आन्दोलन से संबंधित सामग्री हमें दी। प्रसाद की एक ही कहानी—विरामचिह्न—मन्दिर-प्रवेश आन्दोलन का चित्र हमारे सामने उपस्थित करती है।

(ञ) प्रागैतिहासिक कहानियाँ—प्रागैतिहासिक जीवन की केवल एक कहानी 'चित्रमन्दिर' नाम से हमें मिलती है।

जयशंकर प्रसाद की ७१ कहानियों का यह वर्गीकरण है। यह स्पष्ट है कि प्रसाद की अधिकांश कहानियाँ प्रेम-रोमांस, इतिहास, रहस्यवाद, प्रतीकवाद और स्वच्छन्दतावादी आदर्शवाद से संबंधित हैं। ऐसी कहानियों में भाषा की चित्रमयता और कल्पना के काव्यमय

उत्कर्ष के लिए काफ़ी स्थान रहता है। प्रसाद मूलतः कवि और भावुक हैं। मनोविज्ञान और चारित्रिक उथल-पुथल की उनकी पकड़ उतनी अच्छी नहीं है। इसी से वे जीवन की भावुक परिस्थितियों के सफल चित्रकार हैं, द्वन्द्वात्मक स्थिति के सामने उनकी प्रतिभा मौन हो जाती है। यही कारण है कि यथार्थवादी और मनोवैज्ञानिक कहानियों की संख्या अधिक नहीं है और ये कहानियाँ भी मुख्यतः स्वच्छन्दतावादी भंगिमाओं पर आश्रित हैं। कंजरों, अफ़रीदियों, पठानों, धीवरों, गूजरों और देवमन्दिरों से संबंधित कहानियों को हम यथार्थवादी कहानियाँ नहीं कह सकते। ये विशेष जीवन के चित्र चाहे जितने भी सूक्ष्म बन पड़े हों, वे सामान्य जीवन के चित्रों का स्थान नहीं ले सकते। सामान्य जीवन से भाग कर ही कलाकार जीवन के उपेक्षित, सुदूर और नगण्य क्षेत्रों में प्रवेश करता है।

ऊपर के विश्लेषण से जयशंकर प्रसाद की कहानी-कला को मूल भित्ति प्रकाश में आ सकेगी, इसमें संदेह नहीं। कहानी के क्षेत्र में प्रसाद छोटे थे या बड़े थे, यह हमें कहना नहीं है। हमें उनकी कला के आदि स्रोत को खोज निकालना है और यह निश्चित करना है कि हिंदी कथा-साहित्य में उन्होंने किस प्रकार का और कितना योग दिया। एक प्रश्न आदर्शवाद और यथार्थवाद को लेकर भी उठाया जा सकता है।

यथार्थवाद और आदर्शवाद वस्तुतः कलाकार के व्यक्तिगत दृष्टिकोण का प्रश्न है। क्या वह फ़ोटोग्राफ़र की तरह व्यक्ति और समाज में जो जैसा है वैसा चित्रित कर दे या जैसा संभाव्य है वैसा? वह यथार्थवादी हो या आदर्शवादी? प्रेमचन्द ने इस प्रश्न पर व्यापक रूप से विचार किया है। दोनों दृष्टिकोण की तुलना करते हुए वे कहते हैं— "यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है। लेकिन जहाँ आदर्शवाद में यह गुण है, वहाँ इस बात की भी शंका है कि हम ऐसे

चरित्रों को चित्रित न कर बैठें जो सिद्धांतों की मूर्ति मात्र हों—जिनमें जीवन न हो।

वास्तव में कला के सत्य की पूर्ति न केवल यथार्थवाद से होती है, न आदर्शवाद से। केवल यथार्थवाद को साहित्य समझनेवाले नग्नता को साहित्य समझ लेते हैं। इसीलिए प्रेमचन्द ने कहा है—"यथार्थवाद स्तुत्य है, परन्तु नग्न यथार्थवाद घृणित है।" श्रेष्ठ साहित्य में आदर्शवाद और यथार्थवाद का लोकमंगलकारी गठबंधन शर्त है। "अमंगल यथार्थ अग्राह्य है, मंगलमय यथार्थ संग्रहणीय है, यदि वह अपवाद-रूप भी हो।" "साहित्य उस मानव-मन की संतुष्टि है जो अपने चारों ओर के छल, क्षुद्रता और कपट से ऊपर उठ कर ऐसे लोक में पहुँचना चाहता है जहाँ उसे इनसे छुटकारा मिले। इतना होने पर वह यथार्थ को नहीं छोड़ सकता। वह यथार्थ के इतने निकट है कि उसकी रचनाओं से यथार्थ का ही भ्रम होता है।" साहित्य का मुख्य उद्देश्य आनन्द ही है परन्तु उस आनन्द के साथ लगभग उतनी ही महत्ता की चीज़ है उपयोगिता। प्रेमचन्द स्वतः साहित्य को प्रचार (समाज-सुधार इत्यादि) का साधन बनाते हैं। साहित्य का कोई विषय तो होगा ही। फिर वह उसमें प्रगतिशील दृष्टिकोण क्यों न रखे, परिस्थिति का आनन्द ही लेकर क्यों रह जाये, क्यों ऊपर उठने की चेष्टा न करे? ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जायेगा कि प्रेमचन्द को नग्न यथार्थवाद और निरर्थक (आनन्दवादी) यथार्थवाद से चिढ़ थी। वह यथार्थवाद भी उन्हें मान्य नहीं था जो हमें हतोत्साह करे, या हमको विषमय बना दे। वह यथार्थवाद को पूर्ण परन्तु संयत रूप से ग्रहण करने और उस पर आदर्शवाद की छाप छोड़ने के पक्षपाती थे। वह लिखते हैं—"यथार्थवादी अनुभव की बेड़ियों से जकड़ा होता है और चूँकि संसार में बुरे चरित्रों की ही प्रधानता है—यहाँ तक कि उज्ज्वल से उज्ज्वल चरित्र में भी कुछ न कुछ दाग़-धब्बे होते ही हैं— इसलिए यथार्थ हमारी दुर्बलताओं और

हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमें निराशावादी बना देता है। मानव-चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों ओर बुराई ही बुराई नज़र आने लगती है।" प्रेमचन्द ने अपने लिए एक बीच का मार्ग निकाला था। इसे वह 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कहते थे। इसका यह अर्थ है कि वे समस्याओं और व्यक्तियों की पतनोन्मुख प्रवृत्तियों के चित्रण में यथार्थवादी थे, यद्यपि सुरुचि का वे सदा ध्यान रखते थे। परन्तु वह प्रत्येक समस्या का हल समझौते में ढूँढ लेते थे। परिस्थितियों पर मनुष्य की विजय वे इसी तरह घोषित करते हैं और उनके पात्रों की सद्प्रवृत्तियाँ उनकी कुप्रवृत्तियों को परास्त कर देती हैं। प्रेमचन्द के व्यक्तित्व में यथार्थ और आदर्श का संघर्ष संगम के रूप में प्रस्फुटित हुआ है। फलस्वरूप उनकी रचनाओं का पूर्वांग यथार्थवाद से प्रभावित है, उत्तरांग आदर्शवाद से प्रेरित है। सभी बड़े उपन्यासों में यह बात दिखलाई देगी। उनकी आधारवस्तु अत्यन्त ठोस है, उनके निजी अनुभव गहरे और तीव्र पर्यवेक्षण की उपज हैं। परन्तु उस आधारवस्तु को ज्यों का त्यों रखकर प्रेमचन्द स्वयं उपस्थित हो जाते हैं और सूत्र को वे अपनी आदर्शवादी प्रकृति के हाथ में दे देते हैं। यही उनकी सीमा है। वे मनुष्य की कमज़ोरियाँ दिखाते हैं और ख़ूब दिखाते हैं और कहीं-कहीं पात्र उन कमज़ोरियों के ही शिकार हैं, जैसे 'प्रेमाश्रम' का ज्ञानशंकर और गोदान का होरी। परंतु वे अधिकतः उन कमज़ोरियों की आँच में तप कर देवता बन कर निकलते हैं। अमरकांत, विनय, सूरदास आदि कितने ही प्रमुख पात्रों की यही परिस्थिति है।

वास्तव में यथार्थवाद और आदर्शवाद का संघर्ष सत्यं और शिवं के संघर्ष का ही एक रूपमात्र है। कलाकार यदि सचमुच कलाविद् है तो वह सुन्दर तो देगा ही, सत्यं को वह कितना दे और उसमें शिवं की भावना से कहाँ तक संचालित हो, यह प्रश्न तो रह ही जाता है।

साहित्यकारों और समीक्षकों का एक वर्ग कहता है—हमें शिवं (उपयोगितावाद या लोककल्याण) की क्या आवश्यकता? हम तो सुन्दर के उपासक हैं। दूसरा वर्ग साहित्य और कला को उपयोगितावाद की तुला पर तौलना चाहता है। परन्तु यह उपयोगिता ठीक रुपया-आना-पाई में आँकी जा सकती हो, ऐसी बात नहीं। वह उपयोगिता है सौन्दर्यवृत्ति की पुष्टि, बंधुत्व और समता का भाव अथवा सहृदयता का विकास एवं मानसिक तथा बौद्धिक विकास। इसीलिए कलाकार को जीवन-संग्राम में सौन्दर्य देखना है। उसका काम है त्याग, श्रद्धा, कष्ट, सहिष्णुता की महिमा; आदर्शवाद, साहस, कठिनाई से मिलने की इच्छा और आत्मत्याग का शंखबजाना। इसीलिए प्रेमचंद ने कहा है—"साहित्य का आधार जीवन है। इसी नींव पर साहित्य की दीवारें खड़ी होती हैं। उसकी अट्टारियाँ, मीनार और गुम्बद बनते हैं। लेकिन बुनियाद मिट्टी के नीचे दबी पड़ी है। उसे देखने को जी भी न चाहेगा। जीवन परमात्मा की सृष्टि है, इसलिए अनन्त है, अबोध है, अगम्य है। साहित्य मनुष्य की सृष्टि है; इसलिये सुबोध है, सुगम है और मर्यादाओं से परिचित है। जीवन परमात्मा को अपने कार्यों का जवाबदेह है; इसके लिए क़ानून है, जिनसे वह इधर-उधर नहीं हो सकता।" सच तो यह है कि सभी महान् कलाकार लोककल्याण की भावना से क़लम चलाते हैं। उनके लिए साहित्य विलास नहीं है, वह एक महान अस्त्र है जिसके द्वारा वह पीड़ित मानवता को दुःखों से मुक्त करते हैं और उसे आशा और प्रकाश का उपदेश देते हैं। केवल कला, विलास और कल्पना के ताजमहल भले ही लोगों को लुभा लें उनमें साहित्य का शव ही सुरक्षित रहता है, जीवित-स्पंदित साहित्य को कल्पना के ताजमहल नहीं चाहिये। वह तो सामान्य मनुष्य के प्रतिदिन के जीवन में ही सुन्दर और शिव की खोज कर

लेता है। इस प्रकार महान् कलाकारों की रचनाओं में यथार्थ और आदर्श का संघर्ष स्वतः हल हो जाता है।

प्रेमचंद की रचनाओं को ही लीजिये। प्रेमचंद हमारे सामयिक जीवन के सबसे बड़े कलाकार हैं। उन्होंने यथार्थवादी की पैनी दृष्टि से देश की हलचलों, समस्याओं और व्यक्तिगत जीवनों को पकड़ा है। परन्तु वह केवल यथार्थ चित्रण ही करके नहीं रुक गये। उन्होंने कहीं भी कोई ऐसी बात नहीं लिखी जो पराजय, निराशा और आत्म-प्रताड़न की भावनाओं को उत्तेजित करे। उनके पात्र भारत की आदर्शवादी और लोकमंगलकारी परम्परा को ही आगे बढ़ाते हैं। महान् संघर्ष के बाद शांति, देह का नाश परन्तु आत्मा का अभिषेक। सद्प्रवृत्तियों की पराजय कहीं भी नहीं। प्रकाश चाहे क्षण भर अंधकार से ढक जाये परन्तु अंत में उसकी जय निश्चित है। इसी आदर्शवाद के कारण परिस्करण या सुधार का भाव भी सर्वत्र विराजमान है। इस प्रकार उनकी रचनाओं में यथार्थवाद और आदर्शवाद का बहुत सुन्दर सम्मिश्रण मिलेगा। तुलसीदास के रामचरितमानस को भी लिया जा सकता है। क्या इस रचना में आध्यात्मिक जीवन के लिए आदर्श की स्थापना-मात्र हुई है? क्या समसामयिक और परवर्ती जीवन के लिए उसमें कोई भी सन्देश नहीं है? क्या अन्य महान् कलाकारों की भाँति तुलसी पृथ्वी और आकाश, मृत्य और अमृत्य को एक साथ ही नहीं छू लेते?—और प्रेमचंद और तुलसीदास को ही क्यों लो, किसी भी सद्साहित्यकार को लो, आदर्श और यथार्थ के संबंध में यही समन्वय मिलेगा। छोटे कलाकारों के साहित्य में जहाँ संघर्ष के बीज मिलते हैं, वहाँ महान् कलाकारों के साहित्य में समन्वय के आधार पर कला का ताजमहल खड़ा होता है।

प्रसाद के कथा-साहित्य में आदर्श और यथार्थ की भंगिमाएँ अलग-अलग मिलती हैं। 'तितली' आदर्शवादी रचना है, तो

'कंकाल' ठोस यथार्थवादी। कहानियों के वर्गीकरण से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है। उनकी यथार्थवादी और आदर्शवादी कहानियाँ अलग-अलग हैं। दोनों कोटियों की कहानियाँ संख्या में अधिक नहीं हैं। उनके प्रौढ़तम कहानी-संग्रहों-आँधी (१९३१) और इंद्रजाल (१९३६) में दोनों प्रकार की कहानियाँ मिलेंगी। जान पड़ता है जीवन के अंतिम दिनों में प्रेमचंद की भाँति वे भी यथार्थवाद की ओर बढ़ रहे थे। उनकी अधिकांश कहानियाँ स्वच्छंदतावाद या छायावाद के अंतर्गत आती हैं। अतः जयशंकर प्रसाद की रचनाओं में आदर्श और यथार्थ के संघर्ष की समस्या इतनी महत्वपूर्ण नहीं है जितनी आदर्श और रोमांस (छायावाद) के संतुलन की। अपने एक निबंध 'यथार्थवाद और आदर्शवाद' में उन्होंने इस समस्या पर प्रकाश डाला है। प्रसाद आदर्शवाद को यथार्थवाद का विरोधी मानते हैं, परंतु रहस्यवाद और छायावाद से यथार्थवाद का कोई विरोध नहीं है। वे भारतीय साहित्य को मूलतः आदर्शवादी साहित्य मानते हैं। उनका कहना है कि यथार्थवाद का आरंभ भारतेन्दु हरिश्चंद्र से होता है और आधुनिक साहित्य का वह महत्वपूर्ण अंग है। प्रसादजी के अनुसार यथार्थवादी साहित्य में उपेक्षितों के प्रति सहानुभूति, व्यक्तिगत जीवन के सुख-दुख, मनोवैज्ञानिक चित्रण, सामाजिक रूढ़ियों के प्रति आक्रोश, स्त्रियों के प्रति नारीत्व के दृष्टिकोण और राष्ट्रीय भावना की प्रधानता रहती है। यथार्थवाद की ऐतिहासिक रूपरेखा उपस्थित करते हुए वे कहते हैं—'प्रेम-योगिनी हिंदी में इस ढंग का पहला प्रयास है। और देखी तुमरी कासी वाली कविता को भी मैं इसी श्रेणी की समझता हूँ। प्रतीक-विधान चाहे दुर्बल रहा हो, परंतु जीवन की अभिव्यक्ति का प्रयत्न हिंदी में उसी समय प्रारंभ हुआ था। वेदना और यथार्थवाद का स्वरूप धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगा। अव्यवस्था-वाले युग में देव-व्याज से मानवीय भाव का वर्णन करने की जो परंपरा थी, उससे भिन्न

सीधे-सीधे मनुष्य के अभाव और उसकी परिस्थिति का चित्रण भी हिंदी में उसी समय आरंभ हुआ। राधिका कन्हाई-सुमिरन को बहानो है वाला सिद्धांत कुछ निर्बल हो चला। इसी का फल है कि पिछले काल में सुधारक कृष्ण, राधा और रामचंद्र का चित्रण वर्तमान युग के अनुकूल हुआ। यद्यपि हिंदी में पौराणिक युग की भी पुनरावृत्ति हुई और साहित्य की समृद्धि के लिए उत्सुक लेखकों ने नवीन आदर्शों से भी उसे सजाना आरंभ किया, किंतु श्री हरिश्चंद्र का आरंभ किया हुआ यथार्थवाद भी पल्लवित होता रहा।' इस यथार्थवाद का विश्लेषण प्रसाद के अनुसार इस प्रकार है :

(१) जीवन के यथार्थ रूप का चित्रण।

(२) लघु और उपेक्षित जीवों और वस्तुओं के प्रति सहानुभूति।

(३) दुःख और वेदना की अनुभूति।

(४) व्यक्तिगत जीवन के दुःखों और अभावों का वास्तविक उल्लेख।

(५) संकीर्ण संस्कारों के प्रति विद्रोह।

(६) मनुष्य की दुर्बलताओं का सहानुभूतिपूर्ण चित्रण।

(७) व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक अवस्था और सामाजिक रूढ़ियों की परख।

(८) स्त्रियों के संबंध में नारीत्व की दृष्टि।

प्रसाद की यथार्थवादी करुणामूलक कहानियों की शक्ति को पूर्णतयः समझने के लिए इन सूत्रों का समझ लेना आवश्यक है। उनकी अनेक कहानियों के बीज इन्हीं सूत्रों में मिलेंगे। अनेक स्थलों पर उन्होंने इन सूत्रों की व्याख्या भी की है। वे कहते हैं—"यथार्थ-वाद की विशेषताओं में प्रधान हैं लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात। उसमें स्वभावतः दुःख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है। लघुता से मेरा तात्पर्य है साहित्य में माने हुए सिद्धांत के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण के अतिरिक्त

जीवन के दुःखों और अभावों का वास्तविक उल्लेख।" एक दूसरे स्थान पर वे लिखते हैं—"जाति के जो धार्मिक और साम्प्रदायिक परिवर्तनों के स्तर आवरण-स्वरूप बन जाते हैं, उन्हें हटा कर अपनी प्राचीन वास्तविकता को खोजने की चेष्टा भी साहित्य में तथ्यवाद की सहायता करती है। फलतः आरंभिक साहसिक और विचित्रता से भरी हुई आख्यायिकाओं के स्थान पर—जिनकी घटनाएँ राजकुमारों से ही संबद्ध होती हैं—मनुष्य के वास्तविक जीवन का साधारण चित्रण आरंभ होता है। व्यापक दुःख संवलित मानवता का स्पर्श करनेवाला साहित्य यथार्थवादी बन जाता है। इस यथार्थवादिता में अभाव, पतन और वेदना के अंकुर प्रचुरता से होते हैं।" "यथार्थवाद में यह भी माना जाता है कि मनुष्य में दुर्बलताएँ होती हैं और वास्तविक चित्रों में पतन का भी उल्लेख आवश्यक है। और फिर पतन के मुख्य कारण क्षुद्रता और निंदनीयता भी—जो सामाजिक रूढ़ियों द्वारा निर्धारित रहती हैं—अपनी सत्ता बना कर इसके रूप में अवतरित होते हैं। वास्तव में कर्म, जिनके संबंध में देश, काल और पात्र के अनुसार यह कहा जा सकता है कि संपूर्ण रूप से न तो भले हैं और न बुरे हैं, कभी समाज के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं कभी त्याज्य होते हैं। दुरुपयोग से मानवता के प्रतिकूल होने पर अपराध कहे जानेवाले कर्मों से जिस युग के लेखक समझौता करने का प्रयत्न करते हैं, वे ऐसे कर्मों के प्रति सहानुभूति प्रगट करते हैं। व्यक्ति की दुर्बलता के कारण की खोज में व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक अवस्था और सामाजिक रूढ़ियों को पकड़ा जाता है। और इस विषमता को ढूँढ़ने पर वेदना ही प्रमुख होकर सामने आती है। साहित्यिक न्याय की व्यावहारिकता में वह संदिग्ध होता है। तथ्यवादी पतन और स्खलन का मूल्य भी जानता है और वह मूल्य है स्त्री नारी है और पुरुष नर है, इनका परस्पर केवल यही संबंध है।" अंत में—"वेदना से प्रेरित

होकर जन-साधारण के अभाव और वास्तविक स्थिति तक पहुँचने का प्रयत्न यथार्थवादी साहित्य करता है।" काव्य में जो वेदनावाद है, वही प्रसाद के अनुसार गद्य-साहित्य में यथार्थवाद है। अपनी कितनी ही कहानियों और 'कंकाल' में उन्होंने इसी पहलू से यथार्थवाद को ग्रहण किया है। अपने साहित्य के इस अंग को उन्होंने विशेष महत्व भी दिया है और उसके क्रांतिकारी और प्रगतिशील तत्वों की ओर इशारा भी किया है। प्रेमचंद की तरह साहित्य का एक सर्वांगपूर्ण चित्र उनके मन में भी उठा है और उसी को लेकर उन्होंने आदर्शवाद और यथार्थवाद का समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने लिखा है—'साहित्यकार न तो इतिहासकर्ता है और न धर्मशास्त्र-प्रणेता। इन दोनों के कर्तव्य स्वतन्त्र हैं। साहित्य इन दोनों की कमी को पूरा करने का काम करता है। साहित्य समाज की वास्तविक स्थिति क्या है, इसको दिखाते हुए भी उसमें आदर्शवाद का सामंजस्य स्थिर करता है। दुःख-दग्ध जगत् और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है, इसीलिये असत्य प्रघटित घटना पर कल्पना की वाणी महत्वपूर्ण स्थान देती है। इनमें विश्वमंगल की भावना ओतप्रोत रहती है।, प्रेमचंद ने आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कहकर अपनी विचारधारा को एक सिद्धांत में बाँध दिया है। प्रसाद ने इस प्रकार के किसी सिद्धांत को ग्रहण नहीं किया। वे आदर्शवाद, रोमांस और यथार्थवाद की तीन अलग अलग धाराओं में अलग-अलग योग देते रहे। इसीलिए उनका साहित्य एकांगी नहीं है। उसमें दुःख-दग्ध इस जगत् और आन्दपूर्ण स्वर्ग का सचमुच ही एकीकरण मिल जाता है। उनके काव्य में रोमांस और छायावाद की ग्रंथि है। छायावाद को वह स्वानुभूति-मयी नई अभिव्यक्ति, भावों की सूक्ष्म व्यंजना का एक ढंग, एक नवीन शैली, एक नया वाक्य-विन्यास जिसमें सूक्ष्म अभिव्यक्ति का प्रयास हो और जो भाव में एक तड़प उत्पन्न कर दे अथवा आभ्यतंर वर्णन के लिए शब्दों की एक भंगिमा समझते हैं। गद्य में इस

शैली का प्रयोग अधिक नहीं हुआ है। वह विषय के अनुरूप नये-नये रूप धारण करता चलता है। यथार्थवादी काव्य भी उन्होंने लिखा है, परन्तु न वह अधिक है, न उतना महत्वपूर्ण है। यथार्थवादी काव्य के अंतर्गत वह सब काव्य आ जाता है जिसमें उपेक्षितों के प्रति सहानुभूति है, व्यक्तिगत जीवन के सुख-दुख का उल्लेख है। मनोवैज्ञानिक अवस्था या सामाजिक रूढ़ियों का चित्रण है। स्त्रियों के प्रति नारीत्व का दृष्टिकोण है, या राष्ट्रीय भावना है। ऐसा काव्य प्रसाद-साहित्य में अधिक नहीं है। उनका अधिकांश साहित्य उनकी 'छायावाद' व्याख्या के भीतर आ जाता है। वस्तुतः छायावाद को प्रसाद प्राचीन लाक्षणिक शैली का नया रूप ही मानते हैं। उनके अनुसार भारतीय साहित्य-धारा मूलतः आदर्शवादी है, यद्यपि भारतेन्दु हरिश्चंद्र के द्वारा उसमें यथार्थवादी धारा का भी समावेश हो गया। इसीलिए उनका अपना साहित्य अधिकतः यथार्थवादी है यद्यपि उसमें नयी यथार्थवादी धारा का भी पर्याप्त योग है।

परंतु यह सब तो साहित्यिक तर्क-वितर्क और विश्लेषण की बात है। प्रसाद के गद्य-साहित्य को देखने का एक दूसरा ढंग भी है और कदाचित् वही ढंग अधिक महत्वपूर्ण है। हमें उसके मूलतत्त्वों को आँकना होगा। उदाहरण के लिए प्रसाद के कथा-साहित्य में जो चीज़ सबसे महत्वपूर्ण है और जो साधारण पाठक की दृष्टि से छूट जाती है वह है उसकी भावुकता, उसकी काव्यमयता, उसका वाग्वैदग्ध्य, उसका पांडित्य, उसकी भाषा-शैली और भाव का संतुलन और उसका मनोवैज्ञानिक स्तर। प्रसाद के उपन्यास और उनकी कहानियाँ इन्हीं तत्त्वों के कारण महत्वपूर्ण हैं। हम बता चुके हैं कि अधिकांश कहानियों में कथानक सामान्य है। उपन्यासों में कथा की अनेक उलझनें हैं, अनेक बनावटें हैं, परंतु ऊपर के अनेक तत्व इतने सजीव ढंग से कथासूत्र और

कथा-वर्णन में ग्रथित कर दिये गये हैं कि आश्चर्य होता है। इन तत्त्वों के कारण प्रसाद के कथा-साहित्य का वैशिष्ट्य है। वह केवल कथाकार नहीं, कवि-कथाकार या भावनाओं के शिल्पकार मान लिये जायें तो अधिक ठीक है। उनका यही रूप उनके व्यक्तित्व के सब से निकट है। प्रसाद कहानी कहने के लिए कहानी नहीं लिखते। विशेष पात्रों के चित्रण के लिए वे उपन्यास नहीं लिखते। वे कवि की भाँति मानव-हृदय के घात-प्रतिघात और उसकी भावसम्पदा से मुग्ध होते रहते हैं। मनुष्य का हृदय उनका विषय है। नर-नारी के प्रणय-भाव को नाना तरंगों के आलोड़न-विलोड़न को कला का रूप देना उन्हीं का काम है। एक शब्द में, वह मानव-हृदय के कलाकार हैं। भाषा-शैली, कल्पना और कला की सारी शक्ति के साथ उन्होंने भिन्न-भिन्न कहानियों में तीन उपन्यासों में, और काव्य में एक ही मानव-हृदय की आनन्द और पीड़ा की कथा कही है।

ऊपर की विवेचना से जयशंकर प्रसाद के कथा-साहित्य के सम्बन्ध में एक विकसित अंतर्दृष्टि प्राप्त हो जाती है। प्रसाद प्रेमचंद की तरह न सामयिक जीवन के कलाकार हैं, न उनकी तरह सुधारवादी और उपयोगितावादी। वह साहित्य के अतिरिक्त और किसी ध्येय को लेकर नहीं चलते। यथार्थवादी साहित्य के साथ कुछ ध्येय लग ही जाता है, परन्तु कंकाल और कुछ कहानियों को छोड़ कर ऐसा साहित्य अधिक नहीं है। उनका अधिकांश कथा-साहित्य प्रतिदिन के जीवन से प्रेरित नहीं है, वह उनकी कल्पना की उपज है या जीवन पर कल्पना का रग इतना चढ़ गया है कि वह पहचाना नहीं जाता। उनकी अधिकांश प्रेम-कहानियाँ प्राचीन आख्यानक [illegible]दियों, प्रेमाख्यानक काव्यों और खंड-काव्यों की परम्परा का गद्य-रूप जान पड़ती हैं। वही काव्यात्मक चित्रपट, वही भावना का व्यापक संघर्ष, वही अतिरंजना। चाहे इस प्रकार की सबसे पहली

कहानी 'रसिया बालम' (१६३२, अप्रैल) का लो, या बाद की प्रौढ़ रचनाओं देवदासी, ग्रामगीत या बिसाती को, या फिर आकाश-दीप जैसी ऐतिहासिक कहानी को—सबमें यही विराट पृष्ठभूमि और काव्यात्मक अंतर्दृष्टि मिलेगी। इस प्रकार की कहानियों को हम रोमांटिक (स्वच्छन्दतावादी) या आदर्शवादी कहानियाँ कह सकते हैं। इन सब कहानियों में गद्य में सुन्दर प्रेम-काव्यों के दर्शन होते हैं। उर्दू-फ़ारसी, अंग्रेज़ी और संस्कृत साहित्य और लोकपरम्परा में चलती हुई प्रेम-कथाओं से न जाने कितनी सामग्री बटोर कर प्रसाद ने इन कहानियों को हिन्दी को दिया है, परन्तु इन कहानियों का भावोन्मेष उनका व्यक्तिगत भावोन्मेष है, इनकी भाषा-शैली की सजीवता और मधुमयता उनकी अपनी चीज़ है। ये प्रसाद की सब से सुन्दर कहानियाँ हैं।

प्रसाद कलाकार हैं—इसलिए कार्य-प्रधान कहानियाँ उन्होंने नहीं लिखी हैं। परन्तु कुछ बहुत सुन्दर कथानक-प्रधान कहानियाँ उन्होंने हिंदी को दी हैं। इस प्रकार की कहानियाँ साधारण श्रेणी की कहानियाँ मानी जाती हैं। ऐसी कहानियों में दैवघटना और संयोग का विशेष हाथ रहता है। चरित्र-चित्रण, वातावरण या परिपार्श्व पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता। इसी से केवल कहानी सम्बन्धी कुतूहल का विकास इस प्रकार की कहानियों में होता है। परन्तु कुछ कहानियों में घटना-वैचित्र्य के साथ वातावरण और चरित्र दोनों का सुन्दर सामंजस्य हो गया है। ऐसी कहानियों में वातावरण और चरित्र में कवित्व, आदर्शवाद और स्वच्छंदतावाद का सम्मिश्रण रहता है।

इन कहानियों से कुछ उठी कहानियाँ वातावरण-प्रधान कहानियाँ होती हैं। हम कह चुके हैं कि प्रसाद की अधिकांश कहानियाँ इसी कोटि की हैं। वे चरित्र-चित्रण से नहीं, वातावरण निर्माण से कहानी में प्राण डालते हैं। परन्तु यहाँ वातावरण को व्यापक अर्थों

में लिया गया है। केवल परिपार्श्व (Setting) ही तात्पर्य नहीं है। वातावरण-प्रधान कहानी में किसी एक मुख्य भावना को कथानक का आधार बनाया जाता है। सारी कहानी इसी भावना से अनुरंजित रहती है। जिस प्रकार कविता में किसी एक रस की प्रधानता रहती है और अन्य रस केवल आनुसंगिक रूप से आते हैं, उसी प्रकार वातावरण-प्रधान कहानी में एक ही भावना से कहानी ओतप्रोत रहती है। अन्य भावनायें इस प्रधान भावना के उन्मेष में सहायता देने मात्र के लिए अवतीर्ण होती हैं। चंडीप्रसाद 'हृदयेश' ने इस प्रकार की कहानियों का श्रीगणेश किया था। परन्तु ऐसी कहानियों का सब से अधिक उत्कर्ष प्रसाद की कहानियों में ही मिलता है। आकाशदीप, प्रतिध्वनि, बिसाती, स्वर्ग के खंडहर में, हिमालय का पथिक, समुद्र-संतरण—इत्यादि अनेक उच्च कोटि की वातावरण-प्रधान कहानियाँ प्रसाद-साहित्य की श्रेष्ठ निधि हैं। इन सब कहानियों में कवित्वपूर्ण वातावरण, विशुद्ध प्रेम, भावनाओं का संघर्ष और भाषा-शैली की प्रांजलता के दर्शन होते हैं। जहाँ प्राचीन इतिहास का स्वर्णिम परिपार्श्व मिल जाता है, वहाँ कहानी और भी उत्कृष्ट बन जाती है जैसे 'आकाशदीप'। इस कहानी में हम चम्पा और बुद्धगुप्त के चरित्रों को प्रधानता नहीं देते—वे तो गौण हैं। मुख्य बात है चम्पा का प्रेम और पिता की स्मृति का संघर्ष। वह बुद्धगुप्त को आत्मसमर्पण करना चाहती है—यह उसके सारे व्यक्तित्व की पुकार है, परन्तु बीच में पिता की हत्या की छाया आ जाती है और प्रेम कुंठित रह जाता है। भावनाओं का यह कलात्मक, काव्यप्राण संघर्ष प्रसाद की अपनी विशेषता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कुछ कहानियों को छोड़ कर यह अन्यत्र नहीं मिलेगा। ऐसी कहानियों में कवित्वपूर्ण भावनाओं को कवित्वपूर्ण वातावरण में चित्रित करना ही सबसे बड़ी सफलता है। चरित्र-चित्रण की माँग ही ग़लत है। कला की दृष्टि से भी इन कहानियों का बड़ा महत्व है। इनमें लेखक सचेतन

कलाकार के रूप में सामने आता है। एक-एक वाक्य कटा-छँटा, एक-एक शब्द तराशा हुआ। वातावरण का चित्रण और परिपार्श्व की कलापूर्ण अवतारणा इन कहानियों का महत्त्वपूर्ण अंग है। कवित्वपूर्ण वातावरण और संगीतमयी भाषाशैली प्रसाद की इस कोटि की कहानियों का प्राण है। 'स्वर्ग के खंडहर में' का यह चित्र किस कविता से कम है—

'वन्य कुसुमों की झालरें सुख-शीतल पवन से विकंपित होकर चारों ओर झूल रही थीं। छोटे-छोटे झरनों की कुल्याएँ कतराती हुई बह रही थीं। लता-वितानों से ढकी हुई प्राकृतिक गुफाएँ शिल्प-रचनापूर्ण सुन्दर प्रकोष्ठ बनातीं, जिसमें पागल कर देनेवाली सुगन्ध की लहरें नृत्य करती थीं। स्थान-स्थान पर कुंजों और पुष्प-शाखाओं का समारोह, छोटे-छोटे विश्रामगृह, पान-पात्रों में सुगन्धित मदिरा, भाँति-भाँति के सुस्वादु फल-फूलवाले वृक्षों के झुरमुट, दूध और मधु की नहरों के किनारे गुलाबी बादलों का क्षणिक विश्राम। चाँदनी का निभृत रंगमंच, पुलकित वृक्ष-फूलों पर मधुमक्खियों की भन्नाहट, रह-रह कर पक्षियों की हृदय में चुभनेवाली तान, मणिदीपों पर लटकती हुई मुकुलित मालायें।""किसकी आँखें यह सब देख कर भी नशे में न हो रहेंगी! यही तो स्वर्ग है!"

चरित्र-चित्रण-प्रधान कहानियाँ प्रसाद ने बहुत कम लिखी हैं। कदाचित् दो-चार, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वे चरित्रों की रूपरेखा नहीं उपस्थित कर सकते या उनमें आवश्यक रंग नहीं भर सकते। जहाँ कोई नया चरित्र उपस्थित हुआ है, वहाँ प्रसाद ने क़लम की एक-दो रेखाओं से ही उसे सजीव कर दिया है। 'भिखारिन' कहानी में—'उस बालिका की आँखों में एक अधूरी कहानी थी। रूखी लटों में सादी उलझन थी, और बरौनियों के अग्रभाग में संकल्प के जलबिन्दु लटक रहे थे, करुणा का दान होनेवाला था।'""सहसा बादल हट गये, उन्हीं अमल-धवल दाँतों की श्रेणी ने फिर याचना

की।' 'चूड़ीवाली'—'वह २५ वर्ष की एक गोरी छरहरी स्त्री थी। उसकी कलाई सचमुच चूड़ी पहनाने के लिए ढली थी। पान से लाल पतले-पतले ओंठ दो-तीन वक्रताओं में अपना रहस्य छिपाये हुए थे। उन्हें देखने का मन करता, देखने पर उन सलोने अधरों से कुछ बोलवाने का जी चाहता। बोलने पर हँसाने की इच्छा होती और उस हँसी में शैशव का अल्हड़पन, यौवन की तरावट और प्रौढ़ा की-सी गम्भीरता बिजली के समान लड़ जाती।' इस प्रकार के रेखाचित्र बराबर मिलेंगे। इन रेखाचित्रों से ही धीरे-धीरे पात्र का चरित्र बनाने में प्रसाद सफल कलाकार हैं। परन्तु इन रेखाओं से केवल वर्गगत पात्र ही अंकित हो सकते हैं, कुछ विशेषता उनमें अवश्य रहती है जिससे वे पहचाने जा सकते हैं। एकदम व्यक्तित्वनिष्ठ पात्र अधिक नहीं हैं।

प्रसाद की ऐतिहासिक कहानियों और उनके रूपकों पर हम पहले विचार कर चुके हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों की भाँति ऐतिहासिक कहानियाँ भी हिन्दी में बहुत कम हैं और जो हैं भी उनमें ऐतिहासिक तथ्य मात्र है। प्रसाद ने इतिहास और कला का इतना सुन्दर संगठन उपस्थित किया है कि हम उनकी प्रतिभा पर मोहित हो जाते हैं। रूपकों में 'कला' का उल्लेख पहले हो चुका है। कला का मूल बल है अंतः-सौन्दर्य। इसे रूपनाथ और रसदेव की प्रतिद्वन्द्विता से लेखक ने भली भाँति व्यंजित कर दिया है।

प्रसाद में जो नहीं उसे भी थोड़ा इंगित कर देना होगा। इससे उनके साहित्य की विशेषताओं और उनकी सीमाओं को हम समझ सकेंगे। चरित्र-प्रधान कहानियों के अतिरिक्त हास्य या चुहल की कहानियों का प्रसाद-साहित्य में अभाव है। 'उग्र' और चतुरसेन शास्त्री की तरह की प्राकृतवादी, नग्न यथार्थवादी कहानियाँ भी उन्होंने नहीं लिखीं। मनोविज्ञान की बड़ी-बड़ी उलझनें जो जैनेन्द्र की कहानियों में मिलती हैं प्रसाद के कथा-साहित्य में नहीं मिलतीं। मन की

छोटी-छोटी भंगिमाओं को उभारने की अज्ञेय-जैसी कला के दर्शन भी नहीं होते। उनकी कला चण्डीप्रसाद 'हृदयेश', सुदर्शन, राधिकारमण सिंह और गोविंदवल्लभ पन्त जैसे कलाकारों की कला के अधिक निकट है। ये सब लेखक भाषाशैली के अच्छे साधक हैं और इनकी रचनाओं में वातावरण-निर्माण, वर्णन और भावनापूर्ण स्थलों के निरूपण की कला बहुत अच्छी तरह विकसित हुई है। ये सभी जीवन को काव्य और रस के भीतर से देखते हैं और भावनाओं के घात-प्रतिघात को पकड़ने में कुशल हैं। इनका मुख्य विषय प्रेम ही है—चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' की प्रत्येक कहानी प्रेम की भावना के किसी न किसी विशेष पक्ष से अनुप्राणित है। सुदर्शन की कला में यथार्थवाद को भी भावना से पुष्ट करके उपस्थित किया गया है। उसमें विषय-वैभिन्नय भी अधिक है। परन्तु प्रसाद मुख्यतः प्रेम की भावना के विविध रूपों को ही कभी इतिहास, कभी लोककथा, कभी स्वानुभूति, कभी दूसरे के माध्यम से परखते हुए आगे बढ़ते हैं।

शैलियों की दृष्टि से भी विचार कर लें। अधिकांश कहानियाँ वर्णन-प्रधान हैं। वह अधिकतः साधारण वर्णनात्मक शैली का ही प्रयोग करते हैं। स्वयं लेखक ही कहानी कहता है। वातावरण-प्रधान कहानियों के लिए यह शैली सबसे उपयुक्त है। इसमें लेखक प्रकृति-वर्णन, पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण और उनके कथोपकथन के विकास में स्वतन्त्र रहता है। संलाप-शैली की कुछ छोटी कहानियाँ 'प्रतिध्वनि' (१९२६) में हैं, परन्तु वे महत्त्वपूर्ण नहीं। वातावरण-प्रधान कहानियों के संलाप में प्रसाद पूर्णतः सफल हुए हैं—परन्तु वह दूसरी बात है। आत्मचरित शैली या 'मैं'-शैली भी प्रसाद की कला पर पूरी उतरती है। 'आँधी' और 'इन्द्रजाल' की कुछ अत्यन्त सुन्दर कहानियों में इस शैली का भी उपयोग हुआ है। पत्र-शैली की केवल एक कहानी 'देवदासी' से हम परिचित हैं। यह प्रसाद की बड़ी सफल कहानी है। आत्मचरित्र-शैली से यह शैली अधिक भिन्न नहीं है।

संक्षेप में, प्रसाद की कहानी-कला की यह रूपरेखा है। यह स्पष्ट है कि प्रसाद की कहानी की अपनी सीमायें हैं और प्रेमचन्द, रवीन्द्रनाथ एवं शरत्चन्द्र की कला से उनकी कला भिन्न है। वे वातावरण-प्रधान रोमांसों और इतिहास की पृष्ठभूमि पर खड़े हुए कला-प्रासादों के निर्माण में ही अधिक सफल हुए हैं। फिर उनकी कहानियों में सब उच्चकोटि की नहीं हैं—कुछ तो अत्यन्त साधारण है। छाया (१६१२, १६) और प्रतिध्वनि (१६२६) की सारी कहानियाँ (केवल 'प्रलय' को छोड़कर) प्रसाद-साहित्य से सरलता से हटाई जा सकती हैं। 'आकाश-दीप' (१६२६) और आँधी (१६३१) की कुछ कहानियाँ भी इसी श्रेणी की हैं। परन्तु इन संग्रहों में कुछ अत्यन्त उत्कृष्ट कहानियाँ भी हैं। 'इन्द्रजाल' (१६२६) में हमें प्रसाद की कहानी-कला का प्रौढ़तम रूप मिलता है। सब ले-देकर दो दर्जन कहानियाँ फिर भी ऐसी बच जाती हैं जो किसी भी भाषा में अनूदित होकर लोकप्रिय हो सकती हैं। किसी भी कहानीकार से हम सब रचनाओं के समान रूप से अच्छा होने की आशा भी नहीं कर सकते।

५

भाषा-शैली

इसमें सन्देह नहीं कि प्रेमचन्द के बाद प्रसाद हमारे साहित्य के अब तक के सबसे बड़े कलाकार हैं। नाटक के क्षेत्र में तो उनकी देन सबसे बड़ी है ही। तीन उपन्यास और ६०–७० कहानियाँ अधिक निधि नहीं है, परन्तु जिस कला-गौरव और जिस वैदग्ध्य का पता इस छोटी-सी कथा-कहानी की दुनिया में मिलता है वह चमत्कृत करने में सर्वदा समर्थ है। प्रसाद की उपन्यास-कला एवं कहानी-कला के संबंध में हम पीछे विचार कर चुके हैं। इस सम्बन्ध में हमें अब और कुछ कहना नहीं है। यहाँ हमें यह देखना है कि उनकी कथा में भाषा-शैली के किन-किन तत्त्वों का समावेश हुआ है और इन तथ्यों ने उनके कथा-साहित्य पर क्या प्रभाव डाला है।

'छाया' (१९१२-२६) की कहानियों में हमें भाषाशैली का वह आकाशचुम्बी ताजमहल नहीं मिलता जो प्रसाद की प्रौढ़ कला का प्रतीक है। इस समय तक वह केवल प्रसादपूर्ण, सीधा-सादा गद्य लिखने में ही सफल हुए हैं। 'छाया' की कहानियों में भाषा-शैली की कुछ भी रंगीनी नहीं मिलेगी। कहीं-कहीं कुछ वर्णनात्मक चित्र अवश्य सामने आते हैं, परन्तु वे भी कल्पना और कला के हाथों से सँवारे नहीं गये हैं। इस संग्रह में प्रसाद की भाषा का सबसे अधिक निखार उन स्थलों पर है जहाँ वे प्रकृति का चित्रण करते हैं या किसी भाव-संकुल वातावरण का निर्माण करते हैं। वर्णन की काव्यात्मकता, सूक्ष्म अंतर्दृष्टि और भाषा-शैली का कलात्मक ऐश्वर्य उनकी ऐसी रचनाओं के विशेष गुण हैं। सन्ध्या का एक वर्णन देखिये —'सन्ध्या हो चली है। विहंग-कुल कोमल कलरव करते हुए अपने–

अपने नीड़ की ओर लौटने लगे हैं। अन्धकार अपना आगमन सूचित करता हुआ वृक्षों की ऊँची टहनियों के कोमल किसलयों को धुँधले रंग का बना रहा है। पर सूर्य की अंतिम किरणें अभी अपना स्थान नहीं छोड़ना चाहती हैं। वे हवा के झोंकों से हटाई जाने पर भी अंधकार के अधिकार का विरोध करती हुई सूर्यदेव की उँगलियों की तरह हिल रही हैं।

संध्या हो गई। कोकिल बोल उठा। एक सुन्दर कोमल-कंठ से निकली हुई रसीली तान ने उसे भी चुप कर दिया। मनोहर स्वरलहरी उसी सरोवर-तीर से उठ कर तट के सब वृक्षों को गुंजरित करने लगी। मधुर मलियानिल-ताड़ित जल-लहरी उस स्वर के ताल पर नाचने लगी। हर एक पत्ता ताल देने लगा। अद्‌भुत आनन्द का समावेश था। शांति का नैसर्गिक राज्य उस छोटी रमणीय भूमि में मानों जम कर बैठ गया था।' तानसेन। यह वर्णन लेखक का प्रारम्भिक प्रकृति-वर्णन है, परन्तु उनकी वर्णन-कला का पूर्वाभास इसमें पूर्णरूप से मिल जाता है। विलास और ऐश्वर्य का एक दूसरा चित्र लीजिये—'दीपमालाएँ आपस में कुछ हिल-मिल कर इंगित कर रही हैं, किन्तु मौन हैं। सज्जित मन्दिर में लगे हुए चित्र एकटक एक दूसरे को देख रहे हैं। शीतल समीर आता है, किन्तु धीरे से वातायन:पथ के पार हो जाता है। दो सजीव चित्रों को देख कर वह कुछ कह नहीं सकता। पर्यङ्क पर भाग्यशाली मस्तक उन्नत किए हुए चुपचाप बैठा हुआ युवक, स्वर्णपुत्तली की ओर देख रहा है जो कोने में निर्वात दीपशिखा की तरह प्रकोष्ठ को आलोकित किये है। नीरवता का सुन्दर दृश्य, भावविभोर होने का प्रत्यक्ष प्रमाण, स्पष्ट उस गृह में आलोकित हो रहा है।' चित्तौर-उद्धार परन्तु इस प्रकार के वर्णन अधिक नहीं हैं। 'छाया' की भाषा-शैली अधिक पुष्ट नहीं है। अभी कवि का किशोर-कंठ भी पूरा पूरा नहीं फूट पाया है। इसीलिये काव्य और कल्पना की पूरी छटा अभी नहीं मिलती। परंतु

उज्ज्वल भविष्य की सूचना तो है ही। कला की दृष्टि से 'छाया' की कहानियाँ बहुत ऊँची नहीं हैं, इसी प्रकार भाषा-शैली की दृष्टि से भी उनमें अभी अपनापन नहीं आ पाया है।

'छाया' के बाद 'प्रतिध्वनि' (१६२६) आती है। इस संग्रह में गद्यकाव्य का प्रयोग विशेष रूप से भरा हुआ है। काव्य की छटा अधिक नहीं है। परन्तु गद्यकाव्य काफ़ी है। जिस कारण से इस संग्रह में गद्यकाव्य का आधिक्य आ गया है, उस कारण पर प्रसंगगत विचार हम कर चुके हैं। गद्यकाव्य सांकेतिक काव्य है। इससे 'प्रतिध्वनि' की कुछ कहानियों की भाषा-शैली में सांकेतिकता काफ़ी मात्रा में मिलती है। सांकेतिकता की मात्रा अधिक होने के कारण भाषा-शैली में कला और काव्यमयता के लिए अधिक स्थान नहीं रह जाता। परन्तु सूक्ति के ढंग के अनेक सुगठित वाक्य हमें मिलते हैं। प्रसाद के साहित्य का एक बहुत बड़ा आकर्षण इस प्रकार के वाक्य हैं जैसे 'पाप का यह रूप, जब वह वासना को फाँस कर अपनी ओर मिला चुका होता है, बड़ा कोमल अथवा कठोर एवं भयानक होता है और तब पाप का मुख कितना सुन्दर होता है! सुन्दर ही नहीं, आकर्षक भी, वह भी कितना प्रलोभन-पूर्ण और कितना शक्तिशाली —जो अनुभव में नहीं आ सकता। उसमें विजय का दर्प भरा रहता है, वह अपने एक मृदु मुस्कान से सुदृढ़ विवेक की अवहेलना करता है।' पाप की पराजय इस प्रकार के विचारपूर्ण तथ्य प्रसाद के साहित्य में जहाँ-तहाँ गुंफित हैं।

प्रसाद की एक शैली ऐसी भी है जिसमें भावना की प्रधानता है। वह उनकी भावुक शैली है। घनश्याम अपनी मृत पत्नी का दाह-संस्कार कर रहा है। इस समय उसके मन में जो भाव उठते हैं उनका वर्णन प्रसाद ने इन शब्दों में किया है: 'थोड़ी देर पहले जब (नदी पर से मुक्त आकाश में एक बादल का टुकड़ा उठ आया था) चिता लग चुकी थी, घनश्याम आग लगाने को प्रस्तुत

था। उसकी स्त्री चिता पर अतीत निद्रा में निमग्न थी। निठुर हिन्दू शास्त्र की कठोर आज्ञा से जब वह विद्रोह करने लगा था, उसी समय घनश्याम को सान्त्वना हुई। उसने अचानक मूर्खता से अग्नि लगा दी। उसे ध्यान हुआ कि बादल बरस कर निर्दय चिता को बुझा देंगे। किन्तु व्यर्थ! चिता ठंडी होकर और भी ठहर-ठहर कर सुलगने लगी, क्षण भर में जल कर राख न होने पाई। घनश्याम ने हृदय में सोचा कि यदि हम मुसलमान या ईसाई होते तो? आह! फूलों से मिली हुई मुलायम मिट्टी में इसे सुला देते, सुन्दर समाधि बनाते, आजीवन प्रति संध्या को दीप जलाते, फूल चढ़ाते, कविता पढ़ते, रोते, आँसू बहाते, किसी तरह दिन बीत जाते। किंतु यहाँ कुछ भी नहीं। हत्यारा समाज! कठोर धर्म! कुत्सित व्यवस्था! इनसे क्या आशा? चिता जलने लगी।' **पाप की पराजय** इस शैली का विशेष विकास हमें बाद की रचनाओं में मिलता है।

इस शैली के अतिरिक्त 'प्रतिध्वनि' में उनकी सहज काव्यात्मक शैली का भी कुछ विकसित रूप दिखलाई पड़ जाता है, परन्तु जो हम पहले कह चुके हैं, संग्रह में काव्यात्मक स्थल अधिक नहीं हैं। 'पाप की पराजय' कहानी में ही एक ऐसा स्थल है जिसमें एक भिल्लिनी के सौन्दर्य का वर्णन कथाकार इस प्रकार करता है— "इंद्रनील की पुतली फूलों से सजी हुई झरने के उस पार पहाड़ी से उतर कर बैठी है। उसके सहज कुंचित केश से बन्द कुरुवक की कलियाँ कूद-कूद कर जल-लहरियों से क्रीड़ा कर रही हैं।" इत्यादि। प्रसाद के काव्य में नारी-सौन्दर्य के सैकड़ों अत्यंत उत्कृष्ट चित्र आ जाते हैं। यह उनमें से एक है। इन चित्रों में इतनी विविधता है कि उनकी एकरसता की ओर ध्यान ही नहीं जाता। परंतु कथा के लिए इस प्रकार के वर्णन आवश्यक नहीं हैं। कहानी की कला से उनका कोई संबंध नहीं। लेखक मूलतः कवि है, अतः इस प्रकार के अंशों के प्रति उसका आग्रह स्वाभाविक ही है।

'आकाशदीप' (१६२६) में हमें प्रसाद की भाषा-शैली अनेक दिशाओं में पुष्ट मिलती है। प्रसाद गुण, लाक्षणिकता, काव्यात्मकता, सांकेतिकता, लगभग सभी विशेषताएँ इस संग्रह की रचनाओं में मिलेंगी। 'छाया' और 'प्रतिध्वनि' में 'प्रलय' कहानी को छोड़ कर कोई ऐसी रचना नहीं है जो अमर साहित्य में स्थान पा सके। परंतु 'आकाशदीप' के संबंध में यही बात नहीं कही जा सकती। इस संग्रह की लोकप्रियता का कारण ही उसकी स्निग्ध और मधुमय भाषा-शैली है। प्रसाद का व्यक्तित्व इस संग्रह में पूर्णतयः प्रतिबिंबित हो सका है। यहाँ प्रकृति के अधिकांश चित्र संश्लिष्ट रूप में सामने आते हैं और मनोविज्ञान, भावना और प्रकृति की सुषमा का अत्यंत सूक्ष्म गठबंधन मिलता है। 'आकाशदीप' कहानी में बुद्धगुप्त के आत्मसमर्पण से जगी हुई चम्पा की भावना का चित्रण इस प्रकार है :

"आह चम्पा, तुम कितनी निर्दय हो! बुद्धगुप्त को आज्ञा देकर देखो तो, वह क्या नहीं कर सकता। जो तुम्हारे लिये नये द्वीप की सृष्टि कर सकता है, नई प्रजा खोज सकता है, नये राज्य बना सकता है, उसकी परीक्षा लेकर देखो तो....। कहो चम्पा! वह कृपाण से अपना हृदय-पिंड निकाल अपने हाथों अतल जल में विसर्जन कर दे!"—महानाविक—जिसके नाम से बाली, जावा और चम्पा का आकाश गूँजता था, पवन थर्राता था—घुटनों के बल चंपा के सामने छलछलाईं आँखों से बैठा था।

सामने शैलमाला की चोटी पर, हरियाली में विस्तृत जल-प्रदेश में, नील पिङ्गल संध्या, प्रकृति की सहृदय कल्पना, विश्राम की शीतल छाया, स्वप्नलोक का सृजन करने लगी। उस मोहिनी के रहस्यपूर्ण नीलजाल का कुहक स्फुट हो उठा। जैसे मदिरा से सारा अंतरिक्ष सिक्त हो गया। सृष्टि नील कमलों से भर उठी। उस सौरभ से पागल चंपा ने बुद्धगुप्त के दोनों हाथ पकड़ लिये। वहाँ एक आलिंगन

हुआ, जैसे क्षितिज में आकाश और सिन्धु का। किन्तु उस परिरम्भ में सहसा चैतन्य होकर चंपा ने अपनी कंचुकी से एक कृपाण निकाल लिया।

"बुद्धगुप्त! आज मैं अपना प्रतिशोध का कृपाण अतल जल में डुबा देती हूँ। हृदय ने छल किया, बार-बार धोखा दिया!"—चमक कर वह कृपाण समुद्र का हृदय बेधता हुआ विलीन हो गया।

"तो आज से मैं विश्वास करूँ? क्षमा कर दिया गया?"—आश्चर्य कंपित कंठ से महानाविक ने पूछा।

"विश्वास? कदापि नहीं, बुद्धगुप्त! जब मैं अपने हृदय पर विश्वास नहीं कर सकी, उसी ने धोखा दिया, तब मैं कैसे कहूँ! मैं तुमसे घृणा करती हूँ फिर भी तुम्हारे लिये मर सकती हूँ। अंधेर है जलदस्यु! मैं तुम्हें प्यार करती हूँ।"—चंपा रो पड़ी।

वह स्वप्नों की रंगीन संध्या, तम से अपनी आँखें बंद करने लगी थी। दीर्घ निःश्वास लेकर महानाविक ने कहा—"इस जीवन की पुण्यतम घड़ी की स्मृति में एक प्रकाशगृह बनवाऊँगा, चंपा! यहीं! उस पहाड़ी पर! संभव है कि मेरे जीवन की धुँधली संध्या उससे आलोकपूर्ण हो जाय।" हिंदी के सारे आधुनिक साहित्य में ऐसे भावना-प्रधान, उत्कृष्ट संश्लिष्ट चित्र बहुत कम मिलेंगे। भावनाओं का घात-प्रतिघात, प्रकृति का तद्रूप चित्रण और भाषा-शैली का माधुर्य, ओज और काव्यत्व प्रसाद की वर्णन-शैली को कला की श्रेष्ठ कृति बना देते हैं। इस क्षेत्र में उनसे होड़ करना भी कठिन है। इस शैली में छोटे-छोटे गद्यगीत माणिक्य की भाँति सजे हुए मिलते हैं। 'स्वर्ग के खंडहर में,' मीना गाती है—"वही स्वर्ग तो नरक है, जहाँ प्रियजन से विच्छेद है। वही रात प्रलय की है, जिसकी कालिमा में विरह का संयोग है। वह यौवन निष्फल है जिसका हृदयवान् उपासक नहीं। वह मदिरा हलाहल है, पाप है, जो छल

मधुर अधरों की उच्छिष्ट नहीं। वह प्रणय विषाक्त छुरी है, जिसमें कपट है। इसलिए हे जीवन, तू स्वप्न न देख, विस्मृति की निद्रा में सो जा! सुषुप्ति यदि आनन्द नहीं तो दुःखों का अभाव तो है। इस जागरण से—इस आकांक्षा और अभाव के जागरण से, वह निर्द्वन्द्व सोना कहीं अच्छा है, मेरे जीवन!" यह कविता नहीं, तो और क्या है?

बीच-बीच में सूक्ति-वाक्य भी टँके मिलते हैं और कभी-कभी तो इन सूक्ति-वाक्यों से चरित्र-चित्रण या कथानक-विकास का काम भी लिया जाता है। 'सुनहला साँप' कहानी में चन्द्रदेव की फ़िज़ूल-खर्ची का संकेत इन शब्दों में मिलता है—'किसी क्षुद्र हृदय के पास, उसके दुर्भाग्य से दैवी सम्पत्ति या विद्या, बल, धन और सौन्दर्य उसके सौभाग्य का अभिनय करते हुए प्रायः देखे जाते हैं, तब उन विभूतियों का दुरुपयोग अत्यन्त अरुचिकर दृश्य उपस्थित कर देता है। चन्द्रदेव का होटल-निवास भी वैसा ही था। राशि-राशि विडम्बनाएँ उसके चारों ओर घिरकर उसकी हँसी उड़ातीं, पर उनमें चन्द्रदेव को तो जीवन की सफलता ही दिखलाई देती।' 'प्रतिध्वनि' कहानी का आरम्भ ही इस वाक्य से होता है—'मनुष्य की चिता जल जाती है, और बुझ भी जाती है, परन्तु उसकी छाती की जलन, द्वेष की ज्वाला सम्भव है, उसके बाद भी धक-धक करती हुई जला करे।' सारी कहानी ही सूक्ति-वाक्य की व्याख्या है। इन सूक्ति-वाक्यों से प्रसाद ने अपने जीवन के अनेक कोमल तरल अनुभव भर दिये हैं जो वर्णनों और कथोपकथनों के बीच हीरों की तरह जगमगाते रहते हैं।

प्रकृति के चित्र तो एक दो नहीं, सैकड़ों मिलेंगे। कहीं वे स्वतंत्र चित्र-मात्र हैं, कहीं उनमें मानवीय भावनाओं का आरोप है, कहीं मानव-भावों के घात-प्रतिघात के लिए पृष्ठभूमि के रूप में उपस्थित

बसन्त का सुन्दर समीर उसे आलिंगन करके फूलों के सौरभ से उसके झोंपड़ों को भर देता है। तलहटी के हिम-शीतल झरने उसको अपने बाहु-पाश में जकड़े हुए हैं। उस रमणीय प्रदेश में एक स्निग्ध संगीत निरंतर चला करता है जिसके भीतर बुलबुलों का निनाद कंप और लहर उत्पन्न करता है। दाड़िम के लाल फूलों की रँगीली छाया संध्या की अरुण किरणों से चमकीली हो रही थी। शीरीं उसी के नीचे शिलाखंड पर बैठी हुई सामने गुलाबों की झुरमुट देख रही थी। जिसमें बहुत से बुलबुल चहचहा रहे थे। वे समीरण के साथ छूल-छूलैया खेलते हुए आकाश को अपने कलरव से गुंजरित कर रहे थे।—शीरीं ने सहसा अपना अवगुंठन उलट दिया। प्रकृति प्रसन्न हो हँस पड़ी। गुलाबों के दल में शीरीं का मुख राजा के समान सुशोभित था। मकरंद मुँह में भरे दो नील भ्रमर उस गुलाब से उड़ने में असमर्थ थे, भौंरों के पर निस्पंद थे। कटीली झाड़ियों की कुछ परवाह न करते हुए बुलबुलों का उनमें घुसना और उड़ भागना शीरीं तन्मय होकर देख रही थी।'

'आँधी' और 'इन्द्रजाल' में प्रसाद की भाषा-शैली प्रौढ़तम रूप में उपस्थित होती है। 'आकाशदीप' में उनकी भाषा-शैली में जो प्राथमिक उन्मेष दिखाई पड़ा था, उसका निरन्तर विकास होता गया और अन्त में भाषा शैली संगीत और काव्य के सारे तत्त्वों को समेट कर नक्षत्र की तरह झलमला उठी है। प्रकृति के बवंडर (आँधी) के बीच लैला की मरणोल्लास से भरी रागिनी का एक चित्र—'दूर से संगीत की—नन्हीं-नन्हीं करुण वेदना की तान सुनाई पड़ रही थी। उस भाषा को मैं नहीं समझता था। मैंने समझा, यह भी कोई छलना होगी। फिर सहसा मैं विचारने लगा कि नियति भयानक वेग से चल रही है। आँधी की तरह उसमें असंख्य प्राणी तृण-तूलिका के समान इधर-उधर बिखर गये हैं। कहीं से लाकर किसी को वह मिला ही देती है और ऊपर से कोई

बोझे की वस्तु भी लाद देती है कि वे चिरकाल तक एक दूसरे से संबद्ध रहें। सचमुच, कल्पना प्रत्यक्ष हो चली। दक्षिण का आकाश धूसर हो चला—एक दानव ताराओं को निगलने लगा। पक्षियों का कोलाहल बढ़ा। अन्तरिक्ष व्याकुल हो उठा। कड़कड़ाहट में सभी आश्रय खोजने लगे। किन्तु मैं कैसे उठता! वह संगीत की ध्वनि समीप आ रही थी। वज्र-निर्घोष को भेद कर कोई कलेजे से गा रहा था। अन्धकार के साम्राज्य में तृण, लता, वृक्ष सचराचर कंपित हो रहे थे।" जहाँ एक ओर हाहाकारभरा कठोर नियति-चित्र है, वहाँ दूसरी ओर व्रतभङ्ग कहानी की सद्य-विवाहित दम्पति की यह कोमल चुहल—'राधा के नवीन उपवन के सौध-मन्दिर में अगुरु, कस्तूरी और केशर की चहल-पहल, पुष्पमालाओं का दोनों सन्ध्या में नवीन आयोजन और दीपावली में वीणा, वन्शी और मृदंग की स्निग्ध गम्भीर ध्वनि बिखरती रहती। नन्दन अपने सुकोमल आसन पर लेटा हुआ राधा का अनिंद्य सौन्दर्य एकटक चुपचाप देखा करता। उस सुसज्जित प्रकोष्ठ में मणि-निर्मित दीपाधार की यन्त्र-मयी नर्तकी अपने नूपुरों की झंकार से नन्दन और राधा के लिये एक क्रीड़ा और कुतूहल का सृजन करती रहती। नन्दन कभी राधा के खिसकते हुए उत्तरीय को सँभाल देता। राधा हँसकर कहती—बड़ा कष्ट हुआ। नन्दन कहता—देखो, तुम अपने प्रसाधन ही में पसीने-पसीने हो जाती हो, तुम्हें विश्राम की आवश्यकता है। राधा गर्व से मुस्कुरा देती। कितना सुहाग था, उसका अपने सरल पति पर और कितना अभिमान था अपने विश्वास पर! एक सुखमय स्वप्न चल रहा था।' 'ग्रामगीत' में पगली रोहिणी के गीत से जो उन्माद वातावरण में बस जाता है, उसका इतना सजीव चित्रण देने में कौन समर्थ होगा?—'दूर से सुनाई पड़ा—

बरजोरी बसे हो नयनवाँ में!

उस स्वरलहरी में उन्मत्त वेदना थी। कलेजे में कचोटनेवाली

करुण\थी। मेरी हँसी सन्न हो गई। उस वेदना को खोजने के लिए गंगा के उस पार वृक्षों की श्यामलता को देखने लगा; परन्तु कोई न दिखाई पड़ा।

मैं चुप था, सहसा फिर सुनाई पड़ा।

अपने बाबा की बारी दुलारी,
खेलत रहली अँगनवाँ में,
बरजोरी बसे हो—

मैं स्थिर होकर सुनने लगा, जैसे कोई भूली हुई सुन्दर कहानी। मन में उत्कंठा थी, और एक कसक-भरा कुतूहल था। फिर सुनाई पड़ा—

ई कुल बतियाँ कबों नहिं जनली,
देख ली कबों न सपनवाँ में।
बरजोरी बसे हो—

मैं मूर्ख-सा उस गान का अर्थ-सम्बन्ध लगाने लगा। अँगने में खेलते हुए —ई कुल बतियाँ— वह कौन बात थी? उसे जानने के लिये हृदय चंचल बालक-सा मचल गया। प्रतीत होने लगा, उन्हीं कुल अज्ञात बातों के रहस्यजाल में मछली-सा मन चाँदनी के समुद्र में छटपटा रहा है।

'इन्द्रजाल' की कहानियों में तो पंक्ति-पंक्ति पर प्रसाद का घना काव्यपूर्ण व्यक्तित्व मधुरस उँडेलता चलता है। इसी नाम की कहानी में—'बेला साँवली थी। जैसे पावस की मेघमाला में छिपे हुए आलोक-पिंड का प्रकाश निखरने की अदम्य चेष्टा कर रहा हो, वैसे ही उसका यौवन सुगठित शरीर के भीतर उद्वेलित हो रहा था।' 'गोली जब बांसुरी बजाने लगता, तब बेला के साहित्यहीन गीत जैसे प्रेम के माधुर्य की व्याख्या करने लगते।' 'उस निर्जन प्रांत में जब अंधकार खुले आकाश के नीचे तारों से खेल रहा था, तब बेला बैठी हुई कुछ गुनगुना रही थी।' 'चित्रवाले पत्थर में' मुरली

मंगला से प्रथम भेंट की स्मृति जगा रहा है—'मेरे जीवन में उस दिन अनुभूतिमयी सरसता का संचार हुआ, मेरी छाती में कुसुमाकर की वनस्थली अंकुरित, पल्लवित, कुसुमित होकर सौरभ का प्रसार करने लगी। व्याह के निमंत्रण में मैंने देखा उसे, जिसे देखने के लिये ही मेरा जन्म हुआ था। वह थी मङ्गला की यौवनमयी उषा। सारा संसार उन कपोलों की अरुणिमा की गुलाबी छटा के नीचे मधुर विश्राम करने लगा। वह मादकता विलक्षण थी। मङ्गला के अङ्ग-कुसुम से मकरन्द छलका पड़ता था। मेरी धवल आँखें उसे देख कर ही गुलाबी होने लगीं।' 'सालवती' इन कहानियों की शीर्षमणि है। उसके भाषा-वैभव का तो कहना ही क्या ?

प्रसाद की कहानियों में वर्णन की कला विशेषरूप से विकसित हुई है, कथोपकपन का अधिक विकास उनमें नहीं हो पाया है। कथाकार वातावरण और हृदयों के घात-संघात में ही अटका रह गया है। जो कथोपकथन हैं भी, वे दार्शनिक या काव्यपूर्ण। कथानक को वे किसी भी प्रकार आगे नहीं बढ़ाते। परन्तु 'कंकाल' और 'तितली' में कथोपकथन पर भी लेखक को ध्यान देना पड़ा है। उपन्यास का क्षेत्र विस्तृत है और केवल वर्णन के सहारे जीवन को सार्वभौमिक सर्वांगपूर्ण चित्र उपस्थित करना सरल नहीं है। परन्तु इन उपन्यासों के वर्णन भी कम सुन्दर नहीं हैं। 'कंकाल' में प्रकृति के स्वतन्त्र चित्र कम मिलेंगे, परन्तु मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक वर्णन कम नहीं हैं। विजय के यौवन काल का वर्णन करता हुआ लेखक लिखता है—'विजय के वे दिन थे जिसे लोग जीवन का वसन्त कहते हैं, जब अधूरी और अशुद्ध पत्रिकाओं के टूटे-फूटे शब्दों के लिए हृदय में शब्दकोष प्रस्तुत रहता है, जो अपने साथ बाढ़ में बहुत-सी अच्छी वस्तु ले आता है और जो संसार को प्यारा देखने का चश्मा लगा देता है। शैशव से अभ्यस्त सौन्दर्य को खिलौना समझ कर तोड़ना ही नहीं वरंच उसमें हृदय देखने की चाट उत्पन्न करता है। जिसे यौवन

कहते हैं—शीतकाल के छोटे दिनों में घनी अमराई पर बिछलती हुई हरियाली से तर धूप के समान स्निग्ध यौवन। इसी समय मानव-जीवन में जिज्ञासा जगती है। स्नेह, समवेदना, सहानुभूति का ज्वार आता है।' एक दूसरा चित्र देखिये—'यमुना चुपचाप कुरैये की डाली के नीचे बैठी थी। बेग का सहारा लिये वह धूप से अपना मुख बचाये थी। किशोरी ने हठ कर उसे गुलेनार चादर ओढ़ा दी थी। पसीने से लग कर उस रंग ने यमुना के मुख पर अपने चिह्न बना दिये थे। वह बड़ी सुन्दर रंगसाजी थी। यद्यपि उसके भाव आँखों के नीचे की कालिमा में करुणा के रंग में छिप रहे थे, परन्तु इस समय विलक्षण आकर्षण उसके मुख पर था। सुन्दरता की होड़ लग जाने पर मानसिक गति दबाई न जा सकती थी। विजय उस सौन्दर्य से अपने को अलग न रख सका, वह पूजा छोड़ कर उसी के समीप एक शिलाखंड पर जा बैठा।' छोटे-छोटे भाव-खंडों को सजा कर कलापूर्ण रूप देना प्रसाद की कला का अन्यतम रूप है। प्रेम, विलास और उन्माद के मनोहारी चित्र देने में प्रसाद से होड़ करना कठिन है। 'स्मृति' का यह रूप कितना मादक है: 'उसे (यमुना को) अपने हरद्वार के दिन स्मरण हो आये। निरभ्र गगन में मचलती हुई चाँदनी—कानन की हरियाली में हरी-भरी चाँदनी। और स्मरण हो रही थी मंगल के प्रणय की पीयूष-वर्षिणि चन्द्रिका! एक ऐसी ही चाँदनी रात थी। जंगल से उस छोटी कोठरी में धवल मधुर आलोक फैल रहा था। तारा लेटी थी, उसकी लटें तकिए पर बिखर गई थीं, मंगल उस कुंतल-स्तवक को मुट्ठी में लेकर सूँघ रहा था। तृप्ति थी, किन्तु उस तृप्ति को स्थिर रखने के लिए लालच का अन्त न था। चाँदनी खिसकती जाती थी। चन्द्रमा उस शीतल आलिंगन को देख कर लज्जित होकर भाग रहा था। मकरन्द से लदा हुआ मारुत चन्द्रिका-चूर्ण के साथ सौरभ-राशि बिखेर देता था।' इस वर्णन का एक-एक शब्द भाव से जड़ा

हुआ है। काव्य का ऐसा सुन्दर उन्मेष प्रसाद के वर्णनों को गद्य-काव्य का रूप दे देता है।

'तितली' के वर्णन ग्रामीण जीवन और ग्रामीण प्रकृति के जगमगाते हुए हीरे हैं। उनमें जीवन का इतना रस उँडेला गया है कि वे कभी शुष्क नहीं होंगे। केवल इन कुछ चित्रों के लिए ही 'तितली' का साहित्यिक महत्त्व बना रहेगा। कथा के बीच-बीच में जीवन के ऐसे मनोरम अंगों को पकड़ लेना जिसमें मानव-प्रकृति से एकाकार हो गया हो! बनजरिया का एक दृश्य इस प्रकार है—'उजली धूप बनजरिया के चारों ओर, उसके छोटे-बड़े पौधों पर फिसल रही थी। अभी सबेरा था, शरीर में उस कोमल धूप की तीव्र अनुभूति करती हुई तितली, अपने गोभी के छोटे-से खेत के पास, सिरिस के नीचे, बैठी थी। झाड़ियों पर से ओस की बूँदें गिरने-गिरने हो रही थीं। समीर में शीतलता थी।

उसकी आँखों में विश्वास कुतूहल बना हुआ संसार का सुन्दर चित्र देख रहा था। किसी ने पुकारा—तितली! उसने घूम कर देखा; शैला अपनी रेशमी साड़ी का अंचल हाथ में लिये खड़ी है।

तितली की प्रसन्नता से चंचल हो उठी। वहीं खड़ी होकर उसने कहा—आओ बहन! देखो न! मेरी गोभी में फूल बैठने लगे हैं।

शैला हँसती हुई पास आकर देखने लगी। श्याम हरित पत्तों में नन्हें-नन्हें उजले-उजले फूल! उसने कहा—वाह! लो, तुम भी इसी तरह फूलो-फलो! एक दूसरे दृश्य में गंगा के स्वच्छन्द प्रवाह में यौवन और प्रेम को बन्धन-सूत्र बाँधते हुए—'गंगा की लहरियों पर मध्याह्न के सूर्य की किरणें नाच रही थीं। उन्हें अपने चंचल हाथों से अस्त-व्यस्त करती हुई, कमर भर जल में खड़ी, मलिया छींटें उड़ा रही थी। करारे के ऊपर मल्लाहों की छोटी-सी बस्ती थी। सात घर मल्लाहों के और तीन घर कहारों के थे। मलिया और रामदीन का घर भी वहीं था। दोपहर को छावनी से छुट्टी लेकर दोनों ही

अपने घर आये थे। रामदीन करारे से उतरता हुआ कहने लगा—मलिया, मैं भी आया।

मलिया हँस कर बोली—मैं तो जाती हूँ।

जाओगी क्यों ? वाह !—कहते हुए रामदीन धम से गंगा में कूद पड़ा।

थोड़ी दूर पर एक बुड्ढा मल्लाह बंसी डाले बैठा था। उसने क्रोध से कहा—देखो रामदीन, तुम छावनी के नौकर हो इससे मैं डर न जाऊँगा। मछली न फँसी, तो तुम्हारी बुरी गत कर दूँगा।

तैरते हुए रामदीन ने कहा—अरे क्यों बिगड़ रहे हो दादा ! आज कितने दिनों पर छुट्टी मिली है। ऊधम मचाने अब कहाँ आता हूँ।

तैरते हुए तीर की ओर लौट कर उसने मलिया के पास पहुँचने का ज्योंही उपक्रम किया, वह गंगा से निकलने लगी। रामदीन ने कहा—अरे क्या मैं काट लूँगा ? मलिया, ठहर !

वह रुक गई।

रामदीन ने धीरे से पास आकर पूछा—क्यों रे, तेरी सगाई पक्की हो गई ?

उसने कहा—धत् !

रामदीन ने कहा—तो आज मैं तेरे चाचा से कहूँगा कि…

मलिया ने बीच ही में बात काट कर कहा—देखो, मुझे गाली दोगे तो….हाँ, कहे देती हूँ !…' ऐसे स्निग्ध चित्र भी हिन्दी में कितने हैं। गंगा-जमुना तो हिन्दी प्रदेश के बीच से बराबर बहती रही हैं, परन्तु हमारे कितने उपन्यासों में वह इतनी सजीवता प्राप्त कर सकी हैं ! हिन्दी का साहित्यकार अपने चारों ओर की प्राकृतिक सुषमा और आस-पास के जनजीवन से कितना काम लेता है, यह 'तितली' के पढ़ने से स्पष्ट हो जायगा। अभी हमने जनजीवन और प्रकृति से सीधा सम्बन्ध स्थापित ही कहाँ किया है ?

गाँव के चित्र प्रेमचंद के साहित्य में भी मिलते हैं,

रोमांटिक आकर्षण नहीं है। वे यथातथ्य हैं। प्रसाद के गाँवों के चित्र नागरिक कवि की सारी भावना, सारी अनुभूति, सारी समवेदना को हमारे सामने लाते हैं। उनका कलात्मक संयम, उनकी भाषा-शैली की सजीवता, उनका कटाव-छँटाव—ये सब बातें प्रेमचंद में कहाँ हैं? प्रेमचंद सामयिक आन्दोलनों और जनजीवन के कलाकार हैं! प्रसाद की तरह वह प्रकृति के कवि नहीं हैं। इसी से उनके साहित्य में गाँवों की सुषमा के साथ पूरा-पूरा न्याय नहीं हो सका है। 'तितली' के कुछ चित्र देखिये—'अन्नों को पका देनेवाला पश्चिम पवन सराँटे से चल रहा था। जौ, गेहूँ के कुछ-कुछ पीले बाल उसकी झोंक में लोट-पोट हो रहे थे। वह फागुन की हवा मन में नई उमंग बढ़ानेवाली थी, सुख-स्पर्श थी। कुतूहल से भरी ग्राम बधुएँ, एक दूसरी की आलोचना में हँसी करती हुई, अपने रंग-बिरंगे वस्त्रों में ठीक-ठीक शस्य श्यामल खेतों की तरह तरंगायित और चंचल हो रही थीं। वह जंगली पवन वस्त्रों से उछलता था। युवतियाँ उसे समेटती हुई, अनेक प्रकार से अपने अंगों को मरोर लेती थीं। गाँव की सीमा में निर्जनता थी। उन्हें मनमानी बातचीत करने के लिए स्वतंत्रता थी। पीली-पीली धूप, तीसी और सरसों के फूलों पर पड़ रही थी। वसंत की व्यापक कला से प्रकृति सजीव हो उठी थी। सिंचाई से मिट्टी की सोंधी महँक, वनस्पतियों की हरियाली की और फूलों की गंध उस वातावरण में उत्तेजना-भरी मादकता ढाल रही थी।' 'निर्धन किसानों में किसी ने अपनी पुरानी चादर को पीले रंग से रँग लिया, तो किसी की पगड़ी ही बचे हुए फीके रँग से रँगी है। आज वसंतपंचमी है न! सब के पास कोई-न-कोई पीला कपड़ा है। दरिद्रता में पर्व और उत्सव तो मनाये ही जायेंगे। महँगू महतो के अलाव के पास भी ग्रामीणों का एक ऐसा ही झुंड बैठा हुआ है। जौ की कच्ची बालों को भून कर गुड़ मिला कर लोग 'नवान' कर

रहे हैं, चिलम ठंडी नहीं होने पाती। एक लड़का, जिसका कंठ सुरीला था, बसंत गा रहा था—

मदमाती कोयलिया डार-डार

दुखी हो या दरिद्र, प्रकृति ने अपनी प्रेरणा से सब के मन में उत्साह भर दिया था। उत्सव मनाने के लिए, भीतर की उदासी ने ही मानों एक नया रूप धारण कर लिया था। पश्चिमी पवन पके हुए खेतों पर से सर्राटा भरता और उन्हें रौंदता हुआ चल रहा था। बूढ़े महँगू के मन में भी गुदगुदी लगी। उसने कहा—दुलरवा, ढोल ले आ, दूसरी जगह तो सुनता हूँ कि तू बजाता है; अपने घर आज त्योहार के दिन बजाने से लजाता है क्या रे?

दुलारे धीरे से उठ कर घर में गया। ढोल और मँजीरा आया। गाना जमने लगा। सब लोग अपने को भूल कर उस सरल विनोद में निमग्न हो रहे थे।' 'पूस की चाँदनी गाँव के निर्जन प्रांत में हल्के कुहासे के रूप में साकार हो रही थी। शीतल पवन जब घनी अमराइयों में हरहराहट उत्पन्न करता, तब स्पर्श न होने पर भी गाढ़े के कुरते पहनने वाले किसान अलावों की ओर खिसकने लगते। शैली खड़ी होकर एक ऐसे ही अलाव का दृश्य देख रही थी, जिसके चारों ओर छः सात किसान बैठे हुए तमाखू पी रहे थे। गाढ़े की दोहर और कम्बल उनमें से दो ही के पास थे। और सब कुरते और इकहरी चद्दरों में 'हू-हा' कर रहे थे।'

ऐसे चित्रों के कारण ही हम तितली को ग्रामगीत (Pastoral Idyll) कह सकते हैं।

सच तो यह है कि भाषा-शैली की दृष्टि से प्रसाद का कथा-साहित्य बहुत प्रौढ़ है। यह अवश्य है कि उसमें बराबर एक सी भाषा-शैली की श्रेष्ठता नहीं मिलेगी। प्रारंभिक कहानी-संग्रहों (छाया १९१२, प्रतिध्वनि १९२६) में भाषा-शैली का प्रयोगात्मक बाल-रूप ही मिलता है। 'प्रतिध्वनि' (१९२६) में गद्यकाव्य

शैली को अपनाने की चेष्टा स्पष्ट है। परन्तु इनके बाद की रचनायें प्रसाद की अत्यंत प्रौढ़ रचनाएँ हैं। कालक्रम के अनुसार आकाशदीप (१९२९), कंकाल (१९२९), आँधी (१९३१), तितली (१९३४), इंद्रजाल (१९३६) और अपूर्ण इरावती (१९३६—) हमारे सामने विभिन्न समयों पर उपस्थित होते हैं। इन रचनाओं में हमें कहीं भी भाषा-शैली की अपरिपक्वता नहीं मिलती। नाटकों और काव्य की मँजी हुई शब्दावली और शैली का प्रयोग प्रसाद निःशंक भाव से अपने कथा-साहित्य में करते जाते हैं और इस तरह उनका कथा-साहित्य काव्यात्मक और नाटकीय तत्वों से अलंकृत हो जाता है। इन प्रौढ़ रचनाओं में भी हमें प्रसाद की अनेक शैलियाँ मिलती हैं :

१—प्रकृति-वर्णन की शैली।

(क) ऐश्वर्यपूर्ण, मादक प्रकृति के चित्र जो उनकी ऐतिहासिक कहानियों और 'इरावती' में मिलते हैं।

(ख) गाँव के सहज भावोन्मेष से स्पंदित चित्र जो मुख्यतः 'तितली' में मिलते हैं।

२—दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक तथ्यनिरूपण की शैली। सूक्तियों और मनःविश्लेषण में इस शैली का प्रयोग मिलता है।

३—भाव-चित्रों की शैली। सैकड़ों भावचित्र प्रसाद के कथा-साहित्य में मिलते हैं। प्रेम, हास-विलास, चुहल, रोग शोक, जन्म-मरण से स्पंदित उनका कथा-साहित्य अनेक ऐसे भावचित्रों का संघटन है जिसमें जीवन की सामान्य-असामान्य परिस्थितियाँ आश्चर्यजनक सुन्दर ढंग से एकसूत्र में गुँथ गई हैं।

४—कथोपकथन की शैली। प्रसाद उपयोगिता को साहित्य की तुला मान कर नहीं चलते। वह संपूर्ण जीवन के कलाकार हैं। अतः उनमें कथोपकथन का व्यावहारिक नपा-तुला रूप हमें नहीं मिलता। उनके कथोपकथन जीवन की निर्बंध भावुकता से प्राणवान बन गये

हैं। जीवन की अनेक भाव-भंगिमाओं से भरे ये कथोपकथन सचमुच बड़े सुन्दर बन पड़े हैं। एक उदाहरण। "मधुवन बनजरिया के बाहर निकला। सामने ही रामजस दिखलाई पड़ा। उसने कहा—'मधुवन भइया, कुश्ती देखने न चलोगे?'

अकेले तो जाने की इच्छा नहीं थी, पर जब तुम भी आ गये तो उधर ही चलूँगा।

भइया, लँगोट ले लूँ!

अरे क्या मैं कुश्ती लड़ूंगा? दुत्!

कौन जाने, कोई ललकार ही बैठे!

इस समय मेरा मन कुश्ती लड़ने लायक नहीं।

वाह भइया, यह भी एक ही रही। मन लड़ता है कि हाथ-पैर। मैं देख आया हूँ उस पहलवान को। हाथ मिलाते ही न पटका आपने, तो जो कहिए मैं हारता हूँ।

मधुवन अब कुश्ती नहीं लड़ सकता! अब उसे अपनी रोटी-दाल से लड़ना है।

तो भी लँगोट लेते चलने में कोई·······

अरे तो क्या मैं लँगोट घर छोड़ आया हूँ! चल भी।—हँसते हुए मधुवन ने रामजस को एक धक्का दिया, जिसमें यौवन के बल का उत्साह था। रामजस गिरते-गिरते बचा।

दोनों छावनी की ओर चले।"

बात कुछ भी नहीं है, परन्तु कितनी सजावट के साथ रखी गई है। यह सजावट कलाकार की सूझ है। साधारण उपयोगितावादी उपन्यासकार ऐसे निर्द्वन्द निरुपयोगी चित्र देना पसंद नहीं करेंगे। परन्तु जीवन की ये छोटी-छोटी भंगिमाएँ, ये छोटे-छोटे भावचित्र, ये ज़रा-ज़रा से काव्य और कल्पना से सजे टुकड़े प्रसाद की भाषा-शैली के जीते-जागते अंश हैं। इन्हें छोड़ कर आगे बढ़ा ही नहीं जा सकता। इनकी सज्जा, इनकी भंगिमा, इनकी प्रसन्न मुद्रा चाय

भर के लिए मन को अटका लेती है और जब कथा समाप्त हो जाती है तब भी ये छोटे-छोटे भाषा-शैली के हीरे मन में प्रकाश भरते रहते हैं। भाषा-शैली की इस प्रौढ़ता और इस सजीवता के बल पर ही प्रसाद का कथा-साहित्य प्रेमचन्द के कथा-साहित्य के समकक्ष खड़ा होने में समर्थ है—प्रेमचन्द ने जीवन के जितने अङ्गों को छुआ, जितने पूर्ण चरित्र दिये, जितने भावोच्छ्वास क़लम की नोक से निकाले, उनकी चर्चा करना व्यर्थ है। परिमाण में उनका साहित्य प्रसाद के साहित्य से कई गुना बड़ा है, परन्तु जहाँ आँखें प्राण देखती हैं,वहाँ परिमाण का क्या देखना ? प्रसाद की भाषा-शैली, उनकी कवि-कल्पना, उनका दर्शन-अध्यात्म, उनका अध्ययन उनके कथा-साहित्य को सचमुच प्राणवान बना देते हैं। प्रेमचन्द की शक्ति के स्रोत दूसरे हैं। दोनों कथाकारों का सम्यक् अध्ययन ही उनकी साहित्यिक परम्पराओं को आगे बढ़ा सकेगा।

६

उपसंहार

प्रसाद के कथा-साहित्य पर हम कुछ विस्तार में विचार कर चुके। तीन उपन्यासों और ६०-७० कहानियों को लेकर हमें प्रसाद की कथासंगठन प्रतिभा, चरित्र-निर्माण कला और भाषा-शैली पर विचार करना पड़ा। पृष्ठों की संख्या में यह साहित्य अधिक नहीं है। प्रेमचन्द के कथा-साहित्य से इसकी तुलना नहीं की जा सकती। और भी अनेक कथाकार हैं जिन्होंने काफ़ी लिखा है। परन्तु प्रसाद के साहित्य में परिमाण इतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना गुण। प्रसाद के व्यक्तित्व और उनके कलात्मक दृष्टिकोण को उनके साहित्य का आधार मान कर चलना है। तभी हम उनकी रचनाओं के साथ न्याय कर सकेंगे। फिर उनके उपन्यास और कहानी-साहित्य का हमें अन्य साहित्य-कोटियों से सम्बन्ध जोड़ना है। उनके साहित्य में उनके कवि, गद्य-शैलीकार और नाटककार रूप का पूर्णतः समावेश हो गया है। इसे समझना है।

जैसा हम पिछले पृष्ठों में बतला चुके हैं, आधुनिक ढंग के उपन्यास और कहानी का प्रवर्तन हुए अधिक समय नहीं हुआ। आलोचकों ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'पूर्णप्रकाश और चंद्रप्रभा' नामक उपन्यास को हिंदी का सर्वप्रथम सामाजिक उपन्यास माना है। कथानक वृद्धविवाह से सम्बन्ध रखता है। इस प्रसङ्ग पर प्राचीन और प्रगतिशील नई विचारावली का संघर्ष उपन्यास का बीज है। परन्तु भारतेन्दु केवल इस एक रचना के बल पर उपन्यास के क्षेत्र में नेतृत्व नहीं कर सके। प्रारंभिक उपन्यासकारों ने चलती-फिरती छोटी कहानियों या पौराणिक कथाओं के आधार पर ही उपन्यास

की रचना की। वे पश्चिम की उपन्यास-कला से परिचित नहीं थे। 'मनोहर उपन्यास' (सदानन्द मिश्र तथा शम्भुनाथ मिश्र, १८७१) नलचरितामृत (श्यामलाल, १८७६) और मालती-माधव की कथा (शालिग्राम मिश्र, १८८१) इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। पश्चिमी उपन्यास-कला को लाला श्रीनिवासदास ने 'परीक्षागुरु' (१८८४) में सामने रखा। 'नूतन ब्रह्मचारी' (बालकृष्ण भट्ट, १८८६) और 'श्यामा-स्वप्न' (जगमोहनसिंह, १८८८) में प्राचीन कादम्बरी-शैली को ही अपनाया गया, परन्तु वह शैली बहुत अधिक नहीं चली। वस्तुतः हिन्दी के स्वतंत्र उपन्यास-लेखन का जन्म बहुत बाद में हुआ। बंगला-साहित्य में इस समय तक कुछ बहुत श्रेष्ठ उपन्यास प्रकाशित हो चुके थे। हिंदी के लेखकों ने इन उपन्यासों का अनुवाद करने में ही लेखन-कला की इतिश्री समझ ली। उन्होंने उपन्यास-लेखन के पहले पाठ इन्हीं बंगाली उपन्यासों से सीखे। हिंदी के सर्वप्रथम बड़े उपन्यासकार किशोरीलाल गोस्वामी (१८६५-१९३२) के साहित्य पर बंगला-साहित्य का प्रभाव कम नहीं है उन्होंने आदर्शवादी रोमांटिक (स्वच्छन्दतावादी) और ऐतिहासिक उपन्यासों का प्रवर्तन किया। वस्तुतः इन तीनों धाराओं को हम एक साथ भी ले सकते हैं। इनकी मूल भित्ति एक ही है। यथार्थवादी उपन्यासधारा का प्रवर्तन भारतेन्दु के सामाजिक उपन्यास से ही होता है। प्रसाद के अनुसार यथार्थवाद के मूल में करुणा की भावना है और समाज-सुधार वाले उपन्यासों में यथार्थवाद अनिवार्यतः आ ही जाता है। हम इन दो प्रवृत्तियों को आदर्शवाद और यथार्थवाद कह सकते हैं। आदर्शवाद में और सब कुछ आ जाता है।

सेवासदन (प्रेमचंद, १९१८) तक हम मुख्यतः आदर्शवादी उपन्यास-धारा का ही प्रसार पाते हैं। इस २८-३० वर्षों के लम्बे काल में अनुवाद और मौलिक रचना द्वारा इस क्षेत्र में काफ़ी उन्नति हुई। किशोरीलाल गोस्वामी (१८६५—१९३२), गोपालराम

गहमरी, देवकीनन्दन खत्री, हरेकृष्ण जौहर और मन्नन द्विवेदी ने मौलिक उपन्यासों से साहित्य को बहुत कुछ भर दिया। परन्तु सुधारवाद और आदर्शवाद की प्रधानता के कारण समाज का यथार्थ चित्रण उपस्थित न हो सका। 'सेवासदन' में लेखक आदर्शवाद से प्रचालित तो था, परन्तु समाज को देखनेवाली उसकी दृष्टि और लिखनेवाली उसकी क़लम यथार्थ को पकड़ कर ही चलती थी। स्वयं प्रेमचंद ने अपनी कलादृष्टि को 'यथार्थोन्मुख आदर्शवाद' कहा है। उसे 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' भी कहा जा सकता है। जो हो, यह निश्चित है कि सेवासदन ने हिंदी के उपन्यासकारों को यथार्थजीवन के सम्बन्ध में सोचने को बाध्य किया। 'सेवासदन' (१९१८) के बाद इस क्षेत्र में उनकी दो अन्य प्रसिद्ध रचनायें निर्मला (१९२८) और ग़बन (१९३१) हैं।

एक दूसरी प्रकार के सामाजिक उपन्यास भी महायुद्ध के बाद सामने आये। १९१८ के कुछ बाद ही एक ऐसा कथाकार-वर्ग उठ खड़ा हुआ जो 'कला कला के लिए है' सिद्धांत को अपना आदर्श मान कर चलता था। यह 'कला कला के लिए' की चिल्लाहट पिछले युग की अतिनैतिकता के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी जिसमें ऑस्कर वाइल्ड, रेनाल्ड और ज़ोला जैसे पश्चिमीय कलाकारों को गुरु मान कर चलना होता था। इस कलावर्ग के प्रतिनिधि चतुरसेन शास्त्री, ऋषभचरण जैन, रामजीदास और उग्र थे। 'दिल्ली का दलाल' 'मास्टर साहब', 'चाकलेट' इत्यादि अनेक उपन्यास-कहानियों ने हिन्दी जगत में एक बवंडर खड़ा कर दिया। यहाँ तक कि १९३०-३२ में 'घासलेटी का आन्दोलन' इसी वर्ग के विरोध में पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने चलाया। इस वर्ग ने अपने लिए वेश्याओं, दलालों चाकलेटों और विकृत मनुष्यों को चुना। परन्तु भाषा और शैली के कलात्मक प्रयोगों की दृष्टि से, चाहे विषय की दृष्टि से न भी हो, इनका स्थान महत्वपूर्ण है। 'उग्र' के 'चंद हसीनों के खतूत'

(उपन्यास) और 'कला', 'बुढ़ापा' जैसी कहानियों में हमें जिस भाषा-शैली का पहली बार परिचय मिला वह शक्ति, सजीवता, चित्रात्मकता और प्रवाह में अद्वितीय थी। इस भाषा-शैली के आकर्षण के कारण यह वर्ग बहुत ही शीघ्र अत्यंत लोकप्रिय हो गया था। यदि इस उत्कृष्ट भाषा-शैली के साथ विषय भी उच्च रहा होता तो हिंदी इस वर्ग के साहित्य से धन्य हो गई होती। यह वर्ग नैतिकता को महत्व नहीं देता। वह ऐसी सामाजिक कुरीतियों पर दृष्टिपात करना धर्म समझता है जिनको उपन्यासकार संकोच के कारण अपना विषय नहीं बना सके थे। वह उपन्यास को जहाँ एक ओर कला मानता है वहाँ दूसरी ओर प्रचार का बलवान साधन भी। उसकी शैली और विषय दोनों यथार्थवादी हैं। परन्तु जीवन के अधिक गम्भीर पहलुओं को वह छोड़ देता है। उसका जीवनदर्शन मनुष्य के जीवन की गहराई तक नहीं पहुँचता। यह वर्ग 'कला कला के लिए' सिद्धांत का समर्थक और उपयोगितावादी है। इस वर्ग का हिंदी के पुराण-प्रिय आलोचकों ने अत्यंत विरोध किया और इसके विरुद्ध एक संगठित आंदोलन खड़ा किया जिसके कारण इस वर्ग को बड़ी लोकप्रियता मिली। धीरे-धीरे इस वर्ग ने समाज से संधि कर ली।

पहले सुधारवादी और सामंजस्यवादी और इस दूसरे प्राकृतवादी दल के अतिरिक्त जैनेन्द्र हैं। वह स्वयं एक शक्तिशाली दल हैं। 'परख', 'सुनीता' और 'कल्याणी' में उन्होंने सामाजिक प्रश्नों को उठाया है और उत्तर की ओर संकेत किया है। यह उत्तर, कुछ तो अस्पष्ट रहस्यजड़ित है, कुछ लेखक की गांधीवादी आध्यात्मिक विचारधारा का नया पश्चिमी शैली का समीकरण है। वस्तुतः समाज के मूल प्रश्नों को उठा कर उत्तर देने के बदले जैनेन्द्र रोमांस और कल्पना की दुनिया में खो गये हैं। वह व्यक्तिवादी

कलाकार हैं। अपने सिवा वह न किसी का प्रतिनिधित्व करने का दावा रखते हैं, न किसी का पक्ष ग्रहण करते हैं।

इन उपन्यासकारों में जयशङ्कर प्रसाद कहाँ हैं ? कहीं भी नहीं। जैनेन्द्र की भाँति वह व्यक्तिवादी कलाकार नहीं हैं, परन्तु उनका साहित्य विशिष्ट साहित्य है और उसकी अपनी स्वतंत्र कोटि है। 'कंकाल' में वह स्पष्टतः सुधारवादी और सामंजस्यवादी नहीं हैं। 'तितली' में वह बहुत कुछ प्रेमचंद के सुधारवाद और आदर्शवाद से प्रभावित दिखलाई पड़ते हैं, परन्तु उन्होंने प्रेमचन्द की अपेक्षा यथार्थवादी कला को कहीं अधिक निभाया है। राजो-सुखदेव चौबे का चित्रण और मधुवन का कलकत्ता-जीवन इस बात के प्रमाण हैं। उनकी कला सम्पूर्ण जीवन को समेट कर चलती है। उसमें कलाकार का सचेतन चुनाव महत्वपूर्ण रहता है, परन्तु वह केवल आदर्श-स्थितियों और निरर्थक घात-प्रतिघात का सूक्ष्म चित्रण नहीं करती। अवश्य ही इस उपन्यास में भी उनका दृष्टिकोण प्रेमचंद के दृष्टिकोण से थोड़ा भिन्न है। वह समस्याओं और समाधानों को लेकर उपस्थित नहीं होते, मानव-हृदय के भाव-संघात और प्रकृति के सूक्ष्म चित्र में ही उनकी कला सर्वोत्कृष्टता को पहुँचती है। 'कंकाल' में उनका सुधारवाद क्रांति की ध्वजा लेकर निकलता है। यहाँ वह ऋषभचरण जैन और जैनेन्द्र-कुमार के बीच की एक स्थिति को लेकर चलते हैं। वे ज़ोला की तरह प्राकृत जीवन को सारी नग्नता के साथ उभार कर सामने नहीं रखते, उन निरुद्देश्य, तर्क की अतिशयता से दूषित, ग्लानिपूर्ण, हीन मनोविज्ञान को ही अपनी कला का केन्द्र बनाते हैं। साहित्यिक और जीवन-द्रष्टा की सारी ईमानदारी के साथ वे समाज के गले-सड़े अङ्ग को काट डालना चाहते हैं। व्यंग उनका अस्त्र है। यही व्यंग उन्हें ऋषभचरण और जैनेन्द्र से अलग करता है। इसी व्यंग के कारण उनकी रचना सोद्देश्य और सप्राण बन जाती है। 'कंकाल'

के घटना-संघटन, कथोपकथन और विश्लेषण में यह व्यंग मार्मिक ढंग से सफल हो सका है। 'कंकाल' का एक भी पात्र अपने प्रति पूर्ण रूप से ईमानदार नहीं है। उसका रक्त-गौरव, उसकी सभ्यता और संस्कृति का गर्व, उसका सब कुछ गला-सड़ा है। आवश्यकता इस बात की है कि वह जीवन के इस कंकाल से चिपटा न रहे और मानव की स्वाभाविक नैसर्गिकता को जीवन-दर्शन के रूप में स्वीकार कर ले। मानव जब अपने मानवपन-मात्र पर खड़ा होगा, तब देवता उसके सौभाग्य पर ईर्ष्या करेंगे और सुख और शांति के देव-दूत उस पर स्वर्गीय फूलों की वर्षा करेंगे। तभी इस पृथ्वी पर मनुष्य का जीवन सार्थक होगा। हिन्दी का कोई भी उपन्यास देश-काल-समाज से ऊपर उठकर सार्वभौम सत्य की इस सुन्दर ढंग से प्रतिष्ठा नहीं करता। यह ठीक है कि 'कंकाल' के व्यंग को और भी मार्मिक, और भी कटु, और भी सशक्त बनाया जा सकता था, परन्तु प्रत्येक रचना के सम्बन्ध में इस प्रकार की अनेक संम्भावनाओं की कल्पना की जा सकती है। 'इरावती' के सम्बन्ध में इस प्रकार की संभावनाएँ सदैव उपस्थित की जाती रहेंगीं, यह रचना ही अपूर्ण है। प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक अनेक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रसाद के संस्मरण में लिखा था कि उन्होंने उन्हें बारबार ऐतिहासिक उपन्यास लिखने को कहा। उन्होंने बताया कि उनके ऐतिहासिक अध्ययन और उनके कल्पना-विलास के लिए उपन्यास का क्षेत्र नाटक की अपेक्षा कहीं अधिक उपयुक्त रहेगा। जान पड़ता है, 'इरावती' इसी प्रकार की आलोचनाओं और उलाहनों का फल है। इस अपूर्ण उपन्यास में हमें प्रसाद की नई भूमि का परिचय तो अवश्य मिलता है, परन्तु पूरा उपन्यास सामने न होने पर हम विशद रूप से उनकी ऐतिहासिक औपन्यासिक प्रतिभा की परख नहीं कर सकते। परन्तु यह स्पष्ट है कि उनकी ऐतिहासिक उपन्यास की धारणा वृंदावनलाल वर्मा और कन्हैयालाल

मुंशी की धारणा से भिन्न है। वृंदावनलाल वर्मा के उपन्यासों में इतिहास मानवीय घात-प्रतिघात की एक कहानी की पृष्ठ-भूमि मात्र बन जाता है। 'झाँसी की रानी' को छोड़ दें, तो यह स्पष्ट है कि उन्होंने इतिहास के ताने-बाने को कल्पना के तत्त्वों से ढक दिया है। कन्हैयालाल मुंशी के ऐतिहासिक उपन्यास मुख्यतः सांस्कृतिक उपन्यास हैं। उनमें इतिहास की उद्धरिणी-मात्र नहीं मिलेगी। कल्पना और अध्ययन के बल पर उपन्यासकार ने जीवन के उस युग का अत्यन्त सूक्ष्म और विस्तृत चित्र उपस्थित करने की चेष्टा की है। प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास मिलता है, चरित्र मिलते हैं, परन्तु उस युग को संस्कृति की सहस्रों भंगिमाएँ नहीं मिलतीं। नाटक इसका क्षेत्र भी नहीं था। 'इरावती' में उन्होंने अपने नाटकों की कला को उपन्यास का रूप देने की चेष्टा की है। मुंशी की तरह पूर्ण सांस्कृतिक चित्र वह देने नहीं जा रहे, यह स्पष्ट है। उनके उपन्यास में नाटकीय तत्त्व, कल्पना, चरित्र और युगधर्म के चित्र मिलते हैं, परन्तु इनसे भी ऊपर एक चीज़ है उस युग की संस्कृति—वह शायद इस उपन्यास में नहीं मिलती। परन्तु फिर भी यह स्पष्ट है कि शुङ्गयुग के वातावरण को उनकी कला पूर्ण रूप से मूर्त करने में सफल है।

कहानी के क्षेत्र में तो प्रसाद अग्रणी हैं ही। आधुनिक कहानी का जन्म १६०६ ई० के लगभग 'सरस्वती' के अंकों में होता है। प्रसाद की पहली कहानी 'ग्राम' १६११ में छपी। इस एक दशक में कहानी-कला में कोई अधिक विकास नहीं हुआ था। जो विकास हुआ भी, वह भी 'सरस्वती' के माध्यम से हुआ। हिंदी कहानी के विकास को समझने के लिए १६०६-१० तक की 'सरस्वती' की फ़ाइलें अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। कहानी के क्षेत्र में कुछ रचनायें १८६७ ई० से बराबर मिलती हैं। विक्रम, भोज और कालिदास, अकबर और बीरबल, सूफ़ी कहानियाँ, संस्कृत के हितोपदेश और मित्रलाभ की कहानियाँ, उर्दू के अनुकरण में देवों की कहानियाँ और रूपक

(दृष्टांत-कहानियाँ), देवरानी-जेठानी की कहानियाँ, नीति की कहानियाँ, कंजूसों के वृत्तांत, ठगों की लीला—इस प्रकार कहानी-सम्पत्ति १९वीं शताब्दी के समाज का मनोरंजन करती रही। यह स्पष्ट है कि यह कोई ऊँची चीज़ नहीं थी। परन्तु लोकजीवन इसी तरह की कथा-कहानियों में आनन्द लेता था। मराठी और बंगाली कहानियों के कुछ अनुवाद और अनुकरण भी मिलते हैं। नये ढंग की चीज़ों में ईश्वरीप्रसाद शर्मा की 'गल्पमाला' (१९१२) महत्वपूर्ण है। इसी वर्ष जयशंकर प्रसाद का पहला कहानी-संग्रह 'छाया' (१९१२) प्रकाशित हुआ। इस संग्रह की अधिकांश कहानियाँ प्रेम-कहानियाँ थीं। हिंदी प्रेम-गाथाओं और लोकजीवन में प्रचलित कहानियों में प्रेम, विलास और ऐश्वर्य एवं त्याग के जो महत् चित्र थे, जो किसी भी महाकाव्य के विषय बन सकते थे, उन्हें लेकर प्रसाद ने प्रारम्भिक रचनाओं की सृष्टि की। इस संग्रह की रचनाओं में प्रौढ़ तो कोई भी नहीं है। इसके बाद तो जासूसी कहानियों और बंगाली-मराठी से अनूदित कहानियों की बाढ़ ही आ गई। फल-स्वरूप मौलिकता का ह्रास हुआ। १९१७ ई० में प्रेमचन्द का 'सप्तसरोज' प्रकाशित हुआ और उसके बाद तो वे, सुदर्शन, गोविंदवल्लभ पन्त, विश्वंभरनाथ शर्मा हिंदी के भण्डार को बड़ी शीघ्रता से भरने लगे। इन समसामयिकों में प्रसाद की कला और उनके महत्व को समझना होगा।

प्रसाद की कहानी-कला मुख्यत: कवि, दार्शनिक और अध्ययनशील कलाकार की कहानी-कला है। वे प्रभाववादी कहानीकार हैं जिनका मुख्य ध्येय चरित्र-चित्रण नहीं, भावों की दुनिया है। हृदय के घात-प्रतिघात, भावनाओं के उत्थान-पतन और वातावरण-विशेष के साथ प्रसाद ने कुछ थोड़ा-सा चरित्र-वैशिष्ट्य अवश्य रखा है, परन्तु चरित्रों की विशिष्टता और चरित्रों के संघात की ओर उनका ध्यान अधिक नहीं गया है। इसी से उनकी कहानियों का विषय-क्षेत्र सीमित है। वे प्रेम और उसके सहयोगी अन्य भावों के चित्रकार हैं।

परन्तु प्रेम शब्द में पितृप्रेम, पुत्रवत्सलता, मित्रता, सतीत्व, बलिदान इत्यादि अनेक भाव आ जाते हैं। भावना-विशेष और वातावरण का निर्माण करने में हिंदी साहित्य में उनकी जोड़ का कलाकार नहीं मिलेगा। इसके लिए कवि-कल्पना, सूक्ष्म मनोविज्ञान का अध्ययन और भाषा-शैली की असाधारण प्रौढ़ता चाहिये। प्रसाद के पास ये तीनों हैं और इसी से अपने निर्वाचित क्षेत्र में पूर्णतयः सफल हैं। वे कई ऐसी प्रेम-कहानियाँ लिख सके हैं जो संसार की सर्वश्रेष्ठ प्रेम-कहानियों से टक्कर ले सकती हैं। प्राचीन भारत के कला-वैभव और ऐश्वर्य की पृष्ठभूमि में प्रेम और घृणा, आशा और निराशा, संग्रह और त्याग की ये कहानियाँ और भी अद्भुत बन जाती हैं। ये दो दरजन के लगभग कहानियाँ हिंदी कहानी की सर्वश्रेष्ठ निधि हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपन्यास और कहानी दोनों के क्षेत्र में प्रसाद ने बहुत कुछ नवीन और सुन्दर दिया है। इन दोनों क्षेत्रों में वे हमारे प्रधान कलाकार हैं। काव्य और साहित्यचिंतन के क्षेत्र में भी उन्होंने कम नहीं दिया। संक्षेप में, प्रसाद की प्रतिभा सार्वभौमिक है। फिर भी वह मुख्यत: कवि हैं और काव्य के बाहर उन्होंने जो कुछ दिया है, वह उनके काव्य-व्यक्तित्व ही की पुष्टि करता है। नाटक और उपन्यास में भी उनकी दृष्टि कविदृष्टि ही है और इसी से वे पात्रों की सूक्ष्म विशेषताओं और मानसिक घात-प्रतिघात के स्थान पर हमें भावनिरूपण और हृदय की उथल-पुथल के काव्यमय चित्र देते हैं। उनके साहित्य से हिंदी धनी है, उपन्यास-कहानी से भी उसी तरह जिस तरह काव्य से। उनका सारा साहित्य, सारा व्यक्तित्व, सारा दर्शन प्रकृति के सौन्दर्य, मानव-हृदय के भावनापक्ष और जीवन के आनन्द, प्रेम और उल्लास में डूबा हुआ है। बुद्धि से वे यथार्थवादी हैं, हृदय से आनन्दवादी और रहस्यवादी, कला की दृष्टि से स्वच्छंदतावादी। अपनी सीमाओं के भीतर उनका कथा-साहित्य उनके व्यक्तित्व के सभी पक्षों को पुष्ट करता है, इसमें ज़रा भी संदेह नहीं।

'प्रसाद' की कहानियों का वर्गीकरण

(क) ऐतिहासिक कहानियाँ—१८

चित्तौड़-उद्धार	[छाया]	ममता	[आकाशदीप]
शरणागत	,,	स्वर्ग के खंडहर में	,,
सिकन्दर की शपथ	,,	व्रतभंग	[आँधी]
अशोक	,,	पुरस्कार	,,
गुलाम	,,	दासी	,,
जहाँआरा	,,	सालवती	[इन्द्रजाल]
चक्रवर्ती का स्तम्भ	[प्रतिध्वनि]	गुंडा	,,
खंडहर की लिपि	,,	देवरथ	,,
आकाशदीप	[आकाशदीप]	नूरी	,,

(ख) यथार्थवादी कहानियाँ—१३

ग्राम	[छाया]	सलीम	[इन्द्रजाल]
सहयोग	[प्रतिध्वनि]	छोटा जादूगर	,,
गुदड़ी में लाल	,,	परिवर्तन	,,
रूप की छाया	[आकाशदीप]	संदेह	,,
घीसू	[आँधी]	भीख में	,,
बेड़ी	,,	चित्रवाले पत्थर	,,
इंद्रजाल	[इन्द्रजाल]		

(ग) भावात्मक कहानियाँ—९

कलावती की शिक्षा	[प्रतिध्वनि]	अघोरी का मोह	[प्रतिध्वनि]
प्रतिमा	,,	भिखारिन	[आकाशदीप]
दुखिया	,,	प्रतिध्वनि	,,
करुणा की विजय	,,	बनजारा	,,
पाप की पराजय	,,		

(घ) प्रेममूलक कहानियाँ—१०

तानसेन	[छाया]	देवदासी	"
चन्दा	"	चूड़ीवाली	[आकाशदीप]
रसिया बालम	"	अपराधी	"
मदनमृणालिनी	"	बिसाती	"
सुनहला साँप	[आकाशदीप]	ग्रामगीत	[आँधी]

(ङ) रहस्यवादी कहानियाँ—६

उस पार का योगी	[प्रतिध्वनि]	प्रणयचिह्न	[आकाशदीप]
प्रसाद	"	रमला	"
हिमालय का पथिक	[आ० दी०]		
समुद्रसंतरण	"		

(च) प्रतीकात्मक कहानियाँ—६

प्रलय	[प्रतिध्वनि]	वैरागी	[आकाशदीप]
पत्थर की पुकार	"	ज्योतिष्मती	"
गूदड़ साँई	"		
कला	[आकाशदीप]		

(छ) मनोवैज्ञानिक कहानियाँ—२

आँधी	[आँधी]	मधुआ	[आँधी]

(ज) आदर्शवादी कहानियाँ—५

व्रतभंग	[आँधी]	नीरा	[आँधी]
विजया	"	अनबोला	[इन्द्रजाल]
अमिट स्मृति	"		

(झ) समसामयिक कहानियाँ—१

विरामचिह्न [इन्द्रजाल]

(ञ) प्रागैतिहासिक कहानियाँ, १

चित्रमन्दिर [इन्द्रजाल]

परिशिष्ट २

'प्रसाद' की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ

१. प्रलय [प्रतिध्वनि, १९२६]
२. आकाशदीप [आकाशदीप, १९२९]
३. ममता
४. स्वर्ग के खंडहर में ,,
५. देवदासी ,,
६. पुरस्कार [आँधी, १९३१]
७. आँधी ,,
८. मधुआ ,,
९. ग्रामगीत ,,
१०. इन्द्रजाल [इन्द्रजाल,
११. सलीम ,,
१२. छोटा जादूगर ,,
१३. नूरी ,,
१४. परिवर्तन ,,
१५. भीख में ,,
१६. चित्रमन्दिर ,,
१७. गुन्डा ,,
१८. देवरथ ,,
१९. सालवती ,,

अनुक्रमणिका

[संख्याएं पृष्ठों को सूचित करती हैं ।]

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	११	नैमर्गिगक	नैसर्गिक
६	१८	घृप्टता	धृष्टता
२४	२६	सभी	सारी
२५	२६	विधारधारा	विचारधारा
५१	२५	रप	पर
६६	६	वास्तवविकता	वास्तविकता
१०७	१२	उच्छंखल	उच्छृंखल
१२३	२७	का पुरुष	का-पुरुष
१५५	११	त्त	तृण
१६६	२७	साँस में	श्रम से
२०७	१	बक्स	वक्त
२१५	११	जनश्रति	जनश्रुति
२३४	२५	तुपन्र	परन्तु
२६६	२५	शांहशाह	शहंशाह
२८१	२२	पुष्य	पुष्प
३१६	११	कर्तव्य	कर्तव्य
[illegible]	२२	वावैदग्ध्य	वाग्वैदग्ध्य
[illegible]२०	८	'हृदय'	'हृदयेश'